सूची

१. पराया सुख	यशपाल	१९
२. खुदा, ईसा की औलाद और जानवर	भैरवप्रसाद गुप्त	३९
३. एटम बम	अमृतलाल नागर	५५
४. उन्माद	भगवतीचरण वर्मा	६५
५. धरती अब भी घूम रही है	विष्णु प्रभाकर	८७
६. एक बालिग़ औरत का फ़ैसला	हंसराज रहबर	९९
७. करेले	प्रभाकर माचवे	१११
८. लाल धरती	देवेन्द्र सत्यार्थी	११७
९. गुर	मन्मथनाथ गुप्त	१३१
१०. एक सांवली लड़की	अमृत राय	१४३
११. चालीस साल बाद	बलवंत सिंह	१५५
१२. बादलों के घेरे	कृष्णा सोबती	१६७
१३. दूध और दवा	मार्कण्डेय	१९४
१४. लाट	अमरकांत	२०५
१५. नफरत की मौत	कुलभूषण	२१९
१६. फैसला	यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'	२५१

१७. बटवारा	गुरूदत्त	२६३
१८. ईडियट	रामानन्द दोषी	२८५
१९. शवयात्रा	राजकमल चौधरी	२९५
२०. भूले हुए कस्बे की याद	जगदीश चतुर्वेदी	३०८
२१. अंधेरा	हरवंश कश्यप	३२१
२२. खरगोश	नीलकांत	३२९
२३. कनफूल	सुशील कुमार	३४३
२४. वापसी	हरिप्रकाश	३६९
२५. चिम्मो	सुदर्शन चोपड़ा	३९५

उपलब्धि और सम्भावनायें !

कहानी, साहित्य की सबलतम विधा है। यह एक ऐसा साफ़ शफ़्फ़ाफ़ आईना है जिसमें व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों, क्रिया-विधियों, उसके सुख-दुःख के क्षणों की सजीव, हृदयग्राही तथा मार्मिक तसवीरें देखी जा सकती हैं। गत पचास वर्ष के हिन्दी कहानी-साहित्य पर एक दृष्टि डालिए तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसने जिन्दगी के अनेक रंग देखे हैं। और हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि गत द्वय दशक की हिन्दी कहानी अपने बाह्य उपकरणों अर्थात् भाषा-शैली, रूप-विधान, कला-सौष्ठव तथा टेकनीक की दृष्टि से भिन्न होते हुये भी उसका मूल स्वर और आन्तरिक प्रकृति मुंशीजी की कल्याणकारी परम्परा से मुक्त नहीं है। यह हिन्दी कहानी की उपलब्धि है कि उसने जीवन के अनेक घात-प्रतिघात सहते हुए भी महान उद्देश्य और जीवन्त परम्परा से अपने को कटने नहीं दिया। लेकिन हैरत है कि छठे दशक में सामने आये कतिपय कहानीकारों ने मार्कीट में अपने को स्थापित करने के लिए जो "नई कहानी" का एक नारा दिया तथा "पुरानी परिपाटी से मुक्ति" का आन्दोलन आज चला रखा है—वह अतीत की समस्त कथा-उपलब्धियों को नकार रहा है।

आखिर "नई कहानी" के नारे की बुनियाद क्या है ? यह एक ऐसा सवाल है जो साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी को गौर करने पर मजबूर करता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि "नई कहानी" का नारा जिन लेखकों ने दिया, वे अपने साथ "काफ़ी हाऊस की रेशमी सभ्यता" लेकर आये थे। आजादी के बाद देश

के जन-जीवन में जो ज़बरदस्त परिवर्तन हो रहे थे, वे उनका साथ देने में असमर्थ थे । इस असमर्थता का कारण था उनके कच्चे अनुभव, जीवन तथा समाज के प्रति निराशा से भरा दृष्टिकोण और अपने अन्तर की टूटन तथा बिखरन ! इसी टूटन तथा बिखरन, अनास्था तथा बेअमलीपन को लेकर उन्होंने जो कहानियाँ लिखीं—वे हिन्दी कहानी को मोड़ देने में असमर्थ रहीं । मुनासिब तो यही था कि ये लेखक अपनी असफलताओं का विवेचन संतुलित मन-मस्तिष्क से करते, मगर इन्होंने अपनी नाकामियों को छिपाने के लिए "नया-युग-बोध", "नई चेतना", "नया शिल्प", "नवीन कथ्य", आदि नारों के बीच "नई कहानी" का आन्दोलन शुरू कर दिया । हिन्दी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेखों, टिप्पणियों, सम्पादकीयों तथा कहानी-संग्रहों की भूमिकाओं द्वारा इस "झूठे-तथ्य" पर जोर दिया जाने लगा कि पाँचवें दशक तक आते-आते हिन्दी कहानी गत्यावरोध का शिकार होकर मरनेवाली थी कि इन्होंने मसीहा के रूप में ज़ाहिर होकर उसको बचा लिया । इसी प्रकार के दावों का सिलसिला अब तक बरकरार है ।

इसी संदर्भ में मोहन-राकेश ने सांकेतिकता की बात उठाई है । उनका दावा है कि सांकेतिकता ही 'नई' तथा 'पुरानी कहानी' में एक सीमा-रेखा खींचती है । 'नई' तथा 'पुरानी कहानी' के बारे में उन्होंने जो विभेदक रेखा बनाई है, उसकी चर्चा यहाँ करना गैर-जरूरी नहीं होगा । यदि कहानी सृजन की प्रक्रिया में 'संकेत' अथवा 'बिम्बों' पर विचार कर लिया जाये तो यह भी अनावश्यक नहीं होगा । मोहन राकेश का कथन है कि कहानी अपने समापन पर जो सम्पूर्ण प्रभाव पाठक के मन-मस्तिष्क पर छोड़ती है, उसी में से एक "संकेत" हमें मिलता है जो कहानी के अच्छा या बुरा, "नई" या "पुरानी" होने की कसौटी है । यह घोषणा तर्कसंगत नहीं कि 'संकेत' अथवा "बिम्ब-विधान" सर्वथा नई कहानी की देन है । अनेक देश-विदेशी कलाकारो की सफल कहानियों में इस कला-तत्व को साफ देखा जा सकता है । टालस्टाय, चेख़व, मोपांसा, पो, हेमिंग्वे, स्पेंडर, लूसूँ, रियाज़, परशूज़ी, मुंशी प्रेमचन्द तथा इनके परवर्ती कथाकार यशपाल, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र, अश्क, उग्र,

राजेन्द्रसिंह बेदी, कृष्णचन्द्र, हंसराज रहबर, भैरवप्रसाद गुप्त, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार आदि की कहानियों में इस प्रवृत्ति का निर्वाह और विकास हुआ है। मगर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कहानी में सांकेतिकता या बिम्ब-विधान एक साधन तो है, मगर उसकी अन्तिम उपलब्धि नहीं। "संकेत" और "बिम्ब" रचना में एक नया रंग-रूप तथा निखार पैदा करते हैं, मगर इसी एक गुण या विशेषता के आधार पर कोई कहानी "नई" या "पुरानी" घोषित नहीं की जा सकती। इसी कला-तत्व के परिप्रेक्ष्य में जब मोहन राकेश की कहानियों का विवेचन किया जाता है तो वे उनकी व्यक्तिगत घोषणाओं के विरोध में खड़ी हो जाती हैं, क्योंकि उनकी अधिकांश कहानियाँ "संकेतों" तथा "बिम्बों" का अतिक्रमण करके "ओब्स्क्योरटी" की अँधेरी गुफा में दाखिल हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में एक प्रबुद्ध पाठक के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि आखिर लेखक का मन्तव्य क्या है। "नए बादल", "आदमी और दीवार", "जीनियस" "लक्ष्यहीन", "मवाली", "एक पंखयुक्त ट्रेजेडी", "सौदा", "छोटी सी चीज़" आदि कहानियों में सांकेतिकता का अतिक्रमण है। इनकी उलझी विषय-वस्तु खण्डित-शिल्प, धुँधली चेतना, विशृंखल घटना-क्रम तथा वासनामय प्रतीक-चित्र कहानीकला के टुच्चेपन के अन्यतम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इसी गिरोह के अन्य कहानीकारों में राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा मन्नू भण्डारी, ऊषा प्रियम्वदा, रमेश बक्षी, शेखर जोशी आदि का नाम लिया जाता है। शक नहीं कि इन्होंने 'कुछ अच्छी कहानियाँ' लिखी हैं जिनमें व्यक्ति-मन के सजीव छाया चित्र, वातावरण की घुटन, सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध आक्रोश की भावना, प्यार और नफरत के बीच पिसती इकाई, राजनीति का दोगलापन, पारिवारिक जीवन में आ रहे ज़बरदस्त परिवर्तनों को उजागर किया है; मगर इसका मतलब यह हरगिज़ नहीं कि इन लेखकों की कहानियों ने हमारे मानसिक-क्षितिज पर किसी अमिट बिन्दु की छाप डाल दी है या हिन्दी कहानी में किसी नवीन युग का सूत्रपात किया है। सच्चाई तो यह है कि छठे दशक के शुरू में ये लेखक बड़े ही जोशीले चिंतन के साथ मैदान में आये थे और इनके प्रारम्भिक लेखन को देखकर विराट सम्भावनायें बनी थी, मगर

छठे दशक के खतम होते-होते ही ये चुक से गये।

इस ट्रेजेडी का कारण यह नहीं था कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में कोई ऐसे जबरदस्त परिवर्तन ही नहीं हुए जो इनके लेखन को ताज़गी न दे सके; बल्कि स्वयं इस गिरोह के लेखकों का जन-जीवन से कट जाना था। ये अपनी ही विफलता से बोझिल, कुँठाओं से ग्रस्त तथा सस्ती भावुकता का शिकार हो गये, और जीवन की गतिशीलता इनकी पकड़ में न आ सकी। इस नाकामी का एक मुख्य कारण यह भी था कि इनकी कोई विशेष सामाजिक विचारधारा या राजनैतिक कल्पना नहीं थी। नतीजा यह हुआ कि इनका लेखन दिन-ब-दिन रसहीन और फीका होता गया। शक नहीं कि ये आज भी बड़े ज़ोर-शोर से लिखते और छपते हैं, मगर इनकी रचनाओं में उन जीवन्त तत्वों को तलाश करना असम्भव है जो किसी भी साहित्य-धारा को मोड़ देने की क्षमता रखते हैं।

जिन लोगों की छठे दशक के कहानी-साहित्य पर गहरी नज़र रही है, वे यक़ीनन इस तथ्य से सहमत होंगे कि बावजूद ढेर सारे नामों के, कोई भी ऐसा प्रभावशाली व्यक्तित्व उभर कर हमारे सामने नहीं आया जिसके व्यक्तित्व तथा लेखन की मौलिक छाप इस दशक पर देखी जा सके। किसने कितना लिखा, यह सवाल विवादास्पद हो सकता है; मगर किसने क्या लिखा, यह हक़ीकत निथरे पानी की तरह स्पष्ट है। राजेन्द्र यादव 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' से 'किनारे से किनारे तक', कमलेश्वर 'राजा निरबंसिया' से 'खोई हुई दिशायें' तक, शेखर जोशी 'दाजू' से 'कथा-व्यथा' तक और निर्मल वर्मा 'परिन्दे' से 'पराये शहर में' तक, मोहन राकेश 'इन्सान के खण्डहर' से 'एक और ज़िन्दगी' तक एक लम्बी साहित्य-यात्रा तय कर चुके हैं; मगर आज भी इनकी कहानियाँ (कुछेक अच्छी कहानियों को छोड़कर) भावुकता में तिरोहित और शिल्प की कलाबाजियों का खेल-खिलौना नज़र आती हैं। उनमें मन की अनेक सूक्ष्म अनुभूतियों की व्यंजना तथा व्यापक जातीय तथा राष्ट्रीय जीवन का चित्रण नहीं हो पाया। इनकी अभिव्यक्ति की धार धीरे-धीरे कुण्ठित होती जा रही है और कथ्य की नवीनता मिटने लगी है। यही वजह है कि अब पाठक इनकी रचनाओं में एक घुटन का अनुभव करता है और पिष्ठपेषण को देखता है।

मुंशी जी के बाद की पीढ़ी के अनेक सशक्त कलाकार आज भी बराबर लिख रहे हैं। उनकी कहानियों में जहाँ युग की समस्याओं का युक्तियुक्त विवेचन मिलता है, वहाँ नये शिल्प के प्रति भी गहरी जागरूकता दिखाई देती है। यशपाल, भैरवप्रसाद गुप्त, अश्क, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, विष्णु प्रभाकर, बेदी, कृश्न, रहबर, प्रभाकर माचवे, अमृत राय, बलवन्तसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। अनेक नाम जो छठे दशक में हमारे सामने आये हैं, उनमें कुलभूषण, अमृतराय, मार्कण्डेय, रेणु, सत्येन्द्र शरत्, कृष्णा सोबती, मुद्राराक्षस, रणवीर रांगा, धर्मेन्द्र गुप्त, शिवप्रसाद सिंह, लक्ष्मीनारायण लाल आदि कथाकार अपनी कहानियों में मानव मन के सजीव शब्द-चित्र प्रस्तुत कर रहे हैं। इस श्रेणी के लेखकों का एक विशिष्ट जीवन-दर्शन और राजनैतिक कल्पना है जो उनकी रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है। इनके लेखन में ताज़गी, जोशीला चिंतन और अन्याय के प्रति गहरा रोष प्रस्फुटित हुआ है।

इधर, अभी हाल ही में, सर्वदा नये लेखकों की एक पीढ़ी हमारे सामने आई है। यह पीढ़ी सामाजिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक सजग और सचेत है। इनका लेखन कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। इस पीढ़ी के लेखकों की भविष्य में गहरी आस्था है और उनकी कहानियों में हमारा राष्ट्रीय तथा जातीय जीवन, मानव मन की सूक्ष्म अनुभूतियों तथा भावनाओं की व्यंजना, तृतीय विश्वयुद्ध से संत्रस्त मानव की भय-भावन, समाजवादी समाज के लिए चल रहे जन-संघर्ष के कलात्मक चित्र मिलते हैं। नई उभरती इस पीढ़ी के लेखकों को विरासत में छठे दशक की तथाकथित 'नई कहानी' की कुण्ठा, रुदन, अनास्था और आन्तरिक टूटन तथा बिखरन ही मिली थी, मगर इन्होंने उसको झटककर अपने लिए अंधकार में से प्रकाश को तलाश कर लिया है। इस नई फसल की अभी कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि तो हमारे सामने नहीं आई है, मगर वह विराट सम्भावनाओं को लिए नवलेखन का सृजन कर रही है। इस पीढ़ी के कुछेक लेखकों की कहानियाँ, जो पिछले कई वर्षों में हिन्दी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं, विशेष उल्लेखनीय हैं। जगदीश चतुर्वेदी की 'भूले हुए कस्बे की याद' और 'डलिया का फूल', हरिप्रकाश

की 'वापसी', सुदर्शन चोपड़ा की 'चिम्मो' और 'ओलिम्पस', सुशील कुमार की 'कनफून', 'लालसा' और 'इतिहास', नीलकान्त की 'खरगोश और राखदान', हरवंश कश्यप की 'अँधेरा' तथा 'मैं और मैं', राजकमल चौधरी की 'भयाक्रांत और 'शवयात्रा', प्रयाग शुक्ल की 'यादें' और 'रेस्तरां', अतुल भारद्वाज की 'उनका षड्यन्त्र' और 'लावा', परेश की 'समुद्रगन्धी संध्यायें', योगेश गुप्त की 'सीट' और 'सायों की नदी', स्वरूप ढोंडियाल की 'नाम काट दो' और 'आदमी आदमी', दूधनाथ सिंह की 'बिस्तर' और 'रक्तपात', हिमांशु जोशी की 'स्वभाव और 'माटी-घाटी', रमेश गोस्वामी की 'सम्बन्ध' और 'धीरज, आदि कहानियाँ वास्तव में नये युग-बोध तथा नये शिल्प की प्रतीक हैं। इन कहानियों में व्यापक जीवन-दृष्टि और कला का निखार मौजूद है ।

आज जबकि हिन्दी-कहानी के राजपथ पर नये-पुराने कथाकारों का एक लम्बा क़ाफ़िला चल रहा है, इस नई फ़सल के कहानीकारों के कन्धों पर एक ऐतिहासिक जिम्मेदारी आन पड़ी है, जहाँ उन्हें अपने पुराने जनवादी कथा-साहित्य के शिल्पगत प्रयोगों से लाभ उठाना है, वहाँ उन्हें हिन्दी-कहानी की धारा को एक निश्चित स्वस्थ दिशा की ओर उन्मुख भी करना है। सच तो यह है कि इनके लेखन को देखकर ऐसी आशायें बँधती हैं, टूटती नहीं ।

यह एक खुली हक़ीकत है, जिससे इन्कार की गुँजाइश नहीं कि उर्दू कहानी हिन्दी के समानान्तर आगे बढ़ी है। लिहाजा उसका यहाँ पर एक सरसरी जायज़ा लेना गैर-ज़रूरी नहीं होगा। हिन्दी कहानी की तरह उर्दू कहानी के जन्मदाता भी मुन्शी प्रेमचन्द रहे हैं। वह उर्दू के सबसे पहले और सबसे बड़े कथाकार हैं जिन्होंने उर्दू कहानी को शिल्प और वस्तु की दृष्टि से एक युगान्तर-कारी मोड़ दिया। उन्होंने उर्दू कहानीको 'दास्ताने-अमीर हम्जा','बोस्ताने-ख्याल' 'अलिफ़-लैला' 'फसानाए-आज़एब' वगैरह से बाहर निकाला। बकौल उर्दू के प्रख्यात समालोचक एजाज हुसैन के, "मुन्शी जी की कहानियाँ इंसान के चरित्र के खुले और चमकते हुए आइने हैं।" वस्तुत: मुन्शी जी ने अपने कथा साहित्य द्वारा जिस स्वस्थ जनवादी परम्परा की बुनियाद डाली, उसी का विकास उनके परवर्ती कहानीकारों में हुआ। इसमें शक नहीं कि सज्जाद हैदर यलदरूम, सुल-

तान हैदर जोश, अजीम बेग चुगताई, आजम क़रेवी, मजनूँ, सैयद फ़ैयाज मह-मूद, क़ाजी अब्दुल ग़फ़्फ़ार आदि अनेक लेखक मुंशी जी के समकालीन रहे, मगर उनके व्यक्तित्व की मौलिक छाप उर्दू कहानी पर नहीं पड़ सकी। इन लेखकों ने अच्छी कहानियाँ तो लिखीं मगर वैचारिक धरातल पर ये उर्दू कहानी को कोई नया मोड़ न दे सके।

सन् १९३१ में 'अंगारे' के प्रकाशन ने उर्दू कहानीकारों को झंझोड़ डाला। हालांकि इस संग्रह की कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से बड़ी ही भ्रष्ट और अधकचरी थीं, मगर वे तत्कालीन नैतिकता तथा सामाजिक मान्यताओं पर अंगारे बरसा रही थीं। सज्जाद ज़हीर की 'नींद नहीं आती', अहमद अली की 'महावटों की एक रात', रशीद जहाँ की 'दिल्ली की सैर' और महमूद-उल-ज़फर की 'जवांमर्दी' का भावबोध अपने से पूर्ववर्ती कहानीकारों से सर्वथा भिन्न था। अंगारे' के प्रकाशन का परिणाम यह हुआ कि पहली बार उर्दू कथाकारों ने अपने इर्द-गिर्द के माहौल का जायज़ा बड़ी संजीदगी से लिया और वस्तु-तथा शिल्प के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग होने लगे। पश्चिम के कहानी-साहित्य की शिल्पगत विशेषताओं को समझने का प्रयास हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक उथल-पुथल के परिप्रेक्ष्य में भारत की तत्कालीन स्थिति को देखा तथा परखा, और इस तरह उर्दू-कहानी परम्पराबद्ध होते हुए भी जीवन के नये तक़ाज़ों को चित्रित करती हुई दो विशिष्ट धाराओं में बँट गई। एक धारा से सम्बन्धित वे लेखक थे जो मार्क्सी जीवन-दर्शन से प्रभावित थे और दूसरा गिरोह उन कहानीकारों का था जो फ्रायड की विचारधारा के अनुयायी थे। बावजूद इसके कि उर्दू कहानी स्पष्टतया दो भिन्न मनःस्थितियों को लेकर चल रही थी, मगर साम्राज्य का विरोध, राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन, युद्ध की मुख़ालफ़त, शोषण और अन्याय के प्रति तीव्र रोष की भावना दोनों पक्षों में समान रूप से परिल-क्षित थीं। कृश्नचन्द्र, मण्टो, कासमी, मुहम्मद असकरी, राजेन्द्रसिंह बेदी, अब्बास, अश्क, हंसराज रहबर, गुलाम अब्बास, इस्मत, देवेन्द्र सत्यार्थी, अख्तर हुसैन रायपुरी, खदीजा मस्तूर, इंतजार हुसैन, शौकत सिद्दीकी, हयात उल्ला अँसारी, अजीज अहमद, कुर्रतुलएन हैदर आदि ने जो कहानियाँ लिखीं, वे

हमारे खयाल की ताईद करती हैं। कृश्नचन्द्र की 'अन्नदाता' 'जिन्दगी के मोड़ पर' 'दो फर्लांग लम्बी सड़क,' 'मैं इंतजार करूँगा,' मण्टो की 'नया क़ानून', 'टोना टेक सिंह', 'खोल दो,' बेदी की 'कोख जली' और 'ग्रहण', असकरी की' फिसलन' और 'हरामज़ादी', ख़्वाजा अहमद अब्बास की 'जाफ़रान के फूल', गुलाम अब्बास की 'आनन्दी', कुद्रत अल्ला शुहाब की 'तलाश' और 'सरदार' जसवंत सिंह', रहबर की 'तब और अब', शौकत सिद्की की 'अँधेरा और अँधेरा', अहमद अली की 'कैदख़ाना' और 'हमारी गली', इस्मत की 'चौथी का जोड़ा' और 'लिहाफ़', मुमताज़ मुफतीकी 'आपा', अख्तर हुसैन रायपुरी की 'मुझे जीने दो', शुहील अज़ीमाबादी की 'अलाओ', महेन्द्रनाथ की 'जहाँ मैं रहता हूँ, देवेन्द्र सत्यार्थी की 'लाल धरती', अश्क की 'डाची' 'काले साहब' तथा टेबिल लैंड', आगा बाबर की 'बार्जी विलायत', कुर्रतुलएन हैदर की 'जलावतन' इंतजार हुसैन की 'हमसफर' और 'अजुद्दया', अहमद नदीम कासमी की 'परमेश्वर सिंह', खदीजा मसतूर की 'मैन्नु ले चल्ले बावला ले चल्ले वे', जिलानी बानो की 'भँवर और चिराग़' और 'मोम की मरियम', ए हमीद की 'रावण के देश में', अजीज अहमद की 'मदन सोना और सदियाँ', मुमताज शीरीं की 'दीपक राग' और 'मेघ मल्हार', हयात अल्ला अनसारी की 'माँ-बेटा', आख़िरी कोशिश तथा और 'शुक्रगुजार आँखें', अशफाक अहमद की 'गड़रिया', शकील अख्तर की 'आँख-मिचौली', मधुसूदन की 'समन्दर और तीन कमरे', हाजरा मसरूर की 'भालू' आदि कहानियाँ विषय की विविधता, और शिल्प की प्रौढ़ता की दृष्टि से अन्यतम हैं। इन कहानियों का कैनवस बहुत विस्तृत है और इनमें व्यापक जीवन का चित्रण बड़ी ही कलात्मकता से किया गया हैं। इस काल का कथाकार साहसपूर्वक जीवन की ज्वलन्त समस्याओं से जूझा है और उसने अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेदारियों को बड़ी ही खूबी से निभाया है। लिहाजा इस काल को उर्दू कहानी का सुनहरी दौर कहना गलत नहीं होगा।

उर्दू कहानी का यह दौर छठे दशक के दूसरे चरण तक चलता है। सन्' ५५ तक आते-आते उर्दू कहानी मण्टो के ग़म को सहन करती है। साम्प्रदायिक दंगों को विषय वस्तु बनाकर लिखी जाने वाली कहानियाँ पुरानी पड़ने

लगती हैं और उर्दू कथाकारों पर एक ज़बरदस्त मायूसी का आलम तारी हो जाता है। लेकिन उर्दू कहानी गत्यावरोध का शिकार नहीं होती और न ही किसी 'नई साहित्यधारा' का खोखला नारा उसको बचाता है; बल्कि नये लिखने वालों की सतत् सृजनशीलता उस मायूसी के आलम में अपने लिए जो राह तलाश करती है—वह परम्पराबद्ध होते हुए भी विकास की नई मंजिलों को अनावृत करती है। कहानी के मैदान में नये स्वर फूटते हैं और जीवन-समस्याओं के प्रति नई एप्रोच को लेकर नये चेहरे हमारे सामने आते हैं।

नई पौध के इन कहानीकारों में बलराज मेनरा, नवीद अंजुम, जोगेन्द्र पाल, अनवर अज़ीम, वाजदा तब्बसुम, अमरसिंह, जावेद इखलाक़, अहमद सैयद, सैयद कासिम महमूद, अब्दुल्ला हुसैन, जमीरुदीन अहमद, इकबाल मतीन, श्रवणकुमार वर्मा, अनवर सज्जाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाओं में शिल्प के नये-नये प्रयोग भी हैं और विषयवस्तु की नवीनता भी। व्यक्ति और समाज के प्रति संतुलित दृष्टिकोण भी है और आधुनिक युग-बोध भी। मगर यहाँ यह जानना दिलचस्पी से ख़ाली नहीं होगा कि इन्होंने छठे दशक के कतिपय हिन्दी लेखकों की तरह उर्दू कहानी को 'नई' और 'पुरानी' के फ़रमाईशी ख़ानों में नहीं बाँटा। इन लेखकों को भी विरासत में वही परम्परा मिली जो कि हिन्दी के फ़रमाईशी 'नये' कहानीकारों को। हिन्दी और उर्दू की कहानी पाँचवें दशक तक समानान्तर रेखाओं पर चली है। दोनों भाषाओं की कहानियों का ख़मीर एक ही धरती से उठा है और एक सी ही सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से उसे जूझना पड़ा है। ऊपरी दृष्टि से हिन्दी और उर्दू कहानी में कुछ भिन्नता नज़र आ सकती है, मगर वह भाव-बोध और युग-बोध की नहीं, बल्कि भाषा और शिल्पगत विशेषताओं की भिन्नता है। ज़ाहिर है कि इसी एक विशेषता के आधार पर दोनों को विकास-परम्परा से अलग नहीं माना जा सकता।

उर्दू की नई पौध के इन कहानीकारों के लेखन को देखने से पता चलता है कि जातीय संवेदना, राष्ट्रीय चेतना, व्यक्तिमन के सजीव शब्द-चित्र, हिन्दू-पाक के सियासी बाजीगरों के ख़तरनाक खेल और एटमी जंग का ख़ौफ़ और उस

ख़ौफ़ से संत्रस्त विश्वमानवता की पुकार आदि अनेक विशेषतायें उसमें परिलक्षित होती हैं। बावजूद इसके कि दुनिया के बदलते रंगों ने आज के इन्सान को अन्दर से तोड़ डाला है, मगर फिर भी विश्वमानवता के प्रति इनका दृष्टिकोण अनास्था से प्लावित नहीं। यह इसलिए कि इन्होंने 'मार्डन सेंसबिलिटी' के नाम पर विचार और संवेदना को अलग-अलग खानों में नहीं बाँटा; बल्कि दोनों को अपनी रचनाओं में कलात्मक ढंग से समोने का प्रयास किया है। बलराज मेनरा की 'कोई रोशनी : कोई रोशनी' 'शहर की रात', 'रेप', 'बेज़ारी' और 'आत्माराम', अनवर सज्जाद की 'मिर्गी', अमरसिंह की 'आख़िरी तिनका', जोगेन्द्रपाल की 'झूठमूठ का सच' और 'रंगों का भरम', सैयद कासिम महमूद की 'और, और, और', अब्दुल हुसैन की 'जलावतन', नवीद अंजुम की 'दायरा', 'खुशरू के घाव' और सूरजमुखी', जमीरुद्दीन की 'पहली मौत', इक़बाल मतीन की 'ग्रेवयार्ड', श्रवणकुमार वर्मा की 'टेढ़ी-सी लकीर', अहमद सैयद की 'आसरे', जावेद इखलाख की 'दर्रे का कैदी', वाजदा तब्बसुम का 'शहरे-ममनूह', अनवर अज़ीम की 'लुढ़कती चट्टान' आदि कहानियाँ इन्सानी ज़िन्दगी के सुनहर खण्ड चित्र हैं। यों तो बहुत से पुरानी पीढ़ी के कथाकार आज भी बराबर लिख रहे हैं, मगर नये लेखकों में बलराज मेनरा की आवाज़ विशिष्ट है। उनके यहाँ विचारों की सूक्ष्मता और कला का निखार है। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा मानव-मन के दर्द और उदासी को एक नया रंग दिया है।

उर्दू कहानी के इस संक्षिप्त विवेचन के संदर्भ में अगर हिन्दी की "नई कहानी" सम्बन्धी अभियान को परखा जाय तो यह कहना युक्तियुक्त ही होगा कि इस आवाज़ के मूल में कुछेक कहानीकारों के विशुद्ध निजी स्वार्थ ही काम कर रहे हैं। वरना हक़ीकत तो यह है कि इस आवाज़ के लगाने वालों का लेखन हिन्दी कहानी को वैचारिक धरातल पर कोई नया मोड़ नहीं दे सका। यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि जिस प्रकार व्यक्ति विशेष का गहनतम अनुभव भी सिद्धांत नहीं बन सकता, उसी तरह एक विशेष प्रकार के लेखन को नये नाम की संज्ञा देने से साहित्य में किसी नवीन युग का सूत्रपात नहीं हो जाता। द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद का यह एक अटल और सर्वमान्य सिद्धांत है कि प्रत्येक राज-

नैतिक साहित्यिक तथा धार्मिक आन्दोलन किन्हीं विशिष्ट सामाजिक कारणों की देन होते हैं। अभी भारतीय समाज में कोई ऐसी अवस्था पैदा नहीं हुई कि जिस के आधार पर यह मान लिया जाय कि हिन्दी में "नई कहानी" जीवन के बदलते मूल्यों को चित्रित करने के लिए जन्म ले चुकी है और पुरानी परिपाटी से कहानी को मुक्त कराने का ऐतिहासिक कार्य कर रही है।

और अब—यह संकलन विज्ञ पाठकों, लेखक-बन्धुओं और कथा-रस मर्मज्ञ आलोचकों के हाथों में है। उन्हें कैसा लगा, मेरा यह जानना स्वाभाविक ही है। इस से पूर्व कि मैं आपसे इजाज़त चाहूँ, एक बात और कहना चाहता हूँ। अनेक नाम, कहानी क्षेत्र में, ऐसे भी हैं जिन्हें आप यहाँ नहीं देख रहे, लेकिन जो इस क्षेत्र में अपने आप को सबसे बड़े और चमकीले निशान मानते हैं। मेरे लिए ये संक्राति युग के निशान थे जो धुँधले होते हुए मिट रहे हैं। कहानी के सृजन और विकास में उनका नाम तो लिया जा सकता है, मगर उनकी रचनाओं के बिना कोई भी कहानी-संग्रहना मुकम्मिल और अधूरा है—यह दावा निराधार है।

और अन्त में—मैं योगेश गुप्त, जगदीश चतुर्वेदी, भूषण बनमाली और सूरज शेरवाणी का आभारी हूँ, जिनका सहयोग अन्त तक बना रहा। मैं उन तमाम लेखक-बन्धुओं और बुजुर्गों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने अपनी रचनायें इस संग्रह में शामिल करने की अनुमति प्रदान की। धन्यवाद।

शक्तिपाल केवल

एन० टी० कालेज
नई सड़क, दिल्ली-६

पराया सुख

यशपाल

यह अत्युक्ति नहीं ; बल्कि हकीकत है कि यशपाल ने मुँशी प्रेमचन्द जी के परवर्ती लेखकों में हिन्दी कथा-साहित्य को सबसे अधिक प्रभावित किया है। इक़बाल का यह शेर कि 'नरगिस' हजारों साल अपनी 'बेनूरी' पर रोती है तो चमन में 'दीदावर' पैदा होता है---उन पर पूरी तरह सादिक आता है। यह कहना ग़लत नहीं होगा कि वह मुंशी जी के बाद हिन्दी के सब से बड़े कथाकार हैं। उनकी लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उनकी पुस्तकों की सूची 'विप्लव कार्यालय' ने आज तक नहीं छापी मगर फिर भी ऐसी कोई पुस्तक नहीं जिसके अनेकों संस्करण न हुए हों। (मुझे यह बात मार्कण्डेय जी ने बतायी थी।)

मैं उनकी रचनाओं की यहाँ सूची प्रस्तुत करना बेमायनी समझता हूँ, क्यों कि हिन्दी का कौन प्रबुद्ध पाठक होगा (लेखकों की बात जाने दीजिये; क्योंकि कुछेक ने तो "झूठा-सच" का नाम सुना है और जल कर उसके खिलाफ लिख डाला है) जिसने उनका यह बृहद् उपन्यास नहीं पढ़ा है।

यशपाल जी आपसे घंटों बातें करेंगे। सिगार से लेकर चारमीनार तक का आखिरी सिगरेट खत्म हो जायेगा, मगर उनकी बातों का जादू खत्म नहीं होगा।

मैंने अक्सर उन्हें नये---बिल्कुल नये—लेखकों के बीच बैठे देखा है, लेकिन उन्होंने कभी अहसास तक नहीं होने दिया कि उनकी पुश्त पर आधी सदी खड़ी है। वह बेबाक कहकहे, जुमले, व्यंग्य—यशपाल जी रौनके-महफिल बने हुए हैं। लगता है कि वक्त की रफतार मद्धम हो गयी है। शायद यही एक विशेषता है जो उन्हें एक महान् जनवादी कथाकार के रूप में (मतलब यहाँ सृजन-प्रक्रिया से) साहित्य में प्रतिष्ठित किये हैं।

बाग़बानी उनकी हॉबी है। गुलमुहर, एवी, चमेली, अमलतास, अशवाक, गुलाब, क्वीन मेरी न जाने कितने फूलों को वह अपनी कोठी में सजा चुके हैं—सजाने की कल्पना किये हैं।

सूर्योदय हो गया है या नहीं, जान नहीं पड़ता था। आकाश घने बादलों से घिरा था। पानी के बोझ से भारी ठंडी हवा कुछ तेजी से बह रही थी। पठानकोट स्टेशन के मुसाफिर खाने में बैठे हुऐ पहाड़ जानेवाले यात्री, कपड़ों में लिपट-लिपट कर लारियों के चलने के समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। लारियों के ड्राइवर मुसाफ़िरों की तलाश में इधर-उधर दौड़ रहे थे। जितनी चिन्ता मुसाफ़िरों को आगे जाने की थी उससे कहीं अधिक चिन्ता थी इन ड्राइवरों को मुसाफ़िरों को उनके घर पहुँचा देने की।

स्टेशन के लम्बे सूने प्लेटफ़ार्म पर कभी कोई रेलवे कुली नजर आ जाता। मि० सेठी मोटा गरम सूट और ओवरकोट पहने एक तरफ़ प्लेटफ़ार्म के किनारे बंधी पत्थर की पटिया पर टहल रहे थे। उनके गरम कपड़ों को छेद शरीर को छू लेने की ताब पहाड़ी ठंडी हवा को न थी। वह केवल उनके चेहरे और सिर के बालों को ही सहला रही थी। वायु की यह शीतलता, जो सैकड़ों मुसाफ़िरों के प्राण खींचे ले रही थी, सेठी को स्फूर्ति दे रही थी। इस शान्ति में वे स्वयं अपने ही भीतर समा जाने का प्रयत्न कर रहे थे।

लारियों के ड्राइवर अपने शिकार मुसाफ़िरखाने में ढूँढ़ रहे थे। कारों के ड्राइवर, डरते-डरते स्टेशन के वेटिंग-रूम की जालियों से अपनी आसामियों को भाँप रहे थे। एक ड्राइवर ने अदब से सेठी को सलाम करके कहा "हुजूर बहुत कम्फ़र्टेबल गाड़ी है।"

सेठी ने उसकी बात का जवाब नहीं दिया। इस समय वह ठंडी वायु का आनन्द ले रहे थे। उत्तर देकर अपनी शान्ति भंग करने की ज़रूरत नहीं थी।

गाड़ी में जगह न मिलने का सवाल उनके सामने न था। गाड़ी में जगह ढूंढ़ने की जरूरत ही न थी। गाड़ियाँ उनके पीछे-पीछे फिरती हैं। ड्राइवर दूर खड़ा होकर साहब के हुकुम की प्रतीक्षा कर रहा था परन्तु सेठी का ध्यान उस ओर न गया।

सेठी ने देखा, जनाना वेटिंग रूम का दरवाजा खुला। एक युवती लम्बा, काला कोट और सफ़ेद साड़ी पहने निकली। उसकी उँगली पकड़े एक प्राय: डेढ़-दो बरस का बालक साथ था। युवती उस सूने प्लेटफ़ार्म के दूसरी ओर को चल दी।

इस शान्ति में अचानक एक विचार सेठी के मन में उठा। बच्चे को उँगली थमाकर पूर्व की ओर मुख किये चली जाती हुई वह युवती उसे सफल जीवन का रूप जान पड़ी। अपना जीवन उसे जान पड़ता था निष्प्रयोजन, निरुद्देश्य-सा; वायु में उड़ते हुए मेघ के एक अवारा टुकड़े की भाँति और युवती का जीवन उसे लगा एक सजल मेघ की भाँति, जो बरस कर फ़सल से भरे श्यामल खेत पर छा रहा हो। उस बालक की वह छोटी-छोटी गुदगुदी टांगें, उस की वह लटपटी चाल, उसका माँ की उँगली से लटके-लटके चलना, माँ की संतुष्ट, गंभीर और स्थिर गतिः—वाणिज्य से लदी हुई नौका की भाँति जो स्थिर जल में गम्भीर चाल से चली जाती है।

सेठी लालटेन के खम्भे के सहारे पीठ टिकाकर उस माँ-बच्चे, युवती-बालक की जोड़ी की ओर देखता रहा। स्टेशन की इमारत की दूरी तक जाकर युवती लौट पड़ी। लौटते समय उसने दायें हाथ की उँगली छुड़ा कर बालक को बाँये हाथ की उँगली थमा दी और वह सेठी की ओर आने लगी। लता से लटके फल की तरह वह बालक अपना जीवन युवती से ले रहा था। समीप प्रत्येक कुछ कदमों पर युवती का चेहरा और बालक की आकृति सेठी की दृष्टि में स्पष्ट हो रही थी। युवती का गोरा रंग, पतला छरहरा बदन, स्वास्थ्य की झलक, बड़ी-बड़ी आँखें; बालक की छोटी-सी नाक, गोल-गोल, आँखें, फूले हुये गाल चेहरे पर ख़ून की ताज़गी, यह सब सेठी को ऐनक के शीशे की राह दिखाई दे रहा था। ताज़ी वायु की शीतलता से शान्ति लाभ करने की बात सेठी भूल गया।

कार के ड्राइवर ने मेम साहब को सलाम कर संक्षेप में कुछ पूछा। उसके

बाद एक लारी ड्राइवर ने सलाम कर बात की।

सेठी कारोबारी आदमी है। वह समझ गया कि मेम साहब सस्ती और अच्छी सवारी की तलाश में हैं। लारी सात बजे से पहले सफर नहीं कर सकती परन्तु कार के लिये कोई बन्दिश नहीं है। लारी के मुसाफ़िर प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि उनके लिये सड़क बन्द है। कार के मुसाफ़िर प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें जल्दी नहीं। एक खयाल सेठी के मन में आया। लालटेन के खम्भे का आसरा छोड़कर सीधे खड़े हो उसने ड्राइवर की ओर देखा। ड्राइवर ने दौड़कर सामने हाज़िर होकर दूसरी बार सलाम किया। सेठी ने पूछा—"गाड़ी ठीक है।"

"हुज़ूर बिल्कुल न्यू.........आस्टिन सैलून।"

"अच्छा।"

"हुज़ूर और सवारी तो नहीं बैठेगी ?"

"नहीं एकदम जायगा.........। तुमको कुछ पैसा बनता है तो बैठा लो कोई एक सवारी।"

ड्राइवर ने और भी लम्बा सलाम किया। वेटिंग रूम से सेठी का सामान निकला, तीन बड़े सूट केस और एक बड़ा होल्डौल और छोटे-मोटे अटैची केस। ड्राइवर ने तुरन्त फिर मेम साहब को सलाम बोला और फोकट की एक सवारी का सौदा सस्ते में कर लिया।

सेठी यह सब देख रहा था। मेम साहब का संक्षिप्त सामान भी निकला, केवल एक सूटकेस और होल्डौल। बच्चे को लेकर वे भी सेठी के पीछे-पीछे कार की ओर चली। बजाय पीछे बैठने के सेठी ड्राइवर के साथ आगे बैठ गया। मेम साहब और उनका बालक पीछे बैठे।

कार ठण्डी हवा को चीरती हुई दौड़ चली। सेठी अपनी पीठ के पीछे एक मौजूदगी अनुभव कर सन्तोष पा रहा था। पूरी गाड़ी का किराया भरने के बावजूद उसे अगली तंग सीट पर बैठना नागवार न गुज़रा। सामने तेज़ी से दौड़ते हुए वृक्षों और सड़क किनारे के मकानों को देख कर मेम साहब का बालक अगली सीट को पकड़-कर कूद रहा था। उसके इस उत्पात से कभी सेठी की

टोपी हिल जाती, कभी वह उसकी बाँह में सिर मार देता।

बालक की इस धृष्टता के कारण उसकी माँ को संकोच हो रहा था। उसने कई दफ़े बालक को शांत रहने के लिये कहा, मीठी धमकी दी परन्तु उससे सेठी और माँ दोनों को ही हँसी आ गयी। बालक कूद कर अगली सीट पर पहुँच जाना चाहता था। सेठी ने पीछे घूम उसे उठाकर अपनी गोद में बैठा लिया। बालक के मांसल, पुष्ट कोमल देह के स्पर्श से उसके शरीर में एक अद्भुत स्फूर्ति अनुभव हुई। एक नवीन अनुभूति ने उसके मन को घेर लिया। उसको अब तक का बड़े यत्न और संघर्ष से सफल बनाया हुआ अपना जीवन सहसा असफल और निष्प्रयोजन-सा जान पड़ने लगा। वह बालक के मुख की ओर देख रहा था और अपने जीवन में उसे एक बहुत बड़ा अभाव अनुभव हो रहा था।

मोटर के सामने दौड़ते हुए दृश्य में सेठी को अपने जीवन की कहानी सिनेमा के दृश्य की तरह दिखाई देने लगी। पिता के देहान्त के कारण एफ० ए० में उसको पढ़ाई छोड़ने के लिये मजबूर हो जाना, जीविका का कोई उपाय न पाकर उसका भटकना, ठेकेदार के यहाँ बीस रुपये माहवार पर उसका चौबीस घन्टे हड्डी तोड़ परिश्रम, दूसरे ठेकेदारों का काम ठेके पर कराना और बड़ा ठेकेदार बन जाना, एक के बाद दूसरा ठेका। जिस रुपये की वजह से उसे दर-दर मारा फिरना पड़ा था, उसी रुपये का हज़ारों लाखों की तादाद में उस के हाथों से आना-जाना। रेल के पुल के ठेके में एकमुश्त ढाई लाख का मुनाफा......।

सेठी ने जीवन में एक चीज़, रुपये को पहचाना। उसकी प्राप्ति में उसने दिन को दिन और रात को रात न समझा। आज वह लखपती है। अपनी कमाई के बल पर बड़ी से बड़ी कम्पनियों में उसके हिस्से हैं। जेब में पड़ी इम्पीरियल बैंक की चार अँगुल चौड़ी चेक-बुक पर कुछ अंकुर लिखकर दस्तख़त कर देने से वह क्या नहीं कर सकता? लेकिन इस बीच रुपये के अतिरिक्त उसने क्या पाया?......रुपये से क्या नहीं पाया जा सकता?......उसके वे सम्बन्धी जिन्हें वह पहचानता नहीं, पहचानने की ज़रूरत भी नहीं

समझता, उसके नाम से अपना परिचय देते हैं। स्नेह से भरा हृदय लेकर उसकी ओर दौड़ते हैं। सम्मान की उसके लिये कमी नहीं। राजनैतिक और सामाजिक संस्थायें उसे अपना संरक्षक और सभापति बनाने के लिये व्याकुल हैं परन्तु इस सबसे उसे क्या मिलता है ?

प्रेम और प्रणय के कितने ही अभिनय उसे घेर कर हुए। उन लजीली और मुग्ध आँखों में उसे दिखाई दिया केवल उसके रुपये का लोभ। उसे फँसाने का यत्न। यह सब देखकर वह भीगी मक्खी क्यों कर निगल जाता ? उसे किसी ने आकर्षित नहीं किया। गुड़ की भेली पर मण्डराने वाली मक्खियों और ततइयों की तरह वह उन्हें हँका देता। उसका लक्ष्य था, रुपया !

रुपये की आज उसे कमी नहीं परन्तु फिर भी वह कमाता है। रुपये को बढ़ाना, बस यही उसके जीवन का उद्देश्य है। रुपया अब उसकी ओर यों बहता है जैसे बरसात में छोटे-मोटे नाली-नालों का पानी नदी में आ इकट्ठा होता है। उसके द्वारा तैयार की हुई व्यवस्था में सैकड़ों जगह हज़ारों आदमी परिश्रम करते हैं और रुपया पैदा करते हैं और वह रुपया व्यवस्था की नालियों से बहकर सेठी के हिसाब में जा पहुँचता है। उसका काम है, धन और रुपया बहाकर लाने के लिये नई नालियाँ तैयार करना।

अपने खर्च की उसे चिन्ता नहीं। उसे कोई शौक नहीं। अकेला आदमी खर्च किस चीज़ पर करे ? उसका ज़ाती खर्च कभी हज़ार बारह सौ माहवार से अधिक नहीं हुआ। सुख की ओर कभी उसका ध्यान ही नहीं गया। परन्तु आज अचानक ठण्डी हवा की फरफराहट से शान्त मस्तिष्क में इस एक नई अनुभूति, अभाव का अनुभव उसे हुआ।

वह बालक अपने जूतों को उसके बढ़िया कोट पर रख कर खड़ा हो, मोटर के बरफ़ के समान ठण्डे काँच पर हाथ रख कर, काँच पर अपना मुँह चिपका कर खुशी से किलकिला रहा था। उसके पैरों से रौंदे जाने में सेठी को सुख अनुभव हो रहा था। उसकी आँखें आर्द्र हो गयीं। उसके मुख का एक कोना भीतर को खिच गया। वह एकटक दृष्टि से उस बालक की व्यस्तता को देखता रहा। अपने कानों के पास पीठ पीछे उसे अनुभव हो रही थी एक

उपस्थिति, एक व्यग्र वात्सल्यमय उपस्थिति जो वृक्षों की छाया के समान व्यापक और वृक्ष को जन्म देने वाले फूल के समान आकर्षक थी। जो सन्तान के सिर पर रक्षा और धैर्य का हाथ रखती है और पुरुष के हृदय में इच्छा का तीर मार देती है। जिसकी मुस्कराहट सतरङ्ग धनुष बना देती है। जिसमें प्रणय का कटाक्ष, रक्षा का आश्वासन, आशीर्वाद की छाया, वासना की झिलमिल सभी एक साथ शामिल है। इस प्रकार का एक चुम्बक उसे ऊपर की ओर, और गोद में पकड़े हुए बालक का आकर्षण नीचे की ओर खींच रहा था। एक नये ही अनुभव की अवस्था में वह कुछ भूला सा, कुछ खोया सा मग्न था; एक विद्युत-सी उसके शरीर को विचलित किये हुये थी।

मोटर पहाड़ के ऊपर जा रही थी और ठण्डक बढ़ती जा रही थी। बादल घने होते जा रहे थे। हवा पानी के बोझ से भारी थी। मोटर के काँच पर पानी जम-जमकर बूँदें बह रही थीं। काँच पर धुन्द साफ़ करने वाला यन्त्र लगातार ड्राइवर के सामने के भाग को साफ़ कर रहा था और बालक उसे पकड़ लेने को उत्सुक था। सेठी उसकी भरी हुई गोल बाहों को रोके हुए था। उन्हें छोड़ देने को उसकी तबीयत न चाहती थी। बालक ने उलटकर सेठी की ओर देखा, सेठी की नकटाई के नग जड़े पिन ने उसका ध्यान आकर्षित किया। वह उसे खींचने का यत्न करने लगा। पिन उतार कर सेठी ने उसके कोट पर लगा दिया। मोटर में पहरने की उसकी शरबती रंग की अजीब-सी बड़ी ऐनक बालक के मुँह पर पहुँच गई, जिसमें उसका आधा चेहरा छिप गया। उस ऐनक के शीशों में सेठी को प्रतिबिम्ब दिखाई दिया, पिछली सीट पर बैठी माँ होठों पर उँगली रख बालक को शान्त रहने का संकेत कर रही है। सेठी ने पीछे घूमकर माँ की ओर देख सिफ़ारिश में कहा—"इट इज़ आल राइट, कोई बात नहीं।' उसके होठों पर एक करुण मुस्कराहट थी। उससे माँ का हृदय पिघल गया।

ड्राइवर ने मोटर की चाल धीमी कर दी और मुआफ़ी माँगने के स्वर में कहा—"हुज़ूर! ऊपर बड़े ज़ोर का पानी बरस रहा है, कोहरा बहुत ज़बरदस्त है।"

सेठी ने उत्तर दिया—"ओ, इट इज़ आल राइट।"

पहाड़ के ऊपरी भाग में बरसने वाला पानी बह-बहकर सड़क के किनारे झरने बना रहा था। उस पानी को चीरती, फ़व्वारे की तरह हवा में पानी उड़ाती मोटर घूम-घूम कर ऊपर ही ऊपर चढ़ती जाती थी। साइन्स के चिराग़ को रगड़कर वश में किया हुआ यह मोटर का दैत्य पहाड़ की सख्त चढ़ाई, बादलों के कोहरे और बौछारों की परवाह न कर ऊपर चढ़ता ही जा रहा था।

दो घण्टे तक लगातार चलकर वे "अधमार्ग" के डाक बँगले में आ पहुँचे। मोटर घूमकर अहाते में पहुँची और ड्योढ़ी में आकर खड़ी हो गयी। बँगले के अहाते के बाहर अनेक यात्री टीन और फूस की छतों के नीचे आधे भीगते हुए बैठे थे। पहाड़ों में बोझा ढोने वाले बैल और ख़च्चर जहाँ-तहाँ पानी में भीगते भयातुर दृष्टि से मनुष्यों की ढीली-ढाली और उत्साहहीन चाल-ढाल देख रहे थे। मनुष्य बादल और सरकारी हुकुम की प्रतीक्षा कर रहे थे और उनके पशु उनके निर्णय की। रात भर ज़ोर की बारिश के कारण ऊपर सड़क पर कई जगह पहाड़ गिरकर सड़क रुक गयी थी। मुसाफ़िरों को आगे जाने का हुकुम नहीं था।

ड्राइवर ने मोटर का दरवाजा खोला। सेठी उतरा और बालक सेठी की उँगली पकड़े हुए था। उसके पीछे मेम साहब उतरीं। डाक बँगले के चपरासी और खानसामे ने कार को देखकर सलामें दीं। वर्दी पहने खानसामा ने निहायत अदब से नाश्ते के लिये पूछा। सेठी ने कहा—हाँ।"

मेम साहब बच्चे के लिये पिटारी में दूध की बोतल लिये थीं। अपने लिये उन्हें खास ज़रूरत न थी। साठ रुपया महीना पानेवाली स्कूल मास्टरनी को डाक बँगले में नाश्ता करने की आदत नहीं होती। बरामदे की एक आराम कुर्सी पर बैठकर मेम साहब ने सेठी की ओर देखे बिना बल्लू (बालक) को आकर दूध पी लेने के लिये कहा।

सेठी ने मेम साहब की ओर देखे बिना कहा—"बल्लू गरम दूध पियेगा।"

नाश्ता मेज़ पर रखा जाने के बाद खानसामा ने मेम साहब को सूचना दी, मानो साहब, मेम साहब और बच्चा एक ही हैं।

मेम साहब को खानसामा का यह समझना कुछ अजीब तो लगा परन्तु अस्वा-

भाविक नहीं जान पड़ा। सेठी की ओर देखकर नम्र और तकल्लुफ़ के स्वर से उन्होंने अँग्रेज़ी में कहा—"मुझे तो आवश्यकता नहीं।"

शिष्टता से सेठी ने आग्रह किया—"इतनी सर्दी में एक प्याला गरम चाय अच्छा ही है।"

नाश्ते के लिये वे भीतर बैठे। उस अकेले कमरे में आना-जाना केवल खानसामा का ही था। दीवारों से परे ओझल बाहर जगत की दृष्टि में वह पति-पत्नी और बालक का एक छोटा सा परिवार था और उस संसार का प्रतिनिधि या साक्षी था केवल वह खानसामा। उसके सामने व्यर्थ संकोच कर अपने आप को भयभीत और अपराधी प्रमाणित करना मेम साहब को भी उचित न जँचा। उन्होंने बिलकुल निस्संकोच भाव से प्यालों में चाय उड़ेलना शुरू किया। सेठी ने आमलेट का एक छोटा-सा टुकड़ा बल्लू के मुँह में दिया। वह मुँह भरकर खाने लगा।

खानसामा मेमसाहब की पीठ पीछे आकर पूछता—"कुछ बिस्कुट, कुछ जाम, कुछ फ्रूट ?"

उत्तर देता—सेठी "लाओ !"

जिन चीज़ों के आसानी से बिक जाने की आशा न थी वे सब खुलकर प्लेटों में, अनखुले डिब्बों की शक्ल में मेज़पर आने लगीं। सेठी हँसता जाता था और बच्चे को एक-एक चीज चखाता जाता था। माँ बालक की खुशी को देखकर गद्गद् हो रही थी। वह सेठी को मना करती जाती थी—"बस कीजिये, ज्यादा नहीं, अब इसे भूख नहीं।"

बालक की सहायता से संकोच दूर कर सेठी ने पूछा—"आप डलहौजी में ही रहती हैं ?"

"जी हाँ, मेरा नाम मिसेज़ मदन है। मि० मदन मिलिटरी अकाउण्ट्स के दफ्तर में हैं। मैं स्कूल में पढ़ाती हूँ। बहिन से मिलने अमृतसर गयी थी।"

सेठी अपना क्या परिचय दे ? उसने केवल कहा—"अच्छी बात है।" अपने सम्बन्ध में कुछ कहने लायक बात ही उसकी समझ में न आयी। उसे अपना जीवन नितान्त आधार-रहित, रूप-रहित जान पड़ रहा था।

"आप यहाँ डलहौज़ी में गर्मियों के लिये जा रहे हैं ?"—मिसेज़ मदन ने पूछा।

"नहीं, ऐसे ही कारोबार के सिलसिले में कुछ दिन रहूँगा। डलहौज़ी जगह अच्छी है। बहुत अच्छी जगह है। बहुत ही सुन्दर दृश्य है—आप बाल-बच्चों को साथ नहीं लाये ?"—आंतरिकता के स्वर में मिसेज़ मदन ने प्रश्न किया।

"नहीं···हैं ही नहीं······शादी मैंने नहीं की। मेरा नाम आर० एल० सेठी है। ठेकेदारी भी करता हूँ। अमृतसर का नया गिरजाघर मैंने ही ठेके पर बनवाया है।" दीवार की ओर देखते हुए चाय के प्याले में चम्मच चलाते हुए उसने कहा—"मैं ऐसे ही रहता हूँ।"

एक करुणा और दुःख का बोझ सेठी के शब्दों से मिसेज़ मदन के मन पर आ बैठा। वह सोचने लगी—"कितना भला और कितना अमीर आदमी है !"

बल्लू सेठी की चमड़े की चेन में बँधी सोने की घड़ी को मेज़ पर घसीट रहा था।

मिसेज़ मदन ने उँगली उठाकर कहा—"ना !" और फिर सेठी की ओर देख हँसकर कहा—"यह बड़ा ही शैतान है······।"

सेठी बार-बार अपने बालों में उँगलियाँ चला रहा था। इसका कारण शायद उसके विचारों की उलझन थी। बहुत कुछ प्राप्त करके भी उसे अपना जीवन निराधार जान पड़ता था, ठीक एक लँगड़े की तरह। सामने बैठी हुई मिसेज़ मदन का कोहनी मेज पर रख कर अपने बालक की ओर देखना, उसका स्वच्छ खिला हुआ चिकना चेहरा, बड़ी-बड़ी रस भरी आँखें, सिर पर से साड़ी का पल्ला खिसक जाने से बालों से भरा सिर, उसके लाल ओंठ, कोट के कालर से बने तिकोन में गले के नीचे का भाग, ये सब उसे एक जीवन के प्रतीक जान पड़ रहे थे जो उसकी पहुँच के बाहर था।

मिसेज़ मदन की दृष्टि सेठी की आँखों की ओर गयी। उसने अनुभव किया कि सेठी की दृष्टि उसके शरीर को लपेटे ले रही है। एक सिहरन-सी शरीर में अनुभव हुई परन्तु वह दुखदायक न थी, उससे उल्टा एक अधिकार का भाव

मिसेज़ मदन के व्यवहार में दिखाई दिया। दोनों हाथ मेज़ पर रख कर बिलकुल सीधे, चमकती आँखों से सेठी की ओर देखकर उन्होंने कहा—

"कितने ज़ोर की बारिश है! हम लोग कैसे पहुँचेंगे?"

सेठी ने जेब से सोने का सिगरेट केस निकाला। सिगरेट मुँह में लेकर जला लिया और बेतक़ल्लुफ़ी से धुआँ छोड़ते हुए उसने कहा—"ये बारिश न भी रुके, आज हम न भी पहुँचें तो क्या हर्ज़?"

दोनों हाथों की उँगलियों को आपस में फँसाते हुए चिन्ता के स्वर में पर मुस्कराकर मिसेज़ मदन ने कहा—"जी मुझे तो कल स्कूल में हाज़िर होना है। आप भी तो कारोबार से जा रहे हैं, आपका भी तो हर्ज होगा।"

"हाँ जिस काम के लिये आया हूँ शायद वह न हो सके।"—बरामदे में खड़े खानसामा की तरफ देख उसने पुकारा—"देखो!"

खानसामा ने तुरन्त तश्तरी में बिल हाज़िर किया। बिल की तरफ न देख कर मिसेज़ मदन बोलीं—"ड्राइवर को पूछो कब तक चलना होगा!"

बिल को अपनी ओर खींचते हुए सेठी ने कहा—"जब मैं स्कूल में पढ़ता था सदा यही चाहता था कि स्कूल में छुट्टी रहे या किसी बहाने से स्कूल न जाना पड़े परन्तु देखता हूँ कि आपको स्कूल बहुत प्यारा है।"

मिसेज़ मदन ने उत्तर दिया—"आप शरारती लड़के रहे होंगे...आज भी आप शायद काम-काज से बचने के लिए चाहते होंगे कि बारिश होती रहे और आप यहाँ बहाने से मज़े में सिगरेट पीते रहें?" और हँस दीं।

—"हाँ, चाहता तो ज़रूर हूँ।"

—"आपका दिल अपने बिज़नेस में नहीं लगता?"

—"कभी सोचा ही नहीं! ऐसा मालूम होता है कि जीवन की गाड़ी को कीचड़ में खींचता रहा हूँ।"

ड्राइवर ने आकर ख़बर दी कि सड़क अभी तक नहीं खुली। सेठी ने पुलिस स्टेशन पर फ़ोन करके पता लिया कि छः घण्टे से पहले सड़क के खुलने की कोई आशा नहीं है।

इस ख़बर से मिसेज़ मदन को घबराते देखकर सेठी ने कहा—"आपके स्कूल

वाले समझ सकते हैं कि सड़क बना लेना आपके हाथ में नहीं है।"

मिसेज़ मदन का बिस्तर एक कमरे में खोल दिया गया और वे कमरे में चली गयीं। बालक कभी उस कमरे मे जाता कभी सेठी के पास आता। मिसेज़ मदन के उठकर चले जाने से सेठी को ऐसा जान पड़ा मानो उसके अधिक खाकर बीमार पड़ जाने के डरसे उसके आगेसे थाली छीन ली गयी हो पर उसकी भूख अभी शेष थी। वह आराम कुर्सी पर लेटकर आकाश में मँडराते बादलों की ओर देखता और कभी बरामदे में टहलने लगता, फिर बैठ जाता और फिर टहलने लगता। उसके हिसाबी दिमाग़ में उस दिन कल्पना ने घर कर लिया। उसकी आँखों के सामने उसके अपने जीवन का ही चित्र दिखाई दे रहा था, जिसमें वह रुपये के पीछे नहीं परन्तु किसी और ही वस्तु के पीछे दौड़ रहा था। उसे जान पड़ता था कि वो सामने के दुर्गम पहाड़पर चढ़ रहा है; आगे जाते एक नारी शरीर को पकड़ लेने के लिये। और जब वह हाथ फैला कर उसका पैर पकड़ लेना चाहता है, तो शरीर पहुँच से परे हो जाता है। वो शरीर था, एक झीने से बादल में लिपटी हुई मिसेज़ मदन का!

टहलते-टहलते वह फिर आराम कुर्सी पर बैठ गया। उसी समय भीगी घास और वृक्षों पर सूर्य की नई धुली किरणें फैल गईं। सूर्य के यों सहसा उघड़ आने से सेठी की आँखे चौंधिया गईं। उसे खयाल आया, वह कितना असमर्थ है। वह उठकर मिसेज़ मदन के कमरे में भी नहीं जा सकता। वह शायद सोयी हुई हैं, शायद जग रही हैं, यदि वे दोनों एक साथ बैठते?

जनाने जूते की आहट सुन सेठी ने घूमकर देखा, कोट की दोनों जेबों में हाथ डाले मिसेज़ मदन ने आकर कहा—"धूप निकल आई है और छः घण्टे भी हो गये अब तो हम चल सकते हैं?......क्या बजा होगा?"

घड़ी अब तक बल्लू के ही पास थी और उसका शीशा और सुइयाँ टूट चुकी थीं। समय जानने का उपाय था केवल ड्राइवर से पूछना।

छः घण्टे जरूर बीत गये थे पर सड़क अभी ठीक न हो पाई थी और मोटरों को उस पार से गुज़रने की इजाजत न मिल सकती थी।

खानसामा ने फिर आकर सलाम किया और पूछा—"लंच (दोपहर का

खाना के लिये कुछ इन्तज़ाम होगा ?"

"मेम साहब को पूछो।"—उत्तर देकर बालक की उँगली पकड़ सेठी धूप में निकल गया।

खानसामा अपने मन में क्या समझ रहा है, यह खयाल कर मिसेज़ मदन को मधुर संकोच हो रहा था। परन्तु उस संकोच को प्रकट करने से सुबह के व्यवहार और इस समय के संकोच से स्थिति और भी खराब हो जाती। मिसेज़ मदन ने कहा—"जो कुछ भी हो······देर न लगे।"

सेठी चाहता था मिसेज़ मदन के पास बैठना पर यदि मिसेज़ मदन को एतराज न हो। लंच खाने के लिये वे फिर साथ बैठे। बातचीत क्या हो ? सेठी ने बताया कि पहाड़ों में सड़क टूट जाने का झगड़ा अक्सर रहता है। पिछली दफ़े वह सुबह आया था और तीन घण्टे में काम खत्म कर संध्या को लौट भी गया था —"···आप डलहौज़ी में कहाँ रहती हैं ?"

मिसेज़ मदन ने अपना पता बता दिया और पूछा—"आप कितने दिन ठहरेंगे ?" सेठी आया था सिर्फ़ काम से। एक दिन, दो दिन तीन दिन ठहर सकता था। डलहौज़ी में चुड़ैलडण्डा पहाड़ी पर पल्टन के लिए नई इमारत बनायी जायगी, उसी के ठेके की बाबत वह डलहौज़ी जा रहा था। पहले वह डलहौजी गया था तो "हिलक्रेस्ट" होटल में ठहरा था, अब भी वहीं ठहर जायगा।

बात ही बात में मिसेज़ मदन ने अपनी कहानी सुनाई। पति सौ रुपये माहवार पाता है। स्वयम् उसे भी स्कूल से साठ मिलता है। नौकरी के लिए मजबूरी है। उनका एक बँगला है जिसे पति की बीमारी के समय ४५०० रुपये में रहन रख दिया था। उसका किराया सीज़न में २००—२५० रुपये आता है परन्तु उसका उन्हें कोई फ़ायदा नहीं, उल्टे ५०-६० की किश्त उन्हें महाजन को और देनी पड़ती है।

सेठी ने सोचा ४५०० क्या हैं परन्तु वह क्या कर सकता है ? खाना खाते समय बल्लू के खेल को दोनों संतुष्ट आँखों से देख रहे थे। सेठी उसे खिलाते जाना चाहता था और मिसेज़ मदन उसे अधिक न खिलाने के लिए समझा रही

थीं। उन्होंने बल्लू को सेठी की घड़ी तोड़ देने पर अफ़सोस भी प्रकट किया परन्तु सेठी ने सुनने से इन्कार कर दिया। खाना समाप्त हो ही गया। मिसेज़ मदन उठकर फिर भीतर जाना चाहती थीं, परन्तु सेठी ने साहस कर कहा—"क्या फिर सो जाइयेगा ?"

—"नहीं तो, पर किया क्या जाय ? क्या शाम तक हम लोग किसी हालत में नहीं पहुँच सकते ?"

—"कोई उम्मेद नहीं। घबराती आप क्यों हैं ? आप स्कूल कल न जायँगी तो एक दिन की तनख्वाह कट जायगी दो रुपये ! अगर मेरा काम न बना तो जानती हैं कितना नुकसान होगा......साठ या पैंसठ हज़ार ! सेठी हँस पड़ा और कहता गया—"आप अपना मकान महाजन से छुड़वा क्यों नहीं लेती ? फिर तो आपको नौकरी करने की जरूरत न रह जायेगी ?"

—"पर कैसे; अभी तक हम मुश्किल से एक हज़ार भर पाये हैं।"

—"उसमें क्या है, आप छुड़ा लीजिए, रुपया हो जायगा। मुझे सूद नहीं चाहिए रुपये की भी ऐसी चिन्ता नहीं !"

मिसेज़ मदन की आँखें चमक उठीं, चेहरे पर लाली दौड़ गयी। अपने आपको सम्भालने के लिए उन्होंने बल्लू को गोद में खींच लिया और उसके हाथ से घड़ी छीनकर कहा—"इसे आप रखिए नहीं तो इसे यह खो देगा।"

बल्लू के मुंह बनाने पर मिसेज़ मदन ने उँगली उठाकर कहा—"चुप चुप, मामा जी मारेंगे।" यह एक शब्द मुख से कहकर मिसेज़ मदन ने सेठी पर अपना अधिकार प्रकट कर दिया। अब उन्होंने अपने पिता के घर की बात सुनानी शुरू कर दी और बता दिया कि उसका नाम है उर्मिला।

साथ-साथ बैठे संध्या आ गयी और फिर रात। आकाश में चाँद था। समीप खड़े चीड़ के वृक्षों से छन-छनकर चाँद की चांदनी उनपर-पड़ रही थी। बल्लू भीतर सो गया था। उर्मिला सोच रही थी, यों एकान्त रात्रि में उन दोनों का एक साथ होना और चाँद का यों चमकना ! भय और आतुरता की चिनगारियाँ उसके मस्तिष्क और त्वचा पर चिटक जातीं।

बाहर ठण्ड थी और ठण्डी हवा। भीतर जाने के लिए कमरे थे परन्तु खान-

सामा ने अपनी बुद्धि के अनुसार दोनों का सामान एक ही समझ कर दोनों बिस्तर एक ही कमरे में लगा दिये थे। ऐसा न करने के लिए उसे कहा भी न गया था परन्तु भीतर एक ही कमरे में पलँगों पर सो जाने की बात सोच कर मिसेज़ मदन की आँखें बन्द हो जाती। वह सोचती; हट्ट, ऐसा कैसे हो सकता है ?

काफ़ी रात बीत गयी। सेठी ने कहा—"आपको सर्दी में कष्ट होगा, आप जाकर सोइये ?"

—"और आप ?"

—"मुझे नींद नहीं आ रही।"

मिसेज़ मदन जानती थीं कि सेठी बाहर ही रात बिता देगा और उसी के कारण······? ओफ़ कितना सज्जन आदमी है ?

अपने रिश्ते में एक खूब पढ़ी-लिखी लड़की की बात बताकर मिसेज़ मदन ने कहा—"आप शादी कर लें।"

सेठी ने उत्तर दिया—"जब आयु के अड़तालीस वर्ष ऐसे ही बीत गये तो शेष भी बीत ही जायेंगे। और शादी; वह तो एक क़िस्म से दाव लगाना है, सीधा पड़ सकता है पर उल्टा भी !"

सेठी ने फिर एक दफ़े उर्मिला को भीतर जाकर सो जाने के लिए कहा। उर्मिला ने उत्तर दिया—"उसे चाँदनी बहुत अच्छी मालूम हो रही है, सर्दी भी खास नहीं। कोई भी भीतर नहीं गया दोनों वहीं बैठे रहे। कभी सेठी कुछ कहता और उर्मिला सुनती, कभी उर्मिला कहती और सेठी सुनता।

नवमी का चाँद पहाड़ की ओट हो गया, समय जानने का कोई उपाय न था परन्तु आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। जाड़े से दोनों काँप रहे थे। उर्मिला के लिए यह सह्य न था कि उसकी वजह से सेठी जाड़े में इस तरह मरे। हो सकता है कि वह बीमार ही हो जाय ? खड़ी होकर उसने कहा—"आइये भीतर चलें, क्या घरों में सब लोग एक कमरे में नहीं सोते ?" वे दोनों भीतर जा रहे थे, उस समय सेठी ने उर्मिला की पीठ पर हाथ रख दिया। अपने-अपने बिस्तर में कम्बल में लिपट कर वे दोनों लेट गये।

× × ×

सड़क सुबह ही खुल गयी थी परन्तु चाय पी लेने के बाद ही चलने का निश्चय हुआ। सेठी ने पूछा—"रात खूब नींद आई ?" और हँस दिया।

उर्मिला ने मुस्कराकर कहा—"आपको तो ज़रूर आई होगी ?"

दोनों समझ गये कि नींद किसी को भी नहीं आई परन्तु उनींदी रात काट देने पर भी दोनों के शरीर में काफी स्फूर्ति थी।

सेठी ने कहा—"तबीयत नहीं होती इस बँगले को छोड़कर जाने की ?"

उर्मिला ने करुण दृष्टि से सेठी की तरफ देखा और आँखें झुका लीं। शब्द न थे। उसने पति पाया था परन्तु ऐसी उदारता, संयम और अनुराग न देखा था। उसका रोम-रोम पुकारना चाहता था—तुम बड़े हो, महान् हो ! परन्तु जिह्वा बन्द थी। स्त्री की हमेशा हार है। जब उस पर आक्रमण होता है तब भी और जब उसे पनाह दी जाती है तब भी।

चलने से पहले सेठी ने कहा—"अगर तुम्हें एतराज न हो तो मैं इस बंगले में तुम्हारा एक फोटो ले लेना चाहता हूँ।"

एतराज ? उर्मिला को एतराज क्या हो सकता था ? उसने केवल कृतज्ञता से सेठी की ओर देख भर लिया। उर्मिला गर्दन एक ओर झुकाकर खम्भे से टिककर खड़ी हो गई। सेठी ने कई फोटो खींचे।

× × ×

दो मास केवल साठ दिन के होते हैं परन्तु इस बीच कितना परिवर्तन हो गया। मदन मिलिटरी अकाउण्टेण्ट के दफ्तर से एक सौ रुपये की नौकरी छोड़ कर 'सेठी एण्ड कम्पनी' में एकाउण्टेण्ट हो गया। उसे तीन सौ रुपया माहवार मिलने लगा। उर्मिला साठ रुपये की मास्टरनी नहीं रही। वह अपने छोटे-से बँगले के सामने खूब बड़ी छतरी के नीचे गुलाबी धूप में बैठकर बल्लू को सड़क पर टहलाने ले जाती है।

सेठी का बार-बार डलहौज़ी आना जरूरी है; क्यों कि फौजी बैरकें बनाने का ठेका उसके पास है। उर्मिला के मन में दुविधा है कि सेठी उसकी रिश्ते की बहिन से शादी करने को तैयार क्यों नहीं होता ?

उर्मिला सब कुछ समझ कर भी स्वीकार करना नहीं चाहती। पिछली दफ़े सेठी ने स्पष्ट कह दिया था—"पेट भर कर कद्दू चबाने की अपेक्षा संतरे की सुगन्धि पा लेना ही अच्छा है।" स्वेटर बुनते-बुनते उसे ख्याल आया कि वह खुद ही संतरा है। एक-एक कर के सेठी के व्यवहार उसकी आँखों के सामने आने लगे। सेठी को उसका अपने बालों में उँगलियाँ चलाना बहुत अच्छा लगता है। बिना कुछ कहे वह उसे सामने बिठा रखना चाहता है। सेठी जो कपड़ा लाकर दे, वो उसे सेठी के सामने पहनना ही चाहिए। सेठी की किसी बात को अस्वीकार कर देना उसके लिए सम्भव नहीं। जब सेठी चाहे उसे बिना बाँह और बिना पीठ का ब्लाउज़ पहनना होगा। बेशक उर्मिला को भी वही कुछ पहनने, उसी तरह रहने से संतोष होता है जैसी सेठी की इच्छा होती है परन्तु उसका अपना अस्तित्त्व, अपना व्यक्तित्व कहाँ रह गया ?

और फिर पिछले बुध की रात को जब सेठी आधी रात तक बँगले में ही रहा, उसने क्या बात कही ?······उसने उसे हाथ नहीं लगाया, छुआ नहीं, दूर ही बैठा देखता रहा परन्तु फिर भी उसमें शेष रह ही क्या जाता है ? उसने कहा था—"मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ, मेरे प्रेम का कोई उद्देश्य नहीं, तुम मुझे हृदय की चाह जैसी जान पड़ती हो ! तुम्हें देखना चाहता हूँ···अपना समझना चाहता हूँ ?"

उर्मिला से यह न हो सका। वह रोने लगी थी। उस समय वह 'माफ करो' कहकर चुप-चाप चला गया।

आज सिलाइयों की बुनती में दृष्टि गड़ाये बिजली की तेज़ रोशनी में उस रात का सब दृश्य उसकी आँखों के सामने फिर गया। पर क्या रात उसने ठीक किया ?

जिस आदमी ने बिना अहसान जताये अपने जीवन भर के परिश्रम की कमाई इसे भेंट कर दी, अपने लिए कभी कुछ भी नहीं चाहा उसकी बात चाहे जो भी हो······उसे निराश करना······!

सेठी ने क़ह दिया था, वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति बल्लू को दे देगा परन्तु बल्लू का उस सम्पत्ति में कोई हिस्सेदार नहीं आ जाना चाहिये !······स्पष्ट

शब्दों में इसका अर्थ था उर्मिला की कोख पर ताला लगाकर सेठी ने उस पर अपना अधिकार कर लिया, वह उसे छुये या न छुये ! बल्लू भी उसी का है, मदन भी उसी का है और उर्मिला सब से पहिले उसकी ही है ।

सेठी कितना संयमी, कितना उदार, कितना विशाल हृदय है ?······सब कुछ उसने किस तरह दे दिया ?······उर्मिला ने तो कुछ भी सेठी को दिया नहीं······देने का मौका ही नहीं आया । सेठी ने सब चीजों पर स्वप्न में ही अधिकार कर लिया और कितनी सरलता से ? मानो सब चीजों की एक चाबी थी, जिसे उठाकर उसने अपनी जेब में रख लिया । उस जाल से बाहर होने का कोई रास्ता न उर्मिला के लिए, न बल्लू के लिए और न मदन के लिए ही है । मानो वे सब बिक गये हैं ।

···और यदि सेठी कल फिर आये और उदास मुख से अपनी उसी बात को दोहराये ? एक तरफ़ बैठकर कहे—"तुम्हें चाहता हूँ···" तो क्या वो अब भी 'न' कर सकेगी ? एक बार 'न' कर वह अपराधी की तरह पछताई ।

उर्मिला ने सोचा, उसमें बात ही क्या है ? फिर भी वो एक दफे इनकार कर देना चाहती थी । परन्तु इनकार का हक़ है उसे ? वह हक़ जो सबको होता है, उसे न था, उसकी अपनी आत्मा के सम्मुख ही न था ।··· वेश्याओं का जीवन और क्या होता है···उर्मिला की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे ।

फिर ख्याल आया दो ही महीने पहिले, जब केवल छोटे-छोटे दो कमरे थे, उर्मिला थक कर स्कूल से लौटती थी और बच्चे को गोद में लेकर मूर्ख नौकर के साथ सिर खपाती थी । अनेक ज़रूरतें पूरी न हो पाती थीं । परन्तु उस समय वह 'हाँ' या 'ना' कह सकती थी । स्वयं अपनी इच्छा से वह चाहे जो भी करती··· ···सिगरेट कम्पनी वाला वह हँसमुख बाबू कितना सज्जन था ? परन्तु उसने सदा उसे इनकार ही किया !

फिर ख्याल आया—हो सकता है, आज सेठी आवे । उसने आँसू भरी आँखें उठाकर फाटक की ओर देखा······उन में आतुरता नहीं कातरता थी···।

ख़ुदा, ईसा की औलाद और जानवर

भैरव प्रसाद गुप्त

गुप्त जी हिन्दी के दृष्टि सम्पन्न साहित्यकार हैं। पैनी दृष्टि, गहन अध्ययन तथा मार्कसी जीवन दर्शन ने इनके कथा-साहित्य को एक नया रूप-रंग और निखार बख्शा है। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने विश्वासों और सिद्धान्तों के लिये टूट तो सकते हैं, मगर नामुमकिन है कि झुक जायें। साहित्य-क्षेत्र का यह 'जाइंट' एक ऐसी रोशनी का मीनार है जिसने अपनी कलम से एक पूरी पीढ़ी को रोशनी दी है।

गुप्तजी का कहानी और उपन्यास पर समान अधिकार है। "इन्सान" "गंगा मैया", "ज़जीरें और नया इन्सान", "मशाल", "शोले", "सपने का अंत", "सितार के तार" "सती मैया का चौरा" आदि उनकी श्रेष्ठ गद्य-कृतियाँ हैं। "छलना" (अनुवाद) "हिज़ एकसलेंसी" (सह-अनुवाद) पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

ज़माने की बेवफाई का शिकवा आपको उनके होठों पर नहीं मिलेगा, यद्यपि अपनों ने खूब फरेब दिये हैं। एक अज़ीम हिन्दुस्तान का नक्शा उनके दिमाग में हर वक्त रहता है—एक ऐसे हिन्दुस्तान का नक्शा जिसके गले में शोषण और उत्पीड़न की जंजीरें नहीं हैं। वह घन्टों आपसे विश्वराजनीति पर चर्चा कर सकते हैं। गालबन हर उस नाकाम फिल्म को देखना उनकी हॉबी है, जिसे किसी तरक्की पसन्द नेबनाया हो।

जबसे बड़े भैया दारोगा हुए थे, माँकी हर चिन्ता दूर हो गई थी, जैसे उसे हर मुश्किल की कुँजी मिल गई हो। माँ की इज्जत पास-पड़ोस, टोले-मुहल्ले में बहुत बढ़ गई थी। इस जमाने में किस घर में मुश्किलें नहीं हैं, और जब एक कुँजी है, तो उसका इस्तेमाल क्यों न किया जाए ?

जब भी कोई बात आ पड़ती, माँ कहती, 'इसमें परेशान होने की क्या बात है ? बड़े भैया तो है, यों चुटकी बजाते कर देगा !' और वह अपनी चुटकी बजाकर बड़े भैया को इस तरह पुकारती, जैसे परियों की कहानी में देव का आह्वान किया जाता है।

छोटे भैया हार-थककर स्टेशन से लौटा और माँ से बोला, "अम्मा, सीट तो नहीं मिली।" और ऐसे बैठा, जैसे जंग हारकर आया हो।

"तो इसमें परेशान होने की क्या बात है ? बड़े भैया तो है, यों—"

"अम्मा," बीच ही में माँ की बात काटकर छोटे भैया बच्चों की तरह ठुनककर बोला, "तीन दिन से तो बड़े भैया से कह रहा हूँ, लेकिन उन्हे फुरसत ही नहीं मिली ! आखिर आज खुद गया। अम्मा, अब एक भी सीट खाली नहीं है। बड़े भैया क्या कर सकते हैं ? उनके भरोसे रहकर ही तो -"

"तू तो हर बात में यों ही हाथ-पाँव फुला लेता है !" माँ ने कहा, "अरे बड़े भैया क्या नहीं कर सकता ? तू अपना सामान ठीक कर। दस बजे तक मंत्रीजी को छोड़कर वह हवाई अड्डे से लौट आएगा। तेरी गाड़ी तो चार बजे है न ?"

"माँ, तुझे मालूम नहीं, अब कुछ नहीं हो सकता।" छोटे भैया वैसी ही परेशानी से बोला, "अब कस-कसाकर जाना पड़ेगा, जान निकल जायगी। रातका मामला है, चौदह घन्टे की यात्रा! मैं पहले ही कहता था, लेकिन तू मानी नहीं। बड़े भैया हैं···बड़े भैया हैं! बड़े भैया क्या अब सीट पैदा कर देंगे ?"

"हाँ रे, कौन काम उसके लिए मुश्किल है? माँ ने अपने उसी दृढ़ विश्वास के साथ कहा, "एक नहीं, वह सौ सीटें भी पैदा कर सकता है। तू उसे समझता क्या है! दारोगा है कि कोई ठट्टा! तू तो बेकार उससे जलता रहता है।"

छोटे भैया भुनभुनाता हुआ अपने कमरे चला गया। वह बड़े भैया से जरूर जलता था। लेकिन इसका कारण भी था। वह विश्वविद्यालय में अध्यापक था और उसकी रचनाएं बराबर पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती थीं। बाहर उसका काफी मान था, लेकिन घरमें या पास-पड़ोस में बड़े भैया के सामने उसे कोई न पूछता था। इससे एक हीन भावना उसमें घर कर गयी थी। वह अकसर चिड़चिड़ाकर झगड़ पड़ता था। संसार के व्यवहारिक पक्षकी समझ उसे बहुत कम थी। वह तो बस इसी मदमें फूला रहता था कि वह प्रोफेसर है, लेखक है, और बड़े भैया दारोगा-- हुँ:।

उसे दिल्ली एक इन्टरव्यू में जाना था। गाड़ी की भीड़-भाड़से उसे बड़ी घबराहट होती थी। वह अपनी सीट रिजर्व कराने जाने लगा, तो माँ ने कहा था 'तू काहे को तकलीफ़ उठा रहा है? बड़े भैया है न, वह करा देगा।'

बड़े भैया करा देगा, इसमें उसे भी कोई सन्देह न था। लेकिन इसी बीच एक मन्त्री आ गये और बड़े भैया को खाने-पीने की भी फुरसत न रही। रात-दिन वर्दी चढ़ी रही। तीन दिन का उनका दौरा था। और आज छोटे भैया को दिल्ली के लिए रवाना होना था।

●●

माँ और छोटे भैया इन्तज़ार कर ही रहे थे कि बड़े भैया जल्दी-जल्दी में आया और खड़े-खड़े ही बोला, "मौसम खराब होनेसे हवाई जहाज नहीं उड़ा। अब मंत्रीजी दिल्ली एक्सप्रेस से जायेंगे। मेरी ड्यूटी—"

माँ बोली, "आज छोटे भैया को भी दिल्ली जाना है। कल इसका वहाँ इन्टरव्यू है। इसकी सीट—"

"हो जाएगा, हो जाएगा!" छोटे भैया का कन्धा थपथपाते हुए बड़े भैया ने कहा, "यार, तू इतनी जल्दी क्यों घबरा जाता है, एं? मुझे भी दिल्ली एक्सप्रेस से ही जाना है न? स्टेशनपर आ जाना। मैं वहीं मिलूंगा। तुझे सीट मिलेगी, तू कोई फिक्र न कर। हो सकता है कि तेरे पहुँचने के पहले ही मैं तेरे लिए सीट रिजर्व करा दूँ। तू टिकट मत खरीदना।"

और वह जैसे आया था, वैसे ही चल पड़ा। सड़क पर उसकी वैन खड़ी थी।

छोटे भैया की समझ में न आ रहा था कि उसे सीट कैसे मिलेगी, जब कोई सीट खाली है ही नहीं। इसलिए बड़े भैया के आश्वासन के बावजूद उसकी परेशानी कम न हुई। लेकिन अब कोई चारा न था। यही गाड़ी रह गयी थी, जिससे समय पर वह दिल्ली पहुँच सकता था। जनता एक्सप्रेसका तो कोई ठिकाना नहीं, यों भी वह दिल्ली साढ़े नौ बजे पहुँचती है। उससे जाने का तो सवाल ही नहीं उठता। दस बजे उसे इन्टरव्यू में सम्मिलित होना था।

पौने चार बजे गाड़ी थी। वह तीन बजे ही स्टेशन पहुँच गया। एक बार और वह सीट के लिए पूछ-ताछ कर आया। मालूम हुआ कि अब गाड़ी आने पर ही स्थिति के अनुकूल कुछ हो सकता है। और कुछ सम्भव नहीं।

स्टेशन का आज रंग ही बदल गया था। सब कुछ चमचम चमक रहा था। कर्मचारी चारों ओर भागते-दौड़ते नजर आ रहे थे। और वह परेशान बार-बार फाटक की ओर देखता कि अब भैया आते हैं।

साढ़े तीन बज गये। प्लेटफार्म मुसाफिरों मे खचाखच भर गया। लेकिन बड़े भैया का अभी तक कहीं पता न था। छोटे भैया के दिल की रफ्तार बढ़ गयी—कहीं मंत्री जी के साथ ऐन गाड़ी छूटने ही के वक्त वे आयें तो? और फिर अचानक एक बात उसके दिमाग में कौंध गयी—मंत्री के लिए स्पेशल बोगी लगेगी। बड़े भैया उसके लिए भी क्या एक जगह उस बोगी में ही नहीं दिला सकते? और छोटे भैया पर जैसे राहत का एक छींटा पड़ गया—बड़े भैया क्या नहीं कर सकता? माँ कहती है, शायद ठीक ही कहती हो। सच ही

अगर ऐसा हो जाए, तब तो……और उसने एक बार अपने खद्दर के कुरते-पाजामे की ओर देखा और उसे लगा कि यह कोई अनहोनी बात तो नहीं है।

सिगनल हो गया था। गाड़ी अब आने वाली थी। मुसाफिर खड़े हो गये थे। कुली सामान सिर पर रख रहे थे। लेकिन अभी बड़े भैया का कहीं पता न था। और अचानक उसे सन्देह हो उठा कि कहीं मन्त्रीने इस गाड़ी से जाना मुल्तवी तो नहीं कर दिया? उसने लपक कर एक कर्मचारी से पूछा, "क्यों साहब, इस गाड़ी से कोई मन्त्री जाने वाले हैं?"

कर्मचारी ने सन्देह की दृष्टि से उसकी ओर देखा। फिर जैसे उसके खद्दर के कपड़े देखकर आश्वस्त होकर बोला, "हाँ, खबर तो है।"

"अभी तक तो वे आये नहीं?"

"वक्तपर आएँगे; उनके लिए बोगी लगेगी, गाड़ी डिटेन होगी। आपको उनसे मिलना है क्या?"

छोटे भैया अचकचा गया। फिर बोला, "नहीं, कोई खास बात नहीं है, यों ही पूछ रहा था।

इतने में गाड़ी धड़धड़ाती हुई पहुंच गई और छोटे भैया का दिल इस तरह धड़क उठा कि वह उसकी आवाज गाड़ी की आवाज के ऊपर भी सुन सकता था। वह अपने सामान की ओर भागा।

कुली बोला, "किस दरजे में चढ़ेंगे आप?"

डब्बों के दरवाजों पर धमक-पेल मच गई थी। वह दृश्य देखते हुए छोटे भैया बोला, "मुझे एक आदमी का इन्तजार है। जरा रुको।"

"रुकने से मेरा काम कैसे चलेगा? यह गाड़ी भी तो मुझे देखनी है! मेरे पैसे आप दे दीजिए।"

"जाओ गाड़ी देख लो। मैं यहीं हूँ।"

कुली कुड़बुड़ाता हुआ चला गया। और तभी फाटक पर एक शोर सुनाई दिया। छोटे भैया ने देखा, एक ठिगना-सा आदमी फूल-मालाओं से लदा हुआ, मेंढ़क की तरह फूला हुआ चेहरा लिए फाटक पार कर रहा था। उसके पीछे अनगिनत गाँधी टोपियाँ कागज की किश्तियों की तरह तैरती हुई दिखाई दे रही

थीं। वह समझ गया कि यही मन्त्री हैं। लेकिन उसे तो बड़े भैया की तलाश थी। वह उचक-उचककर भीड़के पीछे देखने लगा। आखिर वह जुलूस जब पूरब तरफ गाड़ी के पिछले सिरे तक पहुंच गया, तो पीछे-पीछे लाल पगड़ियाँ दिखाई दीं और उसकी नजर बड़े भैया पर पड़नी थी कि उसके मुँहसे पुकार निकल गई, "बड़े भैया!"

बड़े भैया को स्वयं इस प्रकार की आशंका थी। सुनकर वह एक क्षणको गम्भीर हो गया, लेकिन फिर खयाल आया कि उसके अफसरों में उसे इस नाम से जाननेवाला कोई नहीं। वह आश्वस्त हुआ और यों ही छोटे भैया की तरफ हाथ उठाकर संकेत कर दिया-रुको।

लेकिन छोटे भैयाके लिए अब रुकना असम्भव हो उठा। उसके पाँवों के नीचे की जमीन जैसे जलने लगी। वह पाँव उठाता और फिर रख देता। उसकी नजर जुलूस के पीछे लाल पगड़ियों पर ही थी, दूरसे बड़े भैया को पहचानना कठिन था।

कुली ने आकर कहा, "अब तो गाड़ी छूटेगी। आपको चढ़ना है कि नहीं?"

"चढ़ना है, भाई! जरा रुको। मन्त्री की बोगी लग गयी क्या?" लाल पगड़ियों की ओर देखते हुए ही छोटे भैया ने कहा।

गार्ड ने सीटी दी।

"आप मेरा पैसा दे दीजिए। आप जैसा मुसाफिर—"

"उठाओ सामान, वे आ रहे हैं!" चँचल होकर छोटे भैया ने कहा।

बड़े भैया लपकता हुआ आ रहा था। गार्ड की दूसरी सीटी की आवाज़ सुनाई दी।

बड़े भैया ने आकर जल्दी में कहा, "भाई, माफ करना। मन्त्री का मामला था। अरे कुली, चढ़ा सामान इस डिब्बे में।" सामने के तीसरे दर्जे के एक डिब्बे के सामने बढ़ते हुए बड़े भैया बोला।

छोटे भैया दाँत पीसकर बोला, "लेकिन टिकट...?"

"मैं गार्ड से बोल देता हूँ। तुम चढ़ो। अब समय बिल्कुल नहीं है। क्या बताऊँ, मुझे खुद बहुत अफसोस है...।"

डब्बा दरवाजे तक खचाखच भरा हुआ था। बड़े भैया ने लपककर दरवाजा खोला और चढ़कर कुली से सामान ले अन्दर के मुसाफिरों से मुखातिब होकर बोला, "भाइयो, छोटे भैया का यह बिस्तर और सूटकेस है, जरा आप लोग कहीं रख दें।"

किसीने कहा, "ये छोटे भैया कौन हैं ? आप देखते हैं—"

"आइए, छोटे भैया, आइए !" बड़े भैया ने पुकारकर कहा, "ये लोग जानना चाहते हैं कि छोटे भैया कौन हैं।"

छोटे भैया भुनता हुआ आगे बढ़ा और उसने पावदान पर पैर रखा।

बड़े भैया अन्दर बोल रहा था, "बड़े भैया स्पेशल बोगी में जा रहे हैं और छोटे भैया आप लोगोंके साथ सफ़र करेंगे...। आइए, छोटे भैया, आइए।"

छोटे भैया का दिल जल रहा था। उसने गाड़ी में पाँव रखा। बड़े भैया उसके लिए जगह देते हुए बोला, "बड़े भैया चाहे जितने बदल गये हों, छोटे भैया आज भी वही हैं ..। आज भी ये तीसरे दर्जे में ही जनता के साथ...?"

लोगोंने उचक-उचककर देखना शुरू किया और एक भुनभुनाहट डब्बेमें गूँज उठी, "ये मन्त्रीजी के छोटे भाई हैं क्या...?"

गार्डकी तीसरी सीटी बज उठी।

"अच्छा, भाइयो," बड़े भैया ने एक सेवक के अन्दाज से कहा, "तो गाड़ी अब छूटने वाली है। मैं आप लोगोंसे विदा लेता हूँ। अब छोटे भैया आप पर ही हैं। इन्हें चाहे आप तकलीफ दें या आराम, ये अपने मुँह से कुछ भी न कहेंगे। ऐसे ही नेता हैं ये, वरना क्या ये बड़े भैया के साथ...।"

गाड़ी का भोंपू गरज उठा। बड़े भैयाने नीचे उतरते हुए छोटे भैया को कुहनी मारी।

● ●

गाड़ी चल पड़ी, तो कई लोगों ने अपनी-अपनी जगह से उठते हुए कहा, "छोटे भैया, आप यहाँ आकर बैठ जाइए !"

छोटे भैया ने साँस रोककर. काँपती हुई नाक का बाँसा जबरदस्ती स्थिर कर आँखों का गुस्सा उतारकर लोगों की ओर देखा। सबकी आँखों से जैसे उसके लिए

श्रद्धा और सम्मान उमड़ा पड़ रहा था। और फिर अचानक जाने छोटे भैया के अन्दर क्या हुआ कि वह सचमुच एक नेता की तरह बलिदानी ढंग से हाथ उठाकर बोल पड़ा, "आप लोग बैठिये, बैठिये। मेरी चिन्ता न कीजिए।"

"कैसे न करें, साहब ?" एक वृद्ध सज्जन उठकर बोले, "इस युग में आप जैसा त्यागी महापुरुष कहाँ दिखाई पड़ता है ? आप आइए, मेरे सिर-आँखों पर बैठिये।"

"आप तकलीफ न करें, दादा !" छोटे भैया और भी त्यागका सबूत देते हुए बोला, "इतने लोगोंके खड़े रहते मैं कैसे बैठ जाऊँ ? आप बुजुर्ग हैं, आपको आराम पहुंचाना हमारा फर्ज है, न कि···"

"वाह-वाह !" किसी कोनेसे किसीकी आवाज आयी।

खड़े लोगों की आँखें एक ही साथ छोटे भैया की ओर मुड़ीं। वे बुजुर्ग अब भी अपनी जगह पर खड़े हुये सोच रहे थे कि अब क्या किया जाए ?

कोई खड़ा हुआ मुसाफिर बोला, "वाह-वाह ! ऐसा होने लगे, तो क्या बात है ! तब तो किसीको कोई शिकायत ही न रहे। दुख भी बंटा लेनेसे हलका हो जाता है। लेकिन हमारे यहाँ तो—"

उसकी बात उसके पास खड़े एक दूसरे मुसाफिर ने बीच में ही रोक ली, "हमारे यहाँ तो एक आदमी स्पेशल बोगीमें सफर करता है और कितने हैं कि उन्हें गाड़ी में खड़े होने को भी जगह नहीं मिलती। अब उन स्पेशल बोगी में सफर करने वाले महाशय को क्या मालूम कि हम लोग यहाँ खड़े-खड़े—"

"और क्या, और क्या ! उन्हें तो अपने आराम-अयाइश से मतलब है, जनता जाए भाड़ में !"

"बिल्कुल यही बात है, साहब, बिल्कुल यही ! इन्हें अब किसी बातकी शर्म-हया नहीं रही !"

"छोटे भैया बैठ जाते तो···।" उन्हीं वृद्ध सज्जनने अकिंचनकी तरह कहा।

"अरे, आप बैठिये, साहब ! वृद्ध के पास बैठे हुये एक युवक ने कहा, जिसे वृद्ध के खड़े रहने से असुविधा हो रही थी, "छोटे भैया को बैठना होता तो, बड़े भैया के साथ स्पेशल बोगी में नहीं बैठते ? आप खामखाहके लिए उन्हें संकट में

डाल रहे हैं।"

"आप बैठ जाइए, दादा, बैठ जाइए ! मुझे कोई तकलीफ नहीं है।" छोटे भैया ने कहा, "इतने लोग खड़े ही तो हैं।"

"ऐसे ही लोग तो नेताओं को खराब करते हैं !" वही युवक अपने हाथ की किताब बन्द करते हुए बोला, "सिंहासन पर बैठा देंगे और फिर चाहेंगे कि वे उनकी सेवा करें, हुं !"

"आपकी बात भी ठीक ही है एक तरह से," एक ओर से आवाज आई।

"एक तरह से क्यों, साहब ?" वही युवक गरदन ऊँची करके बोला, "मेरी बात हर तरह से ठीक है ! जब ये लोग मन्त्री नहीं बने थे, तब कैसे रहते थे ? और अब ?"

"सीधा सवाल तो यह है कि इन्हें मन्त्री बनाया किसने ?"

"कुछ देखकर ही तो मन्त्री बनाया जाता है। कौन जानता था—"

"खूब, साहब, खूब !" वही युवक गरदन हिलाकर बोला, "पहली बार आप नहीं जानते थे, मैंने मान लिया। लेकिन जब जान गये, तब कौनसी क्रान्ति आपने कर दी ? यहाँ तो एक बार नहीं, दो बार नहीं, जाने कितनी बार काठ की हांडी आप लोग चूल्हे पर चढ़ाते जायेंगे और ऊपर से कोसते भी जायेंगे कि इसमें खाना क्यों नहीं पक रहा ? वाह-वाह !"

"भाई, अब दूसरी कोई पार्टी ऐसी दिखायी नहीं देती, तो जनता क्या करे ?"

'दिखायी कैसे देगी, साहब !' युवक आवेश में आकर बोला, "आप बनायें, तब तो दिखायी देगी !"

"कौन ठिकाना कि दूसरी पार्टी ही" एक ओर से किसी की आवाज आयी।

बीच ही में झुंझलाकर वह युवक बोल उठा, "अब इसका तो कोई जवाब नहीं, साहब ! आपकी तरह जो लोग बात करते हैं, सच ही उनका कोई ठिकाना नहीं होता।"

फिर किसी की कहीं से कोई आवाज उठी ही थी कि वही वृद्ध सज्जन मूंछों में मुस्कराकर बोले, "अब आप लोग छोटे भैया को भी कुछ कहने दीजिए।"

"नहीं, नहीं," दांत चियार कर, बड़ी आजिज़ी से छोटे भैया बोला, "मुझे

कुछ नहीं कहना है। आप लोग बातें कीजिए, मुझे बहुत मजा आ रहा है। इन बातों का हमारे राष्ट्रीय जीवन में बड़ा महत्त्व है। जो देश के बारे में कुछ सोचता है, वही तो देश के बारे में कुछ बातें कर सकता है। और जो बात करता है, वही तो आगे चलकर कुछ काम करता है। मुझे तो लोगों को इस तरह बातें करते देख बड़ी खुशी होती है और लगता है कि हमारे देश का भविष्य बड़ा उज्जवल है। जिस देश में लोग अपने देश के बारे में बातें नहीं करते, उस देश का तो भगवान ही मालिक है! आप लोग बात कीजिए!'

छोटे भया को आश्चर्य था कि वह कैसे इतनी बातें धाराप्रवाह बोल गया। उस युवक को छोड़ कर सब लोग उसी की ओर आँखें फैलाकर देख रहे थे। उसे लगा कि वह अपने इस छोटे-से-व्याख्यान में एक बहुत बड़ी बात कह गया है। और उसकी गरदन थोड़ी तन गयी। लेकिन युवक पर जब उसकी नजर पड़ी, तो उसकी गरदन फिर ढीली हो गयी। युवक बिल्कुल बेपरवाह-सा किताब पर आँखें झुकाये हुए था। ज़रा देर कुछ सोचकर छोटे भैया एक प्रौढ़ नेता की तरह बोल उठा, "उस युवक की बातें मुझे सबसे ज्यादा पसन्द आयीं।"

युवक ने आँखें उठा कर छोटे भैया की ओर देखा।

"हमारे देश का भविष्य इन्हीं के हाथों में है और मुझे इन हाथों पर पक्का विश्वास है!"

युवक के होंठों पर शरमीली मुसकान की रेखा खिंच गयी। उसने अपनी गरदन झुका ली।

"यही देश को बदलेंगे, यही देश को बेहतर बनाएँगे।"

युवक जैसे पानी-पानी हो अपना सिर खुजलाने लगा।

"क्या पढ़ रहे हो, प्यारे भाई?"

युवक झट से किताब बन्द कर, मोड़कर पैण्ट की जेब में ठूँसता हुआ शरमा कर बोला, "कुछ नहीं, कुछ नहीं।"

पूरे डब्बे में एक हँसी गूँज उठी। सब लोग हँस रहे थे, लेकिन छोटे भैया के चेहरे पर एक गम्भीरता छायी हुई थी और उस युवक की गरदन और भी झुक गयी थी।

युवक पर अब सबकी दृष्टि थी और ऐसा लग रहा था कि हर आँख उस पर एक-एक घड़ा पानी उंडेल रही थी। सबसे अधिक प्रसन्न वे वृद्ध सज्जन थे।

छोटे भैया अब एक नीतिज्ञ की तरह मन-ही-मन मुस्कराया। उसने इस डब्बे के अपने एक मात्र प्रतिद्वन्द्वी को धूल चटा दी थी। लेकिन फिर सहसा वह एक विजेता नेता की तरह उदार हो उठा। बोला, "इसमें शरमाने की कोई बात नहीं। इस उम्र में कौन ऐसी किताबें नहीं पढ़ता ? तुम चाहो जो पढ़ो, लेकिन तुम्हारे विचार निश्चय ही उत्कृष्ट हैं और मैं तो तुमसे बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ।"

युवक ने अपनी गरदन उठायी और खड़े होकर शरमाया हुआ-सा बोला, "आइए, आप मेरी जगह बैठ जाइए।"

वृद्ध सज्जन ने गरदन उठा कर युवक के मुँह की ओर देखा।

लेकिन छोटे भैया बोले, "नहीं, मैं कह चुका हूँ न कि जब तक एक आदमी भी इस डब्बे में खड़ा रहेगा, मैं बैठ न पाऊँगा। मैंने अपने जीवन के कुछ असूल बना रखे हैं और उनका ज़रा सख्ती से पालन करता हूँ।"

अब पूरे डब्बे में खलबली मच गयी। हर ओर से एक ही आवाज आयी, "भई, जगह बनाओ ! सब लोग बैठ जाएं ! छोटे भैया का इस तरह खड़े रहना देखा नहीं जाता !"

कुछ लोग खुशी से और कुछ लोग कुनकुनाकर अपने को सिमटने और सिकोड़ने लगे। सामानों को इधर-उधर खिसकाया जाने लगा। और जिसे जहाँ जगह मिलती गयी, चटपट बैठता गया। फिर भी डब्बे की जगह सीमित थी। ऊपर-नीचे कस-कसा कर बैठने के बावजूद तीन आदमियों की जगह न मिल सकी। और छोटे भैया फिर भी खड़ा रह गया।

लोगों को बेहद अफसोस हुआ, लेकिन इस अफसोस के पीछे एक बड़ी खुशी भी थी कि जो हो, एक ऐसी दिव्य आत्मा के दर्शन तो हुए !

छोटे भैया की टांगें खड़े-खड़े दुखने लगी थीं। कमर के गिर्द लगता था कि जैसे कोई भारी चक्की बाँध दी गयी हो। फिर भी वह शान्त खड़ा रहा और बोला, "इतने लोग और बैठ गये, इसकी मुझे प्रसन्नता है। आप सबको मेरा

बहुत-बहुत धन्यवाद !"

फिर कई बातें उठीं, लेकिन वे आगे न बढ़ सकीं। छोटे भैया के खड़े रहने के कारण वहाँ का वातावरण ऐसा भारी हो गया था कि कोई खुलकर बातों में हिस्सा ही न ले पा रहा था। हर बात घूम फिर कर छोटे भैया पर ही आ टूटती और लोग चुप हो जाते। छोटे भैया ने एक अजब विवशता में सबको डाल दिया था।

स्टेशन आते-जाते गये। मुसाफिर चढ़ते-उतरते गये। वक्त कटता गया। शाम हुई, फिर रात आई। मद्धिम रोशनी में डब्बा अलसाने लगा। लोग पाँव पसारने की जुगुत करने लगे। लेकिन छोटे भैया अब भी दो मुसाफिरों के साथ खड़ा था। उसकी हालत खराब हो रही थी, लेकिन आज एक सच्चे व्रती नेता की अडिगता जाने उसमें कहाँ से आ गयी थी !

वृद्ध सज्जन ने अपना डब्बा खोलते हुए कहा, "छोटे भैया, अगर आप बुरा न मानें, तो हमारे साथ कुछ खा लें।"

"मैं एक ही वक्त भोजन करता हूँ, क्षमा करें," छोटे भैया बोल गया। आज जैसे उसने सचमुच ही शहीद होने की ठान ली थी।

रात गहरायी, तो स्टेशनों पर भीड़ कम होने लगी और डब्बे ने धीरे-धीरे राहत की साँस ली। कई मुसाफिर उतर गये, तो उठंगे हुए-से वृद्ध सज्जन ने कहा, "छोटे भैया, अब तो सब लोग आराम से हैं, आकर आप भी लेट जाइए। आपको आज बहुत कष्ट हुआ।" और उन्होंने सामने की बर्थ के मुसाफिरों से कहा, "भाईयो, अब आप लोग इनके लिए भी जगह दें।"

छोटे भैया बनी जगह पर बैठकर बोला, "बस-बस, और तकलीफ आप लोग न कीजिए ! जब तक सबको सोने की जगह नहीं मिल जाएगी, मैं सो न पाऊँगा।"

"धन्य हैं···धन्य हैं आप, छोटे भैया !" पाँव पसारते हुए वृद्ध सज्जन बोले, "काश, आप ही की तरह हमारे सब नेता हो जाते !"

कई लोग फिर बोल उठे, "तब तो हमारा देश स्वर्ग हो जाता !"

छोटे भैया मन-ही-मन मुसकराया। इतने पर भी वह धन्य न हो तो

नाकें बजने लगीं। जो जहाँ जैसे था, वहीं पुसर-पुसर कर अपनी जगह बना नींद में डूब रहा था। छोटे भैया सबको देख रहा था।

वह युवक पीठ टेके, बैठे-बैठे ही हाथ-पाँव फैलाकर, सिर पीछे की ओर झुकाये ऐसे सोया पड़ा था, जैसे कोई मरा हुआ मेंढक उलटा पड़ा हो।···वे वृद्ध सज्जन अधलेटे-से अपने लम्बे मुँह पर पंजा रखे ऐसे पड़े थे, जैसे रेत पर घड़ियाल।···एक आदमी बिल्कुल सांड़ की तरह फों-फों कर रहा था और एक आदमी बिल्कुल बिलगोह की तरह खिड़की के तख्ते से चिमटा हुआ था। एक ओर एक बुढ़िया बिल्ली की तरह दुबकी हुई पड़ी थी और उसके पास खड़े एक आदमी की जीभ कुत्ते की तरह बाहर निकल आयी थी और उससे लार टपक रही थी। ···एक बच्चा एक बिखरे घोंसले की तरह पड़ी हुई स्त्री की जांघ पर पंख समेटे चिड़िया की तरह पड़ा हुआ था।···एक आदमी बल खाये सांप की तरह पड़ा हुआ था और एक आदमी की मूँछें बिल्कुल गीदड़ की पूँछ की तरह दिखाई पड़ रही थीं।···एक आदमी का खुला मुँह बाघ की तरह दिखायी पड़ रहा था और एक आदमी का सिकुड़ा हुआ मुँह बिल्कुल बन्दर की तरह।···एक आदमी की गरदन गिरगिट की तरह दिखायी दे रही थी और एक आदमी की नींद में खुली आँखें बिल्कुल भैंसे की आँखों की तरह दिखाई पड़ रही थीं।

सब सो रहे थे और छोटे भैया एक-एक कर सबको देख रहा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि इन को देखकर किसी-न-किसी जानवर का ही ख्याल क्यों आता है? और उनके प्रोफेसर दिमाग ने इस बात पर बड़ी गहराई से सोचना शुरू कर दिया और सोचते-सोचते ही उसकी आँखें कब लग गयीं इसका उसे पता ही न चला।···

जमुना पुल पर जोर की घरघराहट और खड़खड़ाहट हुई, तो उसकी आँखें खुल गयीं। वह चौंक गया उसे लगा कि उसका शरीर चारों ओर से जकड़-जकड़कर बंधा हुआ है और पीड़ा से फट रहा है। आँखों के सामने का धुंधलका छंटा, तो उसने देखा, उसके अगल-बगल के मुसाफिरों की एक-एक टांग उसकी गरदन को दोनों ओर से जकड़े हुए और एक-एक टांग उसकी दोनों जांघों पर गड़ी हुई है और उसका शरीर दोनों ओर से जैसे शिकंजे में कस गया है। मारे

क्षोभ के उसके जी में आया कि एक-एक टांग उठाकर लकड़ी की पटरी पर पटक दे, लेकिन उसे अचानक खयाल आया कि आज वह नेता है। उसके भिचे हुए दाँतों से बस एक ही शब्द, वह बिल्कुल अस्पष्ट-सा, निकला—'जानवर!' और फिर वह पत्थर हो गया। लोग उठें और देखें कि यह नेता कितना सहनशील है! वह टक-टक सामने देखने लगा। उस समय उसे सामने ईसा का सूली पर चढ़ा हुआ चित्र दिखाई दे रहा था।

सबसे पहले वृद्ध सज्जन की आँख खुली। 'राम-राम' कहते उन्होंने चुटकी बजायी कि उन्हें छोटे भैया की याद आ गयी। बैठते हुए उन्होंने सामने देखा और चीख पड़े, "ऐ जानवरो! अपनी टागें हटाओ! राम-राम! ऐसी सांसत की जाती है किसी की !"

चीख सुनकर और कई लोग उठ गये, लेकिन उन टाँगवालों की नींद साधारण नहीं थी। सबने देखा और सभी अश-अश कर उठे। आखिर एक साथ ही दो आदमियों ने बड़ी बेदर्दी से वे टांगें हटायीं। छोटे भैया बुत की तरह बैठा रहा, जैसे उन टांगों से उनका कोई मतलब ही न हो।

वृद्ध सज्जन बोले, "इसलिए तो हमारे मन्त्री लोग स्पेशल बोगी में सफर करते हैं! जाने कब हम में सलीका आएगा कि हम—"

बीच ही में वह युवक मुसकरा उठा, तो वृद्ध सज्जन चुप हो गये।

युवक बोला, "मन्त्री मत कहिए, खुदा कहिए, खुदा! ये हमारे खुदा हैं।"

गाड़ी प्लेटफार्म पर आ लगी थी और अचानक अब जाकर छोटे भैया को अपने टिकट और बड़े भैया का खयाल आया।

एटम बम

अमृतलाल नागर

इन साहब से मिलिए तो वक्त की कोई भी शिकन आपको इनके चेहरे पर नज़र नहीं आयेगी। तरोताज़ा और शगुफ़्ता चेहरा, बात-चीत में बला की गर्मी और शिद्दत दोस्तों के लिए दोस्त और विपक्षियों के लिए बेनमान तलवार। यह हैं 'बूंद और समुद्र' के यशस्वी कथाकार जनाब अमृत लाल नागर! 'सुहाग के नूपुर' 'सेठ बाँके मल' 'ये कोठेवालियाँ' 'महाकाल' 'बूंद और समुद्र' (उपन्यास; 'एक दिल हज़ार दास्तां' 'एटम बम' (कहानी संग्रह) 'नवाबी मसन्द' (हास्य-व्यंग्य) 'मेरा प्रवास' 'काला पुरोहित' (अनुवाद) आदि पुस्तकों का सृजन कर चुके हैं, मगर लेखन म कहीं भी चिंतन की ताजगी का अभाव नज़र नहीं आता। वह हकीकत में मुंशी जी की परम्परा के सबल उत्तराधिकारी हैं।

'नयी कहानी' की चर्चा चल निकले नये लेखकों को आड़े हाथों लेना, अब, इनकी हॉबी के बजाय गालबन आदत बन चुकी है। नागर जी का कथन है कि ये नये कहलाने वालों की तो हस्ती क्या है, मैं लिखने में इनके ग्रेटों तक को 'कम्पीट' करूँगा। खुदा जाने उनके इस दावे का आधार चिंतन की ताज़गी है या सेहत! मगर इस हकीकत से कौन इन्कार कर सकता है कि उनकी रचनायें अपने देश में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। 'बूंद और समुद्र' का पहला संस्करण रूस में छपा तो प्रबन्धकों ने यह कहकर नागर जी से क्षमा माँगी—अगर आपको उपन्यास की कापी नहीं मिली तो आप उसे सिर्फ देख सकते हैं; मगर ले नहीं सकते। सिर्फ 'शोकेस' में कुछेक कापियाँ बची हैं।

चेतना लौटने लगी। सांस में गंधक की तरह तेज़ बदबूदार और दम घुटाने वाली हवा भरी हुई थी। कोबायाशी ने महसूस किया कि बम के उस प्राण-घातक धड़ाके की आवाज अभी भी उसके दिल में धँस रही है। भय अभी भी उस पर छाया हुआ है। उसका दिल ज़ोर से जोर धड़क रहा है। उसे साँस लेने में तकलीफ होती है, उसकी साँस बहुत भारी और धीमी चल रही है।

हारे हुए कोबायाशी का जर्जर मन इन दोनों अनुभवों से खीझकर कराह उठा। उसका दिल फिर गफ़लत में डूबने लगा। होश में आने के बाद, मृत्यु के पंजे से छूटकर निकल आने पर जीवनदायिनी स्फूर्ति और शान्ति उसे मिलनी चाहिए थी, उसके विपरीत यह अनुभव होने से ऊब कर, तन और मन की सारी कमजोरी के साथ वह चिढ़ उठा। जीवन कोबायाशी के शरीर में अपने अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए विद्रोह करने लगा। उसमें बल का संचार हुआ।

कोबायाशी ने आँखें खोलीं। गहरे कुहासे की तरह दम घुटाने वाला जहरीला धुआँ हर तरफ छाया हुआ था। उसके स्पर्श से कोबायाशी को अपने रोम-रोम में हज़ारों सुइयाँ चुभने का सा अनुभव हो रहा था। रोम-रोम से चिनगारियाँ छूट रही थीं। उसकी आँखों में भी जलन होने लगी; पानी आ गया। कोबायाशा ने घबराकर आँखें मींच लीं।

लेकिन आँखें बन्दकर लेने से तो और ज्यादा दम घुटता है। कोबायाशी के प्राण घबरा उठे। वे कहीं भी सुरक्षित न थे। मौत अँधेरे की तरह उसपर छाने लगी। यह हीनावस्था की पराकाष्ठा थी। कोबायाशी की आत्मा रो उठी। हारकर उसने फिर अपनी आँखें खोल दीं। हठ के साथ वह उन्हें खोले ही रहा। जहरीला धुआँ लाल मिर्च के पाउडर की तरह उनकी आँखों में भर रहा था। लाख तकलीफ़ हो, मगर वह दुनियाँ को कम-से-कम देख तो रहा है। बम गिरने के बाद भी दुनियाँ अभी नेस्तनाबूद नहीं हुई—आँखें खुली रहने पर यह तसल्ली तो उसे हो ही रही है। गर्दन घुमाकर उसने हिरोशिमा की धरती

को देखा, जिसपर वह पड़ा हुआ था। धरती के लिए उसके मन में ममत्व जाग उठा। कमजोर हाथ आप ही आप आगे बढ़कर अपने नगर की मिट्टी को स्पर्श करने का सुख अनुभव करने लगे।

—मन कहीं खोया। अपने अन्दर उसे किसी ज़बरदस्त कमी का एहसास हुआ। यह एहसास बढ़ता ही गया। आन्तरिक हृदय से सुख का अनुभव करते ही उसकी कल्पना दुख की ओर प्रेरित हुई। स्मृति झकोले खाने लगी।

चेतन बुद्धि पर छाये हुये भय से बचने के लिये अन्तर-चेतना की किसी बात पर विस्मृति का मोटा पर्दा पड़ रहा था। मौत के चंगुल से छुटकर निकल आने पर, पार्थिवता की बोझ-स्वरूप धरती के स्पर्श से, जीवन को स्पर्श करने का सुख उसे प्राप्त हुआ था। परन्तु भावना उत्पन्न होते ही उसके सुख में घुन भी लग गये। भय ने नींवें डगमगा दीं। अपनी अनास्था को दबाने के लिये वह बार-बार जमीन को छूता था। अन्तर को अविश्वास का रूप देते हुये, इस खुली जगह में पड़े रहने के बावजूद अपने जीवित बच जाने के बारे में उसे भगवान की लीला दिखाई देने लगी।

करुणा सोते की तरह दिल से फूट निकली। पराजय के आँसू इस तरह अपना रूप बदल कर दिल में घुमेड़े ले रहे थे। ज़हरीले धुएँ के कारण आँखों में भरे हुये पानी के साथ-साथ वे आँसू भी घुल-मिल कर गाल से ढुलकते हुये जमीन पर टपकने लगे।

बेहोश होने से कुछ मिनट पहले उसने जिस प्रलय को देखा था, उसकी विकरालता अपने पूरे वजन के साथ कोबायाशी की स्मृति पर आघात कर के उसके टुकड़े-टुकड़े कर रही थी। वह ठीक-ठीक सोच नहीं पा रहा था कि जो दृश्य उसने देखा वह सत्य था क्या? —धड़ाका! जूड़ी बुख़ार की कँपकँपी की तरह जमीन काँप उठी थी। बम था—दुश्मनों का हवाई हमला। हज़ारों लोग अपने प्राणों की पूरी शक्ति लगाकर चीख उठे थे।—कहाँ हैं वे लोग? वे प्राणान्तक चीखें, वह आर्त्तनाद जो बम के धड़ाके से भी अधिक ऊँचा उठ रहा था—वो इस समय कहाँ है? खुद वह इस समय कहाँ है? और—

कुछ खो देने का एहसास फिर हुआ। कोबायाशी विचलित हुआ। उसने

कराहते हुये करवट बदल कर उठने की कोशिश की; लेकिन उसमें हिलने की भी ताब न थी। उसने फिर अपनी गर्दन जमीन पर डाल दा। हवा में काले-काले जर्रे भरे हुये थे। धुँआ, गर्मी, जलन, प्यास—उसका हलक सूखा जा रहा था। बेचैनी बढ़ रही थी। वह उठना चाहता था। उठकर वह अपने चारों तरफ देखना चाहता था। क्या ?—यह अस्पष्ट था। उसके दिमाग में एक दुनियाँ चक्कर काट रही थी। नगर, इमारतें, जनसमूह से भरी हुई सड़कें, आती-जाती सवारियाँ, मोटरें, गाड़ियाँ, साइकिलें—और—और—दिमाग इन सब में खोया हुआ कुछ ढूँढ रहा था; अटका, मगर फौरन ही बढ़ गया। जीवन के पच्चीस वर्ष जिस वातावरण से आत्मवत् परिचित और घनिष्ट रहे थे, वह उसके दिमाग की स्क्रीन पर चलती-फिरती तस्वीरों को तरह नुमायाँ हो रहा था। लेकिन सब कुछ अस्पष्ट, मिटा-मिटा सा ! कल्पना में वे चित्र बड़ी तेजी के साथ झलक दिखा कर बिखर जाते थे। इससे कोबायाशी का मन और भी उद्विग्न हो उठा।

प्यास बढ़ रही थी। हलक में काँटे पड़ गये थे। और उस- उठने की ताब न थी। एक बूंद पानी के लिए जिन्दगी देह को छोड़कर चले जाने की धमकी दे रही थी, और शरीर फिर भी नहीं उठ पाता था। कोबायाशी को इस वक्त मौत ही भली लगी। बड़े दर्द के साथ उसने आँखें बन्द कर लीं।

मगर मौत न आयी।

कोबायाशी सोच रहा था: "मैंने ऐसा कौन सा अपराध किया था जिसकी ये सज़ा मुझे मिल रही है ? अमीरों और अफसरों को छोड़कर कौन ऐसा आदमी था जो यह लड़ाई चाहता था ? दुनियाँ अगर दुश्मनी निकालती तो, उन लोगों से। हमने उनका क्या बिगाड़ा था ? हमें क्यों मारा गया ?—प्यास लग रही है। पानी न मिलेगा। ऐसी बुरी मौत मुझे क्यों मिल रही है ? ईश्वर ! मैंने ऐसा क्या अपराध किया था ?"

करुणासागर ईश्वर कोबायाशी के दिल में उमड़ने लगा। आँखों से गंगा-यमना बहने लगी। सबसे बड़े मुंसिफ के हुजूर में लाठी और भैंसवाले न्याय के विरुद्ध वह रो-रो कर फ़रियाद कर रहा था। आँसू हलकान किए दे रहे थे। लम्बी-लम्बी हिचकियाँ बंध रही थी, जिनसे पसलियों को, और सारे शरीर को

बार-बार झटके लग रहे थे । इस तरह, रोने से दम घोटने वाला ज़हरीला धुँआ जल्दी-जल्दी पेट में जाता था। उसका जी मिचलाने लगा। उसके प्राण अटकने लगे।

—प्राणों के भय से एक लम्बी हिचकी को रोकते हुए जो साँस खींचीं तो कई पल तक वह उसे अन्दर ही रोके रहा; फिर सुबकियों में वह धीरे-धीरे टूटी । रो भी नहीं सकता !—कोबायाशी की आँखों में फिर पानी भर आया । कमजोर हाथ उठाकर उसने बेजान सी उँगलियों से अपने आँसू पोंछे ।

आँखों के पानी से उंगलियों के दो पोर गीले हुए; उतनी जगह में तरावट आयी । कोबायाशी की काँटों पड़ी जबान और हलक को फिर से तरावट की तलब हुई । प्यास बगूले-सी फिर भड़क उठी । हठात् उसने अपनी आँसूओं से नम उँगलियाँ ज़बान से चाट लीं । दो उँगलियों के बीच में बिखरी हुई आँसुओं की एक बूँद उसकी जबान का ज़ायका बदल गयी और उसे पछतावा होने लगा —इतनी देर रोया, मगर बेकार ही गया । उसकी फिर से रोने की तबीयत होने लगी; मगर आँसू अब न निकलते थे । कोबायाशी के दोनों हाथों में ताकत आ गयी । नम आँखों से लेकर गीले गालों के पीछे कनपटियों तक आँसू की एक बूंद जुटाकर अपनी प्यास बुझाने के लिए वह उँगलियाँ दौड़ाने लगा । आँसू खुश्क हो चले थे; और कोबायाशी की प्यास दम तोड़ रही थी ।

चक्कर आने लगे । गफ़लत फिर बढ़ने लगी । बराबर सुन्न पड़ते जाने की चेतना अपनी हार पर बुरी तरह से चिढ़ उठी और उसकी चिढ़ विद्रोह में बदलती गयी । गुस्सा शक्ति बनकर उसके शरीर में दमकने लगा—काबू से बाहर होने लगा । माथे की नसें तड़कने लगीं । वह एकदम अपने काबू से बाहर हो गया । दोनों हाथ टेक कर उसने बड़े ज़ोम के साथ उठने की कोशिश की । वह कुछ उठा भी । कमज़ोरी की वजह से माथे में फिर मूर्छा आने लगी । उसने सम्भाला: मन भी तन भी । दोनों हाथ मजबूती से ज़मीन पर टेके रहा । हाँफते हुए, मुँह से एक लम्बी साँस ली: और अपनी भुजाओं के बल पर घिसट कर वह कुछ और उठा । पीठ लगी तो घूम कर देखा—पीछे दीवार थी । उसने जिन्दगी की एक और निशानी देखी । कोबायाशी का हौसला बढ़ा मौत को पहली शिकस्त देकर पुरुषार्थ ने गर्व का बोध किया । परन्तु पीड़ा और जड़ता

का जोर अभी भी कुछ कम न था। फिर भी उसे शान्ति मिली। दीवार की तरफ देखते ही ध्यान बदला। सिर उठाकर ऊँचे देखा, दीवार टूट गयी थी। उसे आश्चर्यमय प्रसन्नता हुई। दीवार से टूटा हुआ मलबा दूसरी तरफ गिरा था। भगवान ने उसकी कैसी रक्षा की। जीवन के प्रति फिर से आस्था उत्पन्न होने लगी। टूटी हुई दीवार की ऊचाई के साथ-साथ उसका ध्यान और ऊँचा गया कि यह तो अस्पताल की दीवार है।—अभी अभी वह अपनी पत्नी को भर्ती कराके बाहर निकला था। सवेरे से उसे दर्द उठ रहे थे, नयी ज़िन्दगी आने को थी। पत्नि, जिसे बच्चा होने वाला था—डाक्टर,नर्स मरीजों के पलंग—डाक्टर ने उससे कहा था: 'बाहर जाकर इन्तजार करो!' वह फिर बाहर आकर अस्पताल के नीचे ही कंकड़ों की कच्ची सड़क पर सिगरेट पीते हुए टहलने लगा था। आज उसने काम से भी छुट्टी ले रक्खी थी। वह बहुत खुश था।—जब अचानक आसमान पर कानों के पर्दे फाड़ने वाला धमाका हुआ था। अंधा बना देने वाली तीव्र प्रकाश की किरणें कहीं से फूटकर चारों तरफ बिखर गयीं। पलक मारते ही काले धुँये की मोटी चादर बादलों से घिरे हुए आसमान पर तेजी से बिछती चली गई। काले धुँये की बरसात होने लगी। चमकते हुए विद्युकणात् सारे वातावरण में फैल गये थे। सारा शरीर झुलस गया; दम घुटने लगा था। सैंकड़ों चीखें एक साथ सुनाई दी थीं। इस अस्पताल से भी आयी होंगीं। दीवार उसी तरफ गिरी है और उन चीखों में उसकी पत्नि की चीख भी ज़रूर शामिल रही होगी——कोबायाशी का दिल तड़प उठा। उसे अपनी पत्नि को देखने की तीव्र उत्कंठा हुई।

होश में आने के बाद पहली बार कोबायाशी को अपनी पत्नी का ध्यान आया था। बहुत देर से जिसकी स्मृति खोई हुई थी, उसे पाकर कोबायाशी को एक पल के लिए राहत हुई। इससे उसकी उत्कंठा का वेग और भी तीव्र हो गया।

साल भर पहले उसने विवाह किया था। एक बर्ष का यह सुख उसके जीवन की अमूल्य निधि बन गया था। दु:ख, यातना और संघर्ष के पिछले चौबीस वर्षों के मरुस्थल से जीवन में आज की यह महायंत्रणा जुड़कर सुख-शांति के एक वर्ष को पानी की एक बूंद की तरह सोख गई थी।

बचपन में ही उसके माँ-बाप मर गये थे। एक छोटा भाई था जिसके भरण-पोषण के लिये कोबायाशी को दस बरस की उम्र में ही बुजुर्गों की तरह मर्द बनना पड़ा था। दिन और रात जी तोड़ कर मेहनत-मजूरी की, उसे शाहज़ादे की तरह पाल-पोस कर बड़ा किया। तीन बरस हुए वह फौज में भरती होकर चीन की लड़ाई पर चला गया। और फिर कभी न लौटा।

अपने भाई को खोकर कोबायाशी जिन्दगी से ऊब गया था। जीवन से लड़ने के लिये उसे कहीं से प्रेरणा नहीं मिलती थी। वह निराश हो चुका था। बेवा मकान-मालकिन की लड़की उसके जीवन में नया रस ले आयी। उनका विवाह हुआ…और आज उसके घर में एक नयी जिन्दगी आने वाली थी। आज सबेरे से ही वह बड़े जोश में था। उसके सारे जोश और उल्लास पर यह गाज गिरी! जहरीले धुएँ की तपिश ने उसके अन्तर तक को भून दिया था। वेदना असह्य हो गयी थी,—और चेतना लुप्त हो गयी।

अपनी पत्नी से मिलने के लिये कोबायाशी सब खोकर तड़प रहा था। वह जैसे बच गया वैसे ही भगवान ने शायद उसे भी बचा लिया हो। लेकिन दीवार तो उधर गिरी है।—"नहीं!"

--कोबायाशी चीख उठा। होश में आने के बाद पहली बार उसका कंठ फूटा था। सारे शरीर में उत्तेजना की एक लहर दौड़ गयी। स्वर की तेजी से उसके सूखे हुए निष्प्राण कंठ में खराश पैदा हुई। प्यास फिर होश में आयी। कोबायाशी के लिये बैठा रहना असह्य हो गया। अन्दरूनी जोम का दौरा कमजोर शरीर को झिंझोड़ कर उठाने लगा। दीवार का सहारा लेकर वह अपने पागल जोश के साथ तेजी से उठा। वह दौड़ना चाहता था। दिमाग़ में दौड़ने की तेजी लिये हुए, कमजोर और डगमगाते हुए पैरों से वह धीरे-धीरे अस्पताल के फाटक की तरफ़ बढ़ा।

फाटक टूट कर गिर चुका था। अन्दर मलबा-मिट्टी जमीन की सतह से लगा हुआ पड़ा था। कुछ नहीं—वीरान! जैसे यहाँ कभी कुछ बना ही न था। सब मिट्टी और खँड्हर! दूर-दूर तक वीरान—खाली! खाली! खाली! उसकी पत्नी नहीं है। उसकी दुनिया नहीं है। वह दुनिया जो उसने पच्चीस बरसों तक

देखी, समझी और बरती थी, आज उसे कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती। सपने की तरह वह काफ़ूर हो चुकी है।

मीलों तक फैली हुई वीरानी को देखकर वह अपने को भूल गया, अपनी पत्नी को भूल गया। इस महानाश के विराट शून्य को देखकर उसका अपनापन उसी में विलीन हो गया। उसकी शक्ति उस महाशून्य में लय हो गयी। जीवन के विपरीत यह अनास्था उसे चिढ़ाने लगी। टूटी दीवार का सहारा छोड़कर वह बेतहाशा दौड़ पड़ा। वह ज़ोर-ज़ोर से चीख रहा था; "मुझे क्यों मारा ? मुझे क्यों मारा ?"—मीलों तक उजड़े हुए हिरोशिमा नगर के इस खँडहर में लाखों निर्दोष प्राणियों की आत्मा बन कर पागल कोबायाशी चीख रहा था; "मुझे क्यों मारा ? मुझे क्यों मारा ?"

× × ×

कैम्प-अस्पताल में हज़ारों ज़ख्मी और पागल लाये जा रहे थे। डॉक्टरों को फ़ुर्सत नहीं, नर्सों को आराम नहीं, लेकिन इलाज कुछ भी नहीं हो रहा था। क्या इलाज करें ? चारों ओर चीख-चिल्लाहट, दर्द और यंत्रणा का हंगामा ! "गोरा—दुश्मन ! खुदा—दुश्मन ! बादशाह—दुश्मन !"—पागलपन के उस शोर में हर तरफ अपने लिये दर्द का, अपने परिवार और बच्चों के लिये सवाल था, जिसकी यह सजा उन्हें मिली है ! और दुश्मनों के लिए नफ़रत थी, जिन्हों-ने बिना किसी अपराध के उनकी जान ली।

अस्पताल के बरामदे में एक मरीज दहन फाड़कर चिल्ला उठा : "मुझे क्यों मारा ? मुझे क्यों मारा ?"

अस्पताल के इंचार्ज डॉक्टर सुजुकी इन तमाम आवाजों के बीच में खोये हुए खड़े थे। वह हार चुके थे। कल से उन्हें नींद नहीं, आराम नहीं, भूख-प्यास नहीं। ये पागलों का शोर, दर्द, चीख, कराह ! उनका दिल, दिमाग और जिस्म थक चुका था। अभी थोड़ी देर पहले उन्हें खबर मिली थी, नागासाकी पर भी एटम बम गिराया गया। वे इससे चिढ़ उठे थे, "क्यों नहीं बादशाह और वजीर हार मान लेते ? क्या अपनी झूठी आन के लिए वह जापान को तबाह कर देंगे ? उन्हें दुश्मनों पर भी गुस्सा आ रहा था। "इन्हें क्यों मारा गया ? ये किसी के

दुश्मन नहीं थे। इन्हें अपने लिये साम्राज्य की चाह न थी। अगर इनका अपराध है तो केवल यही कि यह अपने बादशाह के मजबूरन बनाये हुए गुलाम हैं। व्यक्ति की सत्ता के शिकार हैं। संस्कारों के गुलाम हैं। दुश्मन इन्हें मारकर खुश हैं। जापान की निर्दोष मूक जनता ने दुश्मनों का क्या बिगाड़ा था जो उन पर एटम बम बरसाये गये? विज्ञान की नयी खोज की शक्ति आजमाने के लिये उन्हें लाखों बेज़बान बेगुनाहों की जान लेने का क्या अधिकार था? क्या यह धर्म-युद्ध है?—सदादर्शों के लिये लड़ाई हो रही है? एटम का विनाशकारी प्रयोग विश्व को स्वतन्त्र करने की योजना नहीं, उसे गुलाम बनाने की ज़िद है। ऐसी ज़िद जो इन्सान को तबाह करके ही छोड़ेगी।—और इन्सानियत के दुश्मन कहते हैं कि एटम का आविष्कार मानव-बुद्धि की सब से बड़ी सफलता है। —पागल कहीं के!—"

नर्स आयी। उसने कहा, "डॉक्टर! सेन्टर से खबर आयी है, और नये मरीज भेजे जा रहे हैं।"

डॉक्टर सुजुकी के थके चेहरे पर सनक भरी सूखी हँसी दिखाई दी। उन्होंने जवाब दिया: "इन नये मुर्दा मरीजों के लिये नयी ज़िन्दगी कहाँ से लाऊँगा, नर्स? विनाश-लोलुप स्वार्थी मनुष्य शक्ति का प्रयोग भी जीवन नष्ट करने के लिये ही कर रहा है; फिर निर्माण का दूसरा ज़रिया ही क्या रहा? फेंक दो उन ज़िन्दा लाशों को, हिरोशिमा की वीरान धरती पर!—या उन्हें ज़हर दे दो! अस्पताल और डॉक्टरों का अब दुनिया में कोई काम नहीं रहा।"

नर्स के पास इन फ़िज़ूल की बातों के लिये समय नहीं था।—नये मरीज़ आ रहे हैं सैकड़ों अस्पताल में पड़े हैं। वह डॉक्टर पर झुँझला उठी।

"यह वक्त इन बातों का नहीं है डॉक्टर! हमें ज़िन्दगी को बचाना है। यह हमारा पेशा है, फ़र्ज़ है। एटम की शक्ति से हार कर क्या हम इन्सान और इन्सानियत को चुपचाप मरते हुए देखते रहेंगे? चलिये आइये, मरीज़ों को इंजेक्शन लगाना है, आगे का काम करना है।"

नर्स डॉक्टर सुजीकी का हाथ पकड़ कर तेजी से आगे बढ़ गयी।

उन्माद

भगवती चरण वर्मा

आपका जन्म शफीपुर जिला उन्नाव में सन् १९०३ में हुआ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल० एल० बी० की परीक्षायें पास कीं। कानपुर में जब आप सातवीं कक्षा में अध्ययन कर रहे थे तभी कुछ कविताओं को "प्रताप" में प्रकाशित कराया। उस वक्त आपकी अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी। सन् १९२१ में आपकी पहली कहानी "हिन्दी मनोरंजन" में प्रकाशित हुई। अब तक आपकी कविताओं के तीन संग्रह निकल चुके हैं। १९३१ में आपने कहानियाँ लिखने की ओर फिर ध्यान दिया और शीघ्र ही कहानी लेखकों में विशिष्ट स्थान बना लिया। 'इंस्टालमेंट' 'दो बाँके' (कहानी संग्रह) "चित्र लेखा' 'टेढ़मेड़ा रास्ता' 'भूले बिसरे चित्र' 'सीमा और सामर्थ्य' (उपन्यास) आदि आपकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं 'चित्रलेखा' उर्दू में छप कर मकबूल हो चुका है और रेखाँकित उपन्यास पर साहित्य अकादमी ने आपको पाँच हजार का पुरस्कार दिया है।

वर्मा साहब पुरानी तहज़ीब और शराफ़त का नमूना है। वार्तालाप में माहिर और उस्तादजहन है। ज़बान से बेशक इकरार न करें मगर अपने को दौरे-हाज़रा का 'जीनियस' खयाल फरमाते हैं। शायद यह इस बातका नतीजा है कि इनकी कोई हॉबी नहीं; लेकिन मैंने इनके बंगले पर एक शिकारी कुत्ता ज़रूर देखा था।

उभरते और मिटते हुए चित्र, डूबती और उतरती हुई भावनायें—सब-कुछ अस्पष्ट, नितान्त अनजाना और अर्थहीन ! अजीब थकावट-सी वह महसूस कर रहा था, तन की नहीं, मन की। रह-रहकर उसका मन किसी अज्ञात आशंका से सिहर उठता था। उसके हाथ में जो रोचक जासूसी उपन्यास था, उसे वह पढ़ने का प्रयत्न तो कर रहा था, लेकिन जैसे वह समझ नहीं पा रहा कि उसमें क्या लिखा है। और तभी उसके कम्पार्टमेण्ट का दरवाज़ा खुला।

एक युवक ने कम्पार्टमेण्ट में प्रवेश किया। उसके साथ कुली के सिर पर उसका असबाब था। कुली ने सामनेवाली बर्थ पर युवक का बिस्तर लगा दिया। असबाब उसने बर्थ के नीचे रख दिया। इस सब काम में कुली की सहायता एक लड़की ने की, जो उस युवक के साथ थी। पैसे लेकर कुली चला गया।

उसने अब अपने ऊपर जो एक बोझ-सा था, उसे हलका होते अनुभव किया। किताब उसने रख दी और उस युवक पर नज़र डाली। उस युवक के मुख पर एक तरह का तनाव था। वह करीब सत्ताईस-अट्ठाईस साल का लम्बा-सा व्यक्ति था, खुलते हुए गेहुंए रंग का। वह यदि सुन्दर नहीं कहा जा सकता था, तो कुरूप भी नहीं कहा जा सकता था, और उसके सामान को देखने से पता चलता था कि वह सम्पन्न है और सुरुचिपूर्ण है।

और तभी उसे उस युवक के साथवाली स्त्री का स्वर सुनाई पड़ा, "इस तरह से निराश और नाराज़ होने से तो काम नहीं चलेगा, सतीश ! जीवन सुन्दर सपना नहीं है, बड़ा कठोर सत्य है यह जीवन ! और इस जीवन की ऊपर दिखनेवाली सुन्दरता के नीचे एक भयानक कठोरता है।"

उसकी दृष्टि अब उस स्त्री पर पड़ी, जिसे उसने अब तक देखते हुए भी नहीं

देखा था। वह चौबीस-पच्चीस वर्ष की एक युवती थी, स्वस्थ और सुन्दर। उसरा रंग गोरा था और उसकी आँखों में आत्मविश्वास की चमक थी।

एकाएक वह युवक, जिसका नाम सतीश था, फूट पड़ा, "तुम मेरे साथ स्टेशन क्यों आई? जब सब-कुछ समाप्त ही हो गया है, तब ममता के इस प्रदर्शन से क्या लाभ? आखिर कौनसा अपराध था मेरा, जिसका मुझे दण्ड मिल रहा है? गीता, तुम जानती हो कि मेरे जीवन में तुम्हें छोड़कर किसी स्त्री को स्थान नहीं मिल सकता।"

गीता के मुख पर एक करुण मुस्कराहट आई, "मुझे गलत न समझना सतीश! तुम शायद यह समझ ही न पाओगे कि तुम्हारे प्रेम के कारण मैं अपना जीवन नष्ट कर रही हूँ। तुम्हारा भविष्य है—जीवन में तुम्हारे लिये बहुत-कुछ है, जिसे प्राप्त करने में मैं तुम्हारे जीवन में एक भयानक बाधा बनकर ही आ सकती हूं। मैं तुम्हें सुखी देखना चाहती हूँ—तुम्हें सम्पन्न देखना चाहती हूँ। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं आजन्म एक कुमारी अध्यापिका बनकर अपना जीवन बिता दूँगी, जिन्दगी-भर तुम्हारी याद करते हुए।" और उसे ऐसा लगा कि गीता का स्वर लड़खड़ाने लगा है।

सतीश ने गीता का हाथ पकड़कर कहा, "नहीं गीता, मैं तुम्हें अपने जीवन से किसी हालत में नहीं जाने दूँगा, चाहे जो कुछ हो जाए। मैं किसी की परवाह नहीं करता, किसीकी नहीं।"

पागल मतबनो सतीश! तुम्हारे पिता ने जिस लड़की के साथ तुम्हारा विवाह तय कर दिया है, उसके पिता के प्रभाव से ही तुम्हें इतनी अच्छी नौकरी मिली है। और तुम्हारी भावी पत्नी को मैंने देखा है, वह सुन्दर है, नेक है। तुम उसके साथ सुखी रहोगे। अपने पिता और अपने परिवारवालों की इच्छा पर चलने में ही तुम्हारी भलाई है, तुम्हारे जीवन की सफलता है और तुम्हारी भलाई तथा सफलता ही मेरे प्रेम का आधार-मूल उद्देश्य है। मैं तुम्हें पत्र नहीं लिखूँगी, मैं तुम से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखूँगी "ताकि तुम मुझे पूर्ण रूप से अपने जीवन से निकाल बाहर कर सको। तुम यह भूल जाओ कि गीता नाम की कोई स्त्री क भीतुम्हारे जीवन में आई थी।" और यह कहते-कहते गीता सतीश से अपना

हाथ छुड़ाकर कम्पार्टमेण्ट के बाहर चली गई। उसी समय गाड़ी ने सीटी दी।

सतीश हतप्रभ और विमूढ़-सा गीता को एक क्षण तक देखता रहा, और फिर अचानक ही वह गीता को रोकने के लिए आगे बढ़ा। पर कम्पार्टमेण्ट के द्वार तक पहुंचते-पहुँचते वह रुक गया। गाड़ी रेंगने लगी थी और गीता तेज़ी के साथ प्लेटफ़ार्म पर फाटक की ओर बढ़ी चली जा रही थी।

उसने एक ठंडी साँस ली और वह अपने बिस्तर पर लेट गया। उसके अन्दर एक तरह की संवेदना जाग पड़ी थी, गीता के प्रति या सतीश के प्रति—इसका निर्णय देना उसके लिये कठिन था। सतीश भारी कदमों से वापस लौटकर अपनी बर्थ पर बैठ गया—गुम-सुम. और तभी उसके मुख से निकल पड़ा, "तुम बड़े भाग्यशाली हो मेरे दोस्त !"

सतीश उसकी बात सुनकर चौंक उठा, शायद उसे पता चला कि उसके कम्पार्टमेण्ट में एक और आदमी है। उसने अपने सहयात्री की ओर देखा—एक अधेड़-सा आदमी उसके सामनेवाली बर्थ पर लेटा था, जिसकी अवस्था निश्चय ही पचास वर्ष से ऊपर रही होगी। वह छरहरे बदन का लम्बा-सा आदमी था और उसके मुख पर एक प्रकार का तीखापन था। उस आदमी की आँखें ऊपरी ढंग से बुझी-बुझी-सी दिखते हुए भी कभी-कभी अजीब ढंग से चमकने लगती थीं। उसकी बात सतीश को अच्छी नहीं लगी, "मैं आपकी बात समझा नहीं !"

उसने इस बार बड़े शान्त-स्वर में कहा, "मैंने केवल इतना कहा था कि तुम बड़े भाग्यशाली हो !"

सतीश का मुख क्रोध से तमतमा उठा, "आप गीता पर लाँछन लगा रहे हैं ! क्या आप जानते हैं उसे ?"

वह उठकर बैठ गया और उदास स्वर में बोला, "मुझे क्षमा करना दोस्त ! मैं तुम्हारी गीता को बिलकुल नहीं जानता। अगर मैं उसे जानता होता, तो मैं निश्चय ही अपने को भाग्यशाली समझता। वह स्त्री नहीं, देवी है।"

सतीश के चेहरे का तनाव कम हुआ, लेकिन उसके स्वर की कठोरता वैसी-की-वैसी बनी रही, "और इस देवी के मेरे जीवन से निकल जाने पर आप मुझे

भाग्यशाली कहते हैं! इसका अर्थ यह हुआ कि आप मेरा मज़ाक उड़ा रहे हैं।"

सतीश को अपनी बात का कोई उत्तर नहीं मिला। उसने देखा कि वह व्यक्ति आँखें बन्द किये चुपचाप बैठा है। "आप बोलते क्यों नहीं? आप शायद यह नहीं जानते कि गीता के प्रेम के अभाव में मेरा जीवन नष्ट हो गया है। आप फिर भी मुझे भाग्यशाली कहते हैं!"

उस व्यक्ति ने अपनी आँखें खोलीं, और सतीश ने उसके मुख पर असीम वेदना की छाया देखी। वह बड़े थके हुए स्वर में कह रहा था, "प्रेम ही मनुष्य के जीवन में सब-कुछ नहीं है मेरे दोस्त! जहाँ तक मैं समझता हूँ, तुम्हारा नाम सतीश है। तो सतीश, मैं तुम से कह रहा था कि स्त्री से वासनामय प्रेम—यह जीवन की सबसे बड़ी कटुता साबित हो सकती है। यह वासनामय प्रेम प्राय: पागलपन का रूप धारण कर लेता है, जिसमें हम जीवन की अनगिनत महत्त्व-पूर्ण चीज़ों को भूल जाते हैं।"

सतीश उबल पड़ा, "यही पागलपन तो ज़िन्दगी है।"

बड़े करुण-भाव से उस व्यक्ति ने अपना सिर हिलाया, "एक समय मैं भी ऐसा ही समझता था—हम सब किसी-न-किसी समय ऐसा समझने लगते हैं, लेकिन यह सत्य नहीं है। अधिकांश लोग इस पागलपन को छोड़ देते हैं, लेकिन तब, जब इस पागलपन से जीवन बुरी तरह टूट जाता है। तब पछतावे के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता। और सतीश, वह गीता—वह हमसे अधिक बुद्धि-मान है। वह जानती है कि प्रेम को संयत रहना चाहिये, प्रेम का पागलपन बन जाना प्रेम की विकृति है। तुम्हारे साथ मेरी पूर्ण सहानुभूति है, फिर भी मैं तुम्हें सौभाग्यशाली समझता हूँ।" और यह कहकर वह कुछ अजीब थकान के साथ अपने तकिये पर टिक गया और अपनी आँखें बन्द कर लीं।

कुछ देर तक वह इसी मुद्रा में कुछ सोचता रहा, फिर उसने अपना सिर उठाकर आँखें खोलीं, "तुम शायद इसका बुरा मान गए कि मैंने तुम्हें भाग्यशाली कहा, लेकिन अगर तुम जानते होते कि किन परिस्थितियों में बिना किसी से कुछ कहे हुए मैं इस चहल-पहल से भरे हुए दिल्ली नगर से भाग रहा हूँ, तो तुम मेरी बात का बुरा न मानते। तुमने इस वासनामय प्रेम के पागलपन का दूसरा

पहलू नहीं देखा है, अभी तुम्हारी अवस्था बहुत कम है और तुममें अनुभवों की कमी है, और इसीलिए तुम मेरी भाँति अभिशप्त नहीं हो पाए हो।"

उस व्यक्ति के स्वर में जो घुटन और करुणा थी, उसे सतीश ने स्पष्ट रूप से अनुभव किया, "मुझे क्षमा कीजिएगा। मैं क्रोध और दुख के आवेग में कुछ उचित-अनुचित कह गया। आप बहुत अधिक दुखी दीखते हैं।"

गाड़ी तेजी के साथ चली जा रही थी और अप्रैल के प्रथम सप्ताहवाली रात की हवा में एक प्रकार का पुलक आ गया था। उस आदमी के मुख पर करुण मुस्कान आई, "नहीं, मैं दुखी नहीं हूँ, संज्ञा हीन हूँ। तुम्हें शायद मेरी बातें पहेली की तरह मालूम हो रही हों, लेकिन जीवन का हरेक सत्य खुलने के पहले पहेली ही रहा करता है। तुम शायद मेरी कहानी सुनना चाहोगे—इस कहानी को सुनने के बाद सम्भव है तुम अपना दुख भूल जाओ, और कम-से-कम तुम इतना तो समझ ही पाओगे कि मैंने तुम्हें क्यों भाग्यशाली कहा।"

मेरा नाम मधूसूदन शर्मा है—शायद तुमने मधूसूदन शर्मा का नाम कहीं सुना हो, यदि तुम्हें चित्रकला में रुचि है। चित्रकार मधुसूदन का नाम दिल्ली में अब उतना नहीं है, जितना दस साल पहले था, जब मैं यहाँ रहता था और कनॉट प्लेस में मेरा स्टुडियो था। बड़ा शानदार स्टुडियो था मेरा, और दिल्ली के समाज में मेरा ऊँचा स्थान था। हर सांस्कृतिक समारोह या उत्सव में मुझे निमन्त्रण मिलता था। मधुसूदन का एक सशक्त व्यक्तित्व था। लेकिन मैं तुम्हें यह बतला दूँ कि ख्याति और सम्पन्नता में कोई सम्बन्ध नहीं। मेरा नाम था, समाज में मेरा स्थान था, लेकिन मेरी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। दिल्ली के लम्बे खर्चों को चलाने के लिए मुझे न जाने कितने कष्ट सहने पड़ते थे, मैं एक छोटे-से कमरे में रहता था, उस कमरे का किराया बहुत काफ़ी था। अपने परिवार को यहाँ लाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था।

मैं बनारस का रहनेवाला हूँ और बनारस में मेरी थोड़ी-बहुत सम्पत्ति है। मेरी पत्नी और मेरे चार बच्चे वहीं रहते थे। सम्पत्ति से जो आय थी, वह परिवार के भरण-पोषण में ही खर्च हो जाती थी। एक अजीब तरह के अभाव में मैं अपने दिन काट रहा था यहाँ पर, मेरी ख्याति धीरे-धीरे बढ़ रही थी, और

मेरे चित्र भी बिकने लगे थे।

एक दिन मेरे स्टुडियो में एक स्त्री आई। उसकीअवस्था तीस वर्ष से ऊपर ही रही होगी। वह यहाँ के एक सुसम्पन्न व्यक्ति की पत्नी है और उसकी समाजक प्रतिष्ठा है। मैं उस स्त्री का नाम न बतलाऊँगा—सुविधा के लिए तुम उस का नाम नीलिमा समझलो। तो नीलिमा को चित्र-कला से शौक था, जैसा-कि सुसम्पन्न परिवार की स्त्रियों और लड़कियों को हुआ करता है। वह स्वयं भी चित्र बनाती थी और उसे चित्रकला की परख थी। उसने मेरे दो चित्र खरीदे बिना किसी प्रकार का मोल-भाव किये हुए।

मैंने चपरासी से उन दोनों चित्रों को पैक करने को कहा, और मैंने दो प्याले कॉफ़ी मँगाई। नीलिमा मेरे सामने कुरसी पर बैठ गई और उसने तत्काल उन चित्रों के मूल्य का चैक काटकर मुझे दे दिया। चेक को अपनी जेब में रखकर मैंने कॉफ़ी बनाई, और हम दोनों कॉफ़ी पीने लगे। कॉफ़ी पीते हुए मैंने नीलिमा को गौर से देखा और एकाएक मेरे शरीर में एक सिहरन-सी दौड़ गई। वह मेरी ओर एकटक देख रही थी—उफ़ कितनी मादक और हृदय तक पहुँच जाने वाली नज़र थी वह उसकी! उसकी बड़ी-बड़ी गहरी काली आँखों में एक प्रकार का सम्मोहन था। और मुझे ऐसा लगा कि वैसी मादक सुन्दरता मैंने जीवन में पहले कभी न देखी थी। वैसे एक चित्रकार की हैसियत से मैं कह सकता हूँ कि उसकी मुखाकृति में कोई विशेष बात नहीं थी, उसके मुख का कोई भी भाग—होंठ, नाक, आँख, कान—बहुत अधिक सुन्दर नहीं कहा जा सकता था, लेकिन उसके मुख की कढ़न में एक अजीब सम्पूर्णता थी, मुख के हरेक भाग में सामंजस्य का संयुक्त अनुपात था। जब वह हँसती थी, तो ऐसा लगता, मानों हिम की फुहार पड़ रही हो; जब वह देखती थी, तब मालूम होता था कि सम्मोहन की एक धारा प्रवाहित हो रही है।

नीलिमा बोलती बहुत कम थी, लकिन जब वह बोलती थी, तब ऐसा लगता कि एक मधुर संगीत की लहरियाँ हवा में तैर रही हैं। मुझसे प्रश्न कर रही थी, छोटे-छोटे, और उसी मुग्ध भाव से वह मेरे उत्तरों को सुनती थी, जिस मुग्ध-भाव से उसने मेरे चित्रों को देखा था और अनजाने ही मैं अपने को नीलिमा में खोता

चला जा रहा था।

चपरासी ने चित्र पैक कर दिये और मैं उसे उसकी गाड़ी तक पहुँचाने उस के साथ गया। गाड़ी पर बैठते हुए उसने कहा, "मधुसूदनजी, अगर रविवार को सुबह आप मेरे यहाँ चाय पियें, तो मुझ पर आपकी कृपा होगी आप मेरे बनाये हुए चित्रों को देखियेगा—मैं आप से जानना चाहूँगी कि मुझ में क्या कमी है।"

रविवार को सुबह मुझे अपने एक मित्र के साथ पिकनिक पर जाना था, लेकिन नीलिमा का निमन्त्रण मैं अस्वीकार न कर सका। उसने फिर कहा, "आप अपने मकान का पता बतला दीजिये, मैं कार पर आकर आपको ले जाऊँगी।"

मैंने उत्तर दिया, "आप आने का कष्ट न करें, मैं स्वयं चला आऊँगा। आप मुझे अपना पता दे दें।"

और रविवार के दिन ठीक समय पर मैं नीलिमा के यहाँ पहुँचा। वह बरा-मदे में मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे नमस्कार करते हुए उसने मुझसे कहा, "मुझे इस बात का भय था कि कहीं आप न आयें। आइये, सब लोग आप की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

मैंने ड्राइंग रूम में प्रवेश किया, और उसके पति ने उठकर मेरा स्वागत किया, "आइये मधुसूदन जी, आपका स्वागत है। आप-जैसे मशहूर चित्रकार से मिलकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई! पधारिये!"

मैंने उसके पति को देखा—साधारण शक्ल का मोटा-सा आदमी, जिसके बाल सफ़ेद होने लगे थे और जिसके मुख पर किसी प्रकार का कोई भाव नहीं था। वह एक लम्बा-सा स्वस्थ व्यक्ति था और बड़े शानदार कपड़े पहने था। उसके शब्दों में एक प्रकार के अहंकार की छाया थी—मैंने यह अनुभव किया। वैसे वह ऊपरी ढंग से बड़ा शिष्ट और विनीत था, जैसा कि हरेक सफल और सम्पन्न व्यापारी होता है।

मैंने बैठकर कमरे में बैठे हुए बच्चों पर नज़र डाली। सबसे बड़े लड़के की उम्र प्राय: बारह साल की थी और वह काफ़ी बुद्धिमान और संयत था। छोटा लड़का लगभग नौ साल का था और वह काफी चंचल और उद्धत था। और

नीलिमा की लड़की—प्रायः छः साल की, लेकिन कितनी सुन्दर और भोली! बिलकुल नीलिमा की प्रतिरूपा थी।

सारा परिवार बड़ी अच्छी तरह मुझसे मिला। चाय समाप्त होने पर नीलिमा के पति ने मुझसे कहा, "मुझे तो क्षमा कीजिएगा, मुझे डायरेक्टरों की एक मीटिंग में जाना है।" और बिना मेरी प्रतीक्षा किये हुये वह चला गया। नीलिमा ने थोड़े से उदास स्वर में मुझसे कहा, "इन्हें तो बस कारबार—कारबार—कारबार! फ़ुरसत ही नहीं मिलती इनको कि कला, साहित्य और संगीत में रस लें। अब आप मेरे चित्र देखिये।"

बच्चे खेलने के लिए चले गए और मैं काफी देर तक उसके चित्रों को देखता रहा। कुछ चित्र सुन्दर थे, लेकिन नीलिमा में अभ्यास का अभाव था। चित्रों को देखकर उनपर अपना मत देकर मैं उठ खड़ा हुआ, "अब मैं चलूँगा, कुछ मित्रों के साथ पिकनिक कार्यक्रम था—देर हो गई।"

"मेरा बड़ा भाग्य कि आपने मेरे लिए अपना इतना सुन्दर कार्यक्रम छोड़ दिया! दूसरे-तीसरे दिन आप आ जाया कीजिए—मुझे कुछ बतलाने के लिए। बोलिए, इतनी कृपा आप मुझ पर कर सकेंगे?"

और मेरे मुख से निकल पड़ा, "निश्चय! मैं आपको वचन देता हूँ।"

●

अपने व्यस्त जीवन में नीलिमा को मैंने जो वचन दिया था, वह भूल गया। सम्पन्न घर की स्त्रियों के इशारों पर खेलने की न मेरी उम्र थी और न मुझमें प्रवृत्ति थी। और अगले आठ दिन बाद शाम के समय जब मैं स्टुडियों से घर जानेवाला था, नीलिमा ने मेरे स्टुडियो में प्रवेश किया।

"आपने अपने वचन का पालन नहीं किया। आठ दिन तक मैं आपकी प्रतीक्षा करती रही, और फिर मैंने सोचा कि शायद आप अस्वस्थ हों, इसलिए मैं स्वयं चली आयी।"

मैं लज्जा से गड़ गया—कितनी ममता थी उसमें मेरे प्रति, और मैं नीलिमा की ममता को देख न सका। मैंने झूठ बोलने का प्रयत्न किया, "हाँ, इधर बीच में तबीयत कुछ खराब हो गई थी, अब तो ठीक हूँ; फिर इन दिनों मैं व्यस्त भी

बहुत रहा।"

"क्यों झूठ बोलते हैं आप ? यह कहिए कि आपने मेरे यहाँ आना ही नहीं चाहा, वह आपके चेहरे पर साफ अंकित है।" और यह कर वह कुरसी पर बैठ गई।

उसी समय चपरासी ने आकर मुझसे कहा, "सब ठीक तरह से बन्द कर दिया है।"

नीलिमा ने पूछा, "क्या आप घर जाने वाले हैं ? तो फिर मैं बड़े समय से आई, नहीं तो मुझे निराश ही जाना होता।"

"हाँ, मैं छः बजे स्टूडियो बन्द कर देता हूँ—कभी-कभी इससे भी पहले। पाँच मिनट की भी देर हो गई होती, तो मुझे आप यहाँ न पाती। लेकिन जब आप आई हैं, तो बैठिये, मैं कॉफी मँगवाता हूँ एक-एक कप कॉफी पीकर हम चलेंगे, तब आपसे बातें होंगी।"

नीलिमा ने उठते हुए कहा, "नहीं, चलिये, मैं आपके साथ आपके घर चलूँगी। वहीं आप कॉफी पिलाइयेगा। मैं आपकी पत्नी से मिलना चाहती हूँ, आपके बच्चों से मिलना चाहती हूँ"

मैं मुस्कराया, "मेरी पत्नी और मेरे बच्चे बनारस में हैं, मैं एक छोटे से कमरे में अकेला रहता हूँ।"

विस्फारित नेत्रों से देखते हुये उसने कहा, "तो आप नौकरों के सहारे रहते हैं ! मैं आपके घर चलूँगी। देखूँगी, आप किस तरह रहते हैं !" और यह कह कर उसने मेरे चपरासी से एक टैक्सी मँगवाई। उस दिन वह अपनी कार में नहीं आई थी, "क्या बतलाऊँ, मेरे पति मेरठ गये हैं कार लेकर !"

मेरे दोस्त तुम अनुभव नहीं कर सकते, मुझे कितना आश्चर्य हुआ उसकी बात सुनकर ! मैंने दबी जबान में कहा, 'क्या आपका मेरे घर चलना उचित होगा ?"

वह मुस्कराई, "क्या उचित है और क्या अनुचित है, इसकी चिन्ता ही क्यों की जाए ! अगर आपको कोई खास आपत्ति नहीं है, तो सब कुछ उचित है।"

टैक्सी इस समय तक आ गई थी। हम दोनों टैक्सी पर बैठ गये।

●

और मेरे दोस्त तुम अनुमान कर सकते हो कि इसके बाद क्या हुआ ! हम दोनोंवासना के उन्माद में बह रहे थे। मैंने उसे समझाने का प्रयत्न किया, लेकिन समझा वह सकता है, जो स्वयं होश में हो। वह बेहोश थी और उसकी बेहोशी से मैं भी बेहोश हो गया। हम दोनों की घनिष्ठता बड़ी तेजी के साथ बढ़ी। बिना मुझसे मिले उसे चैन नहीं पड़ता था—अजीब तरह का आत्मसमर्पण का भाव था उसमें मेरे प्रति !

और उसके प्रेम तथा आत्मसमर्पण की प्रतिक्रिया मुझ पर भी पड़ी। लेकिन यह वासनामय प्रेम ही तो सब कुछ नहीं है। मेरी पत्नी थी, मेरे बच्चे थे, समाज में मेरा भी एक स्थान था—ठीक उसी तरह, जिस तरह उसका पति था, उसके बच्चे थे, उसका परिवार था। हम दोनों समाज के सामने मिलते थे। और मिलन के ये दोनों रूप कितने भिन्न थे।

पता नहीं नीलिमा के पति को उसके मुझसे प्रेम का शक था या नहीं। जहाँ तक मैं समझता हूं अपने व्यापार में और धन-संग्रह में खोया आदमी था वह, भावना के क्षेत्र से अलग। लेकिन मेरे मित्रों और हितैषियों को हम दोनों के सम्बन्ध में कुछ शक अवश्य हो गया था। कितना भी छिपाया जाए, प्रेम छिपाए नहीं छिपता। मैं अपने मित्रों के सन्देहों का हँसकर निराकरण कर देता था। और इस तरह दो वर्ष तक लगातार हमारा यह प्रणय बिना किसी विघ्न-बाधा के सफलतापूर्वक चलता रहा।

इन दो वर्षों में मेरा भाग्य चमक उठा था, मेरे चित्रों की जनता में माँग थी। मित्रों और हितैषियों के आग्रह से मैंने एक फ़्लैट ले लिया, और अब मुझे अपने परिवार की याद आने लगी। मेरा बड़ा लड़का बनारस विश्वविद्यालय छोड़कर इंजीनियरिंग की शिक्षा लेने अमरीका चला गया था, छोटा लड़का दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ना चाहता था। तीसरा लड़का हाई स्कूल में था, उसके लिये जैसा बनारस में पढ़ना, वैसा दिल्ली में पढ़ना। और मेरी लड़की का विवाह मेरठ में तय हो गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि मैंने अपने परिवार को दिल्ली बुला लिया।

●

मेरी वासना तृप्त हो चुकी थी, मेरे जीवन में अब मेरा परिवार था, मेरी कला थी। दिल्ली में मेरे परिवार के आजाने से हम दोनों के मिलने में व्याघात पहुँचने लगा। और इस व्याघात के साथ-साथ नीलिमा का प्रेम और अधिक उद्दाम होता गया। अब वह मुझे अपने घर में बुलाती थी—अपने बच्चों के सामने अपने पति के सामने वह गहरी आत्मीयता के साथ मुझसे मिलती थी। वह मेरे साथ सिनेमा जाने लगी, होटलों में जाने लगी। समाज में हम दोनों के सम्बन्ध को लेकर कानाफूसी शुरू हो गई। मैं इससे बुरी तरह घबरा गया, लेकिन जैसे नीलिमा को इस सबकी कोई परवाह नहीं थी। एक दिन मैंने उससे कहा कि हमें अब मिलना-जुलना कम कर देना चाहिए—इस बदनामी से बचने के लिये। और सतीश, मेरे दोस्त, वह एकाएक उबल पड़ी, "कैसी बदनामी मधु ? मैं तुम से प्रेम करती हूँ। इस दोहरे जीवन से अब मैं ऊब गई हूँ, मैं तुम्हारे साथ रहना चाहती हूँ खुलकर। मैं अपने पति को छोड़ने को तैयार हूँ, मैं अपने बाल-बच्चों को छोड़ने को तैयार हूँ। एक तुम—बस, तुम्हें ही पाकर मैं रहना चाहती हूँ।"

मैंने उत्तर दिया, "नीलिमा, तुम यह सब कर सकती हो, लेकिन मैं तो यह सब नहीं कर सकता। यह प्रेम नहीं पागलपन है।"

और उसने उत्तर दिया था, "यही पागलपन ज़िन्दगी है ! मैं सब-कुछ छोड़ सकती हूँ, तुम्हें नहीं छोड़ सकती।"

उसकी बात सुनकर मेरे हृदय को एक धक्का-सा लगा। वास्तव में यह प्रेम नहीं था, यह उन्माद था। अभी तुमने कहा था मेरे दोस्त कि यही पागलपन ज़िन्दगी है, और मैं कहता हूँ कि यह झूठ है। यह पागलपन अस्तित्व का निषेध है—यह विनाश है। तुम किस-किसको छोड़ सकते हो ? और तुम कहाँ तक सीमित हो सकते हो ? हम सब सामाजिक प्राणी हैं। दो आदमी समाज की अवज्ञा करके कब तक और कहाँ तक एक साथ रह सकते हैं ?

मैं नीलिमा से दूर हटना चाहता था। हम दोनों के अलग होने ही में दोनों का कल्याण था। नीलिमा भी कभी-कभी यह अनुभव करती थी, लेकिन वह अपने ही से विवश थी। हम दोनों जितना अधिक एक-दूसरे से हटना चाहते थे,

उतना ही एक-दूसरे के पास आते जाते थे ।

×

मेरे दोस्त, ऐसी हालत में मुझे कुछ-न-कुछ निर्णय करना ही था । मेरा सारा अस्तित्व खतरे में था और एक अजीब तरह का भय समा गया था मेरे अन्दर। और फिर मैंने इस समस्या को हल करने का क़दम उठा लिया । वह क़दम था—पलायन । मैंने बिना किसीको बताये हुये विदेश-यात्रा का कार्यक्रम बनाया जिस दिन मुझे हवाई जहाज़ लेना था, उसके एक दिन पहले मैं नीलिमा के घर पहुँचा। वह अकेली थी । "इधर तीन-चार दिन से तुम मुझसे नहीं मिले, मैं आज दोपहर को तुम्हारे स्टूडियो गई थी, अजीब उजाड़ हालत में पड़ा था । चपरासी ने बतलाया कि तुम ग्यारह बजे निकल गये—बिना बताये हुए कि तुम कहाँ जा रहे हो !" उसने मुझसे शिकायत की ।

और तब मैंने कहा, "नीलिमा, मैं तुमसे विदा माँगने आया हूँ। मैं कल हवाई जहाज़ से लन्दन जा रहा हूँ ।"

नीलिमा थोड़ी देर तक मुझे ग़ौर से देखती रही, "तुमने मुझसे अभी तक यह बात छिपाई—इसके मानी यह है कि तुम···तुम···" और वह अपनी बात पूरी न कर सकी, उसकी आँखों में अनायास ही आँसू भर आए ।

"हाँ नीलिमा, मैंने तुमसे यह बात छिपाई, दुनिया से यह बात छिपाई, अपने बीबी-बच्चों से यह बात छिपाई । हो सकता, तो मैं अपने से भी यह बात छिपाता। मैं इस दिल्ली से भाग रहा हूँ, मैं तुमसे भाग रहा हूँ, मैं अपने से भाग रहा हूँ ।"

नीलिमा ने अपनी आँखें पोंछीं, "तुम शायद ठीक कह रहो मधु, इसी में शायद हम दोनों का कल्याण है । कब वापस लौटोगे ?"

"कह नहीं सकता । विदेश जाकर मैं अपना भावी कार्यक्रम बनाऊँगा । हाँ इतना निश्चय है कि मैं अब दिल्ली नहीं वापस लौटूंगा । वहाँ से अपने परिवार-वालों को बनारस लौट जाने को लिख दूंगा ।"

थोड़ी देर चुप रहने के बाद नीलिमा ने कहा, "तो फिर हमारे प्रेम का यह अन्त है—मैं समझ लूं !"

"नहीं नीलिमा, प्रेम आत्मा से होता है—शरीर का धर्म है, वासना । यह

हमारी वासना का अन्त है, प्रेम तो मैं बराबर करता रहूँगा।"

नीलिमा हँस पड़ी, अजीब रूखी-सी हँसी, "शरीर...आत्मा...! मैं इनका भेद नहीं जानती, जानना भी नहीं चाहती। आत्मा शरीर के माध्यम में ही स्थित है। जो शरीर का धर्म है, वही आत्मा का धर्म है। लेकिन छोड़ो इस बात को—मैं इतना कह सकती हूँ कि तुम कायर हो।"

और यह कहकर वह तेज़ी से घर के अन्दर चली गई। मैं चुपचाप श्रीहत-सा वापस लौट आया।

×

मैं इंगलैण्ड गया, फ्राँस गया, अमरीका गया और हर जगह मुझे सफलता मिली, पत्रों में मेरे फ़ोटोग्राफ़ छपे, मेरी प्रशंसाएँ छपीं। मेरे परिवारवालों को मुझ पर गर्व था। पाँच वर्ष मैंने विदेशों में बिताये और ये पाँच वर्ष अतीव व्यस्तता के वर्ष थे।

पर नीलिमा की छाया मेरे साथ थी, उसे मैं नहीं भूल सकता था। वह कैसी होगी, कहाँ होगी, क्या कर रही होगी, उसके जीवन का क्रम क्या होगा—ये प्रश्न लगातार मेरे मन में उठते थे। पर उसे पत्र लिखने का मुझे साहस नहीं होता था। मैं उसे भूलना चाहता था, लेकिन उसे भूल नहीं पा रहा था। और धीरे-धीरे नीलिमा को एक बार देखने की, उससे फिर मिलने की अभिलाषा मेरेमन में इतनी प्रबल हो गई कि मैं अपने देश वापस लौटा। हवाई जहाज़ से उतरकर मैंने एक होटल में अपना असबाब रखा और सीधा नीलिमा के घर गया।

उस समय शाम के पाँच बजे थे, नीलिमा मुझे देखकर चौंक पडी, "आप! कब आये आप?"

"दोपहर के हवाई जहाज से वापस लौटा हूँ। होटल में असबाब रखकर सीधा तुम्हारे यहाँ चला आ रहा हूँ। तुम अच्छी तरह तो हो?"

मेरा यह प्रश्न व्यर्थ का प्रश्न था। नीलिमा स्वस्थ थी, प्रसन्न थी। वह उतनी ही सुन्दर दिख रही थी, जैसी वह मेरे जाने के पहले थी, शायद कुछ अधिक ही सुन्दर हो गई हो। उसका शरीर कुछ फैलने लगा था। उसने मुस्क-

राते हुए कहा, "आप देख तो रहे हैं कि मैं स्वस्थ हूँ और मुझमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। और मैं यह भी बतला दूँ कि मैं प्रसन्न हूँ, बहुत सुखी हूँ। आइए, ड्राइंग रूम में बैठें।"

ड्राइंग रूम में उसकी लड़की बैठी हुई पियानो बजा रही थी। वह काफ़ी बड़ी हो गई थी और उसको संगीत का अच्छा ज्ञान था। नीलिमा ने ड्राइंग रूम में प्रवेश करते हुए कहा, "रागनी, देख, तेरे अंकल मधुसूदनजी आये हैं, तुझे इनकी याद है न !"

रागिनी ने मुझे नमस्ते करते हुए कहा "हाँ-हाँ, बड़े अच्छे चित्रकार हैं। विदेशी पत्रों में मैंने इनके चित्र और इनके फ़ोटो देखे हैं।" फिर उसने मुझसे कहा, "ममी वे सब विदेशी पत्र ख़रीद लाती हैं, जिनमें आपके फ़ोटो निकलते हैं।"

नीलिमा हँस पड़ी, "बड़ी शैतान हो गई है यह रागनी ! अच्छा, तू अपने अंकल को एक गाना सुना।"

रागिनी ने एक अंग्रेज़ी गाना पियानो के साथ आरम्भ किया। नीलिमा ने धीमे स्वर में कहा, "अभी वह आते होंगे, हम लोगों को एक पार्टी में जाना है, जो इनके एक पार्टनर ने दी है···" और उसने घड़ी देखी, "पौने पाँच बज गए पाँच बजे वह आ जाएँगे। चाय आप हम लोगों के साथ पीजियेगा।"

मैं नीलिमा से एकान्त में बातें करना चाहता था, लेकिन नीलिमा की नज़र बरामदे की ओर थी। और तभी नीलिमा ने पुकारा, "अविनाश, देख तेरे अंकल मधुसूदन आये हैं !"

अविनाश नीलिमा का छोटा लड़का था, अब उसकी अवस्था चौदह वर्ष की हो गई थी। उसके हाथ में टेनिस का रैकट था, कमरे में प्रवेश करके उसने मुझ से नमस्ते की और फिर वह नीलिमा से बोला, "ममी, मैं टेनिस खेलने जा रहा हूँ।"

"हाँ-हाँ, थोड़ी देर में चले जाना। तुम्हारे पापा आते होंगे, चाय पीकर जाना।"

"चाय मैंने पी ली है।" उसने ज़िद्दी स्वर में कहा।

"जानती हूँ, लेकिन अंकल मधु से बात कर न ! इंगलैण्ड, अमरीका घूम-

कर लौटे हैं।"

अनमने भाव से अविनाश ने मुझसे बातें शुरू कीं, लेकिन दो-एक मिनट में ही उसने बातों की झड़ी लगा दी। मैं उसके प्रश्नों का उत्तर देते-देते हैरान हो गया। एक अजीब-सी झुँझलाहट हो रही थी मुझे अविनाश पर, नीलिमा पर और सबसे अधिक अपने ऊपर। नीलिमा चुप-चाप सुन रही थी। उसने अवि-नाश से कहा, "बस, बहुत सवाल पूछ लिए, अब बस कर!" और उसने मुझसे कहा, "इस साल यह यूनिवर्सिटी में पहुँचा है और इसका बड़ा भाई विकास बम्बई में इंजीनियरिंग पढ़ रहा है, वह भी इतना ही तेज़ है।"

इसी समय बाहर पोर्टिको में एक कार के रुकने की आवाज़ सुनाई दी, "वह आ गए!..." और यह कहकर वह ड्राइंग रूम से निकलकर बाहर चली गई!

नीलिमा के साथ उसके पति ने कमरे में प्रवेश किया। वह कुछ और मोटा और कुरूप हो गया था, लेकिन उसके मुख पर वही व्यस्तता थी, वही अहंकार था, जो पहले था। उसने कमरे में आते ही मुझसे हाथ मिलाया, "बहुत दिनों बाद आपके दर्शन हुए। आप तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के आदमी हो गये,—मैंने आपकी तारीफ़ अख़बारों में पढ़ी।"

एक घण्टे तक मैं नीलिमा के यहाँ रहा, लेकिन मुझे नीलिमा से एकान्त में बात करने का कोई मौक़ा नहीं मिला। ऐसा लगता था कि नीलिमा मुझसे एकान्त में मिलना ही नहीं चाहती। और ठीक छः बजे वह अपने पति के साथ कार पर बैठकर चली गई। जाते-जाते उसने मुझसे पूछा, "कब तक ठहरियेगा आप यहाँ? ...इस समय मैं बहुत व्यस्थ हूँ। कल किसी समय आइयेगा। आने से पहले फ़ोन कर लीजियेगा।"

●

तीन दिन मैं दिल्ली में रहा, लेकिन किसी भी समय मैं नीलिमा से एकान्त में नहीं मिल सका। मुझे ऐसा लगा कि एकान्त में मिलने से वह कतराती है। एक तरह की झुँझलाहट होती थी मुझे, एक तरह का सन्तोष भी होता था।

तीसरे दिन शाम के समय वह मेरे होटल में आई। उस समय मैं अपना असबाब ठीक कर रहा था। एक घण्टे बाद ही मुझे स्टेशन रवाना होजाना था।

बनारस की गाड़ी पकड़ने के लिए।

नीलिमा ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा, "मैं जानती थी कि अभी तुम होटल में ही होगे मधु—गाड़ी छूटने में दो घण्टे की देर है। क्या बतलाऊँ तुमसे मैं बातचीत ही न कर सकी!"

कुछ रूखी मुस्कराहट के साथ मैंने कहा, "बातचीत तो काफ़ी हुई है, मुझे प्रसन्नता इस बात की है कि तुम सुखी हो। यही देखने आया था।"

और नीलिमा भी मुस्कराई, "मधु तुमने दिल्ली छोड़कर मेरा बड़ा उपकार किया, मैं तुम्हारी कृतज्ञ हूँ। तुम सच कहते हो कि मैं सुखी हूँ; बहुत अधिक सुखी। मेरा परिवार है, मेरे बच्चे हैं। बड़ी-बड़ी पार्टियाँ मैं देती हूँ, बड़ी-बड़ी पार्टियों में मैं जाती हूँ। समाज में मेरा मान है, मेरी प्रतिष्ठा है। मुझ पर तुम्हारा कितना आभार है!"

मैंने न जाने क्यों कह दिया, "तो तुम आभार-प्रदर्शन के लिए इस समय मेरे यहाँ आई हो?"

नीलिमा के मुख की मुस्कराहट लोप हो गई, "ऐसा ही समझ लो, यद्यपि मैंने अपना आभार-प्रदर्शन तो तुम्हें अपने व्यस्त जीवन की झलक दिखलाकर किया था।"

और मैंने देखा कि नीलिमा की आँखें तरल हो गई हैं "मधु! मैं बड़ी कमजोर हूँ, मैं पागल हूँ। बहुत रोका अपने को कि तुमसे दूर रहूँ। लेकिन आज शाम को मेरी कमज़ोरी ने मुझ पर विजय पाई। पागल-सी मैं तुम्हारे पास दौड़ी आई हूँ, तुम्हें विदा करने के लिए।"

और अनायास ही मेरे अन्दरवाला पशु मुझमें जाग उठा। मैंने बढ़कर नीलिमा का हाथ पकड़ा, "नीलिमा—"

नीलिमा ने अपना हाथ झटके के साथ छुड़ा लिया, "नहीं मधु, अब फिर मुझे कमज़ोरी की ओर मत घसीटो। मैं तुम्हारी कितनी कृतज्ञ हूँ—मैं जा रही हूँ, वह गाड़ी में बैठे मेरा इन्तज़ार कर रहे हैं।"

●

मेरे दोस्त! मैंने अपने को विजयी समझा या पराजित समझा, मैं ठीक तौर

से नहीं बतला सकता। लेकिन मैं एक बात जानता हूँ—मेरा मन बहुत हलका हो गया था। मैं बनारस लौटा, मेरे परिवार वालों को मेरे आने पर कितनी प्रसन्नता हुई इसका तुम अनुमान कर सकते हो।

बनारस लौटकर मैं वहीं बस गया। विदेश में मैंने काफ़ी धन अर्जित कर लिया था। मैंने बनारस में और अधिक सम्पति खरीद ली। बड़े सुख की जिन्दगी मैं बिता रहा था।

लेकिन छः महीने पहले मेरी पत्नी का देहान्त हो गया। पिछले कई वर्षों से उसका स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। हर तरह के इलाज किये मैंने उसके, लेकिन मैं उसको जो न बचा सका, सो न बचा सका।

मेरा बड़ा लड़का मद्रास के एक बहुत बड़े कारखाने में इंजीनियर है, लेकिन उसके बच्चे यहाँ बनारस में ही शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। उनकी माता साल में दो-तीन महीने के लिये बनारस आजाया करती है। मेरा मझला लड़का बनारस विश्वविद्यालय में लेक्चरार है। छोटा लड़का बनारसी रेशम के व्यापार में लग गया है और उसकी आमदनी अच्छी है। भरा-पूरा घर है, लेकिन मैं अपने को नितान्त एकाकी पाता हूँ। बनारस में मेरा मन नहीं लगता था। तुम शायद नहीं जानते कि चित्रकारों के लिये वह अनुपयुक्त स्थान है। और दो महीने पहले मैंने निर्णय किया कि मैं दिल्ली में फिर से अपना स्टूडियो बनाऊँ। दिल्ली में कला की परख है, कलाकृतियों का बाजार है। दिल्ली में सामाजिक जीवन है—उत्सव है, उल्लास-विलास है। यहाँ रहकर मैं अपना एकाकीपन भूल सकूँगा। और दिल्ली में आकर मैंने अपने स्टूडियो की फिर से स्थापना की।

दिल्ली आकर मैं नीलिमा से नहीं मिला। उसके सुखी जीवन और परिवार में मैं व्याघात उत्पन्न नहीं करना चाहता था।

लेकिन पन्द्रह दिन पहले न जाने कैसे मेरे स्टूडियो का पता लगाकर वह पहुँच गई। पाँच साल हो गए थे उससे मिले हुए, और इन पाँच वर्षों में उसमें काफ़ी परिवर्तन हो गया था। उसके बाल सफ़ेद होना आरम्भ हो गए हैं, उसके मुख पर एकाध झुर्रियाँ भी पड़ गई हैं। वह बड़ी शान्त और संयत थी, पारिवारिक पवित्रता की आभा उसके मुख पर खेल रही थी।

और आते ही उसने मुझसे शिकायत की कि मैं उससे क्यों नहीं मिला। बड़ी देर तक वह मेरे स्टूडियो में बैठी मुझसे बातें करती रही। उसके बड़े लड़के का विवाह दो महीने पहले एक करोड़पती व्यापारी की लड़की के साथ हो गया था और लड़का तथा बहू हनीमून मनाने के लिए कश्मीर गये हुए थे। उसके पति अपने व्यापार के सिलसिले में यूरोप गये हुए थे। वह अपने दूसरे लड़के और लड़की के साथ अकेली रह रही थी।

मेरी मन:स्थिति का ज्ञान होने पर उसने मेरे साथ न जाने कितनी संवेदना प्रकट की। और उस दिन शाम के समय वह मेरे साथ सिनेमा देखने गई।

इसके बाद नीलिमा हर दूसरे-तीसरे दिन दोपहर के समय, जब उसके बच्चे यूनीवर्सिटी में होते, मेरे स्टूडियो में चली आती थी, और मैंने देखा कि नीलिमा में अकस्मात कुछ परिवर्तन होने लगे हैं। उसके मुख की आभा लौट आई है—वह अपना बनाव-सिंगार भी करने लगी है। इस बीच उसके पति विदेश से वापस आ गए थे।

और परसों रात के आठ बजे जब मैं अपने कमरे में लेटा हुआ एक उपन्यास पढ़ रहा था, किसीने मेरे दरवाज़े पर दस्तक दी। उस समय कौन हो सकता है—मैंने उठकर दरवाजा खोला, और मैंने देखा कि मेरे सामने नीलिमा खड़ी हुई है। वह पूरी तरह से शृङ्गार किये हुई थी। बिना कुछ कहे हुए वह मेरे कमरे में आ गई।

मैंने कहा, "नीलिमा यह क्या? इस समय तुम कैसे चली आई?"

"मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती मधु! मुझे यह परिवार की चक्की का सुख नहीं चाहिए, बिलकुल नहीं चाहिए!"

"तुम पागल न बनो नीलिमा, तुम वास्तविकता पर ध्यान दो।" मैंने कहा।

"वास्तविकता यह है कि मैं तुम्हारी हूँ—तुम्हारी! तुम अकेले हो, तुम इससे इन्कार नहीं कर सकते, और मैं भी अकेली हूँ। उस आदमी के साथ, जिसके बच्चों को मैंने जन्म दिया, किस घुटन के साथ मैं रही हूँ, यह मैं ही जानती हूँ। मैंने तुम्हें भूलने का प्रयत्न किया, तुम्हारे हित का ध्यान रखकर,

तुम्हारे परिवार के हित का ध्यान रखकर। और अब तुम मुक्त हो।"

अजीब पागलपन की चमक थी उसकी आँखों में। मैं घबरा गया। मैंने कहा, "नीलिमा, तुम आपे में नहीं हो—तुम नहीं जानतीं कि इसमें हम लोगों की कितनी बदनामी होगी, हम लोग समाज में तिरस्कृत और लांछित होंगे!"

"यह कुछ नहीं होगा मधु, मेरे पास मेरा निजी रुपया है—करीब दो लाख, और मैंने अपना पासपोर्ट बनवा लिया है। तुम्हारे पास तुम्हारा पासपोर्ट है ही। परसों वाले हवाई जहाज़ से दो सीटें मिल रही हैं, इंगलैण्ड के लिए।"

"यह सब ग़लत है—बिलकुल ग़लत नीलिमा—तुम अपना जीवन नष्ट कर रही हो!"

नीलिमा ने दृढ़ता भरे-स्वर में कहा, "मैं तय कर चुकी हूँ मधु—मैं तुम्हें किसी हालत में भी नहीं छोड़ सकती। मैं परसों सुबह सात बजे तुम्हारे पास आऊँगी। कल का दिन तुम्हारे पास है। कल तुम अपने स्टूडियो का प्रबन्ध कर लो। मैंने दो सीटें बुक करा ली हैं, नौ बजे हवाई जहाज़ जाता है।" और वह बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा के चली गई।

●

और मेरे दोस्त, आज मैंने अपना स्टूडियो बन्द कर दिया। कल सुबह नीलिमा मेरे कमरे में आयेगी, विनाश के गर्त में छलाँग मारने। और आज शाम की गाड़ी से मैं बनारस जा रहा हूँ। मैं भाग रहा हूँ, क्योंकि मेरे प्रति नीलिमा का प्रेम उन्माद है—एक भयानक उन्माद! वह नीलिमा को ही नष्ट नहीं करेगा, वह मुझे भी नष्ट कर देगा। और तुम देख रहे हो, मैं कितना थका हुआ हूँ—कितना निरीह और असहाय हूँ!

●

सतीश चुपचाप मधुसूदन की कहानी सुन रहा था। उसने कुछ सोचकर कहा, "कल सुबह वह आपके घर आयेगी, और आपको न पाकर उसे निराशा होगी। क्या यह सम्भव नहीं कि वह आत्महत्या कर ले?"

कुछ उदास स्वर में मधुसूदन ने कहा, "जहाँ तक मेरा खयाल है, वह अपने घर वापस चली जाएगी, क्योंकि मुझे घर में न पाकर उसे धक्का लगेगा। पागलपन का एक सफल इलाज होता है—शॉक ट्रीटमेंट—यानी बिजली के करेण्ट से मरीज़ के मस्तिष्क पर धक्का देना। नीलिमा का प्रेम उन्माद है—उसका यही इलाज हो सकता है।"

सतीश बिस्तर पर लेट गया, "बहुत सम्भव है आपकी बात ठीक हो, लेकिन आपका अनुमान ग़लत भी निकल सकता है।"

और अपने बर्थ पर लेटते हुए मधुसूदन ने उत्तर दिया, "हाँ, मेरा अनुमान ग़लत भी निकल सकता है—और ऐसी हालत में मैं जन्म-भर अपने को अपराधी समझूँगा। इसीलिए मैंने तुमसे कहा था कि तुम भाग्यवान हो!"

धरती अब भी घूम रही है

विष्णु प्रभाकर

जन्म : २१ जून १६१२, मीरपुर, उत्तर प्रदेश में हुआ। शिक्षा : बी० ए०। अधिकांश जीवन पंजाब में बीता। अब दिल्ली में हैं। पचास के लगभग पुस्तकों का सम्पादन कर चुके हैं। तीन उपन्यास, चार नाटक, पन्द्रह एकांकी तथा कई एक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। "स्वप्नमयी" तथा "धरती अब भी घूम रही है।" पुस्तकें पुरस्कृत हो चुकी हैं। "सप्तदशी", "निश्किांत", "तट के बन्धन", "स्वप्नमयी", "जीवन पराग", "खंडित पूजा" आदि आपकी कथा कृतियाँ बहुचर्चित हो चुकी हैं।

देश-विदेश के टिकट जमा करना आपकी हॉबी है और शायद इसी सिलसिले में रूस तथा अनेक दक्षिण पूर्व एशिया के देशों की यात्रा भी कर चुके हैं।

विष्णु जी अत्यन्त मिलनसार और हंसमुख हैं। संतुलन आपके जीवन की एक विशेषता है। कॉफी पियेंगे तो डर-डरकर, शराब सिर्फ एक बार चखी है, पी नहीं। और सिगरेट तो पीते ही नहीं। पंजाब से खास लगाव है। शायद यही वजह है कि आपके नज़दीक पंजाबी लड़कियों का हुस्न भारतीय युवक को मदहोश कर देने वाला है। प्रस्तुत कहानी आज के भ्रष्टाचार पर एक करारा व्यंग्य है।

आयु नीना की दस वर्ष की भी नहीं थी लेकिन बुद्धि काफी प्रौढ़ हो गई थी। जैसा कि अक्सर मातृ-हीन बालिकाओं के साथ होता है, बुजुर्गों ने उसके लिए आयु का बन्धन ढीला कर दिया था। इसलिए जब उसने सुना कि कुछ दूर सोया हुआ उसका छोटा भाई सुबक रहा है तो वह चुपचाप उठी। एक क्षण भयातुर दृष्टि से चारों ओर देखा, फिर उसके पास आकर बैठ गई।

तब रात आधी बीत चुकी थी और चांद कभी का अस्त हो चुका था, फिर भी कुछ दूर सोते हुए उनके मौसा के परिवार के दूध-से धुले कपड़े अन्धकार की कालस में चमक रहे थे जैसे तमसावृत श्मशान में अग्नि के स्फुलिंग। वही चमक नीना के नन्हे-से दिल में कसक उठी। किसी तरह रुलाई रोककर उसने धीरे से पुकारा, "कमल···ओ कमल···।"

कमल आठवें वर्ष में चल रहा था। उसके छोटे-से खटोले पर एक फटी-सी दरी बिछी थी। उसपर वह लेटा था गुड़-मुड़, पैर उसने पेट से सटा रखे थे और मुँह को हाथों से ढक रखा था। रह-रहकर उसका पेट सिकुड़ता और सुबकियाँ निकल जातीं। उसने बहन की पुकार का कोई जवाब नहीं दिया। नीना भी इतनी सहमी हुई थी कि दूसरी बार पुकारने का साहस न बटोर पाई। चुपचाप कमर सहलाती रही, देखती रही। कई क्षण बीत गए तो उसे सीधा करके उसका मुँह अपने दोनों हाथों में ले लिया। तब उसकी आँखें डबडबा आईं और आँसू ढुलककर कमल के मुख पर जा गिरे। कमल कुनमुनाया, फिर आँखें बन्द किए-किए बोला, "जीजी!"

नीना ने चौंककर कहा, "तू जाग रहा था रे।"

"नींद नहीं आती···जीजी, पिताजी कब आएँगे ? जीजी, पिताजी के पास चलो।"

"पिताजी···।"

"हाँ, जीजी ! पिताजी के पास चलो । आज मुझे मौसीजी ने मारा था। जीजी, गिलास तोड़ा तो प्रदीप ने और मारा हमें···जीजी, यहाँ से चलो ।"

नीना ने अनुभव किया कि कमल अब रोया, अब रोया । वह विह्वल हो उठी । उसने अपना मुँह उसके मुँह पर रख दिया और दोनों हाथों से उसे अपने वक्ष में समेटकर वह "शिशु-माँ" वहीं लेट गई । बोली वह कुछ नहीं। बस उस स्तब्ध वातावरण में उसे ज़ोर-ज़ोर से थपथपाती रही और वह सुबकता रहा, बोलता रहा, "जीजी ! आज मौसी ने हमें बासी रोटी दी । सारा हलुआ प्रदीप और रंजन को दे दिया और हमें बस खुरचन दी और जीजी, जब दोपहर को हम मौसाजी के कमरे में गए तो हमें घुड़ककर निकाल दिया। जीजी, वहाँ हमें क्यों नहीं जाने देते ? जीजी, तुम स्कूल से जल्दी आ जाया करो । जीजी, पिताजी को जेल में क्यों बन्द कर दिया ? वहाँ पिताजी को रोटी कौन खिलाता है ? हम वहाँ क्यों नहीं रहते ? प्रदीप कहता था, तेरे पिताजी चोर है ।···"

तब एक बारगी अपने को धोखा देती हुई नीना ज़ोर से बोल उठी, "प्रदीप झूठा है।"

और कहकर अपनी ही आवाज़ पर वह भय से थर-थर काँप आई। उसने कमल को ज़ोर से भींच लिया । कमल को लगा जैसे जीजी बड़े ज़ोर से हिल रही है, हिलती चली जा रही है, हिलती चली जा रही है । हालन आ गया क्या ? उसने घबराकर कहा, "जीजी, जीजी, क्या है ? तुम्हें बुख़ार आ गया है ?"

'चुप, चुप । मौसी आ रही है ।'

सचमुच कोई उठकर जल्दी-जल्दी उनके पास आया और कड़ककर पूछा, 'क्या है, क्या है नीना, कमल क्या है रे ? ओहो ! भाई से लाड़ लड़ाया जा रहा है ! मैं कहती हूँ नीना ! तू यहाँ क्यों आई ? अरी बोलती क्यों नहीं ?···ओहो, बड़े बेचारे गहरी नींद में सोए हैं। अभी तो बड़ी गुटर-गुटर मेरी शिकायत हो रही थी। जैसे मैं जानती ही नहीं···हाय रे मेरी किसमत ।···ओ बहन ! तू

खुद तो मर गई पर मुझे इस नरक में छोड़ गई···

तभी मौसा हड़बड़ाकर उठ बैठे पूछा, "क्या बात है ? क्या हुआ ?"

"हुआ मेरा सर। दोनों भागने की सलाह कर रहे हैं।"

"कौन भागने की सलाह कर रहा है ? नीना-कमल ? अरे, कुछ लिया तो नहीं ? अलमारी की चाबी तो है ? रात ही तो पाँच सौ रुपये लाकर रखे हैं। अरे, तुम बोलती क्यों नहीं ? क्यों री, नीना ! कहाँ है रुपया ?"

बोलते-बोलते मौसा उठकर वहाँ आ गए जहाँ दोनों बच्चे एक दूसरे में सिमट, सकपकाए, कबूतर की तरह आँखें बन्द किए पड़े थे। मौसी ने तुनककर कहा, "क्या पता क्या-क्या निकालते, वह तो मेरी आंख खुल गई।"

और फिर झपटकर नीना को उठाते हुए कहा, "चल अपनी खाट पर ! खबरदार जो पास सोए ! बाप तो आराम से जेल में जा बैठा, मुसीबत डाल गया मुझपर। न लाती तो दुनिया मुँह पर थूकती, बहन के बच्चे थे। शहर की शहर में आँखों में लिहाज न आई। लेकिन कहने वाले यह नहीं देखते कि हमारे घर में क्या सोने-चाँदी की खान है ? क्या खर्च नहीं होता ? पढ़ाई कितनी महँगी हो गई है और फिर बच्चों की खुराक बड़ों से ज्यादा ही है।"

रुपये नहीं निकाले इस बात से मौसा को बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने खाट पर बैठे हुए कहा, "मैं कहता हूँ तुम तो···।"

"अब चुप रहो। भले ही चचेरी बहन हो, हैं तो बहन के बच्चे।"

"हाँ, बहन के बच्चे हैं तभी तो बहनोई साहब को रिश्वत लेने की सूझी और रिश्वत भी क्या ली बीस रुपये की। वह भी लेनी नहीं आई। वहीं पकड़े गए। हूँ, मैं रात पांच सौ लाया हूँ। कोई कह दे, साबित कर दे।"

"इतनी बुद्धि होती तो क्या अब तक तीसरे दर्जे का क्लर्क बना रहता ?"

"और मज़ा यह कि जब मैंने कहा कि ३००-४०० रुपये का प्रबन्ध कर दे, तुझे छुड़ाने का ज़िम्मा मेरा, तो सत्यवादी बन गए। मैं रिश्वत नहीं दूंगा। नहीं दूंगा तो ली क्यों थी ? अरे लेते हो तो दो भी। मैं तो···।"

मौसी ने सहसा धीमे पड़ते हुए कहा, "चुप भी करो, रात का वक्त है। आवाज बहुत दूर तक जाती है···।"

काफी देर बड़बड़ाने के बाद जब वे फिर सो गए तो दोनों बालक तब भी जागते पड़े थे। आँखों की नींद आँसू बनकर उनके गालों पर जमती जा रही थी। और उसके धुँधले परदे पर बहुत-से चित्र अनायास ही उभरते आ रहे थे। एक चित्र मौसी का था जो उन्हें रोते-रोते घर लाई थी और वह प्रेम दर्शाया था कि वे भी रो-रोकर पागल हो गए थे लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गए प्यार घटता गया और दया बढ़ती गई। दया ऊँच-नीच और दम्भ की जननी है। उसने उन्हें आज पशु से भी तिरस्कृत बना दिया····।

एक चित्र मौसा का था जो तीसरे-चौथे बहुत-से नोट लेकर आते और उन्हें लक्ष्य करके कहते, "मैं कहता हूँ कि उसने रिश्वत ली तो दी क्यों नहीं ? अरे तीन सौ देने पड़ते तो पाँच सौ बटोरने का मार्ग भी तो खुलता···।"

एक चित्र पिता का था। पिता जो प्यार करता था, पिता जिसने रिश्वत ली थी, पिता जिसे जेल में बन्द हुए दो महीने बीत चुके थे और अभी सात महीने शेष थे ।

नीना ने सहसा दोनों हाथों से अपना मुँह भींच लिया। उसकी सुबकी निकलते वाली थी। उसने मन ही मन विह्वल-विकल होकर कहा, 'पिताजी ! अब नहीं सहा जाता। अब नहीं सहा जाता। मौसा तुम्हारे कमल को पीटते हैं। पिताजी, तुम आ जाओ। अब हम स्कूल में नहीं पढ़ेंगे। अब हम बढ़िया कपड़े नहीं पहनेंगे। पिताजी, तुमने रिश्वत ली थी तो देते क्यों नहीं क्यों···क्यों

इस प्रकार सोचते- सोचते उसकी बन्द आँखों के अन्धकार में पिता की मूर्ति और भी विशाल हो उठी एक अधेड़ व्यक्ति की मूर्ति जिसकी आँखों में प्यार था, जिसकी वाणी में मिठास थी, जिसने दोनों बच्चों को नए स्कूल में भर्ती करवा रखा था। जहाँ उन्हें कोई मारता-झिड़कता नहीं था, जहाँ नाश्ता मिलता था, जहाँ वे तस्वीरें काटते थे, खिलौने बनाते थे

और घर में पिता उनके लिए खाना बनाता था, अच्छी-अच्छी किताबें लाता था, फल लाता था। उनकी माँ के मरने पर उसने दूसरी शादी तक नहीं कीथी···

नीना ने ये सब बातें पड़ौसियों के मुँह सुनीं। वे सब उसके पिता की बड़ी तारीफ करते। उसने अपने कानों से पिता को यह कहते सुना था कि रिश्वत

लेना पाप है। लेकिन फिर भी उन्होंने रिश्वत ली···क्यों ली···आखिर क्यों···?

पड़ौसिन कहती, "उसका खर्च बहुत था, और आमदनी कम। यह बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलाना चाहता था और तुम जाना अच्छी शिक्षा बहुत मँहगी है—?"

मँहगी··मँहगी थी तो उसने रिश्वत ली। मँहगी होना क्या होता है···और अब पिता कैसे छूटेंगे। मौसा कहते थे, "जज को रिश्वत देते तो छूट जाते। जज ने तीन हज़ार लेकर एक डाकू को छोड़ दिया था। पाँच हज़ार लिए थे··· पाँच हज़ार कितने होते हैं। सौ···हजार···दस···हज़ार···लाख···ये कितने होते हैं"—

मौसा कहते थे, 'रिश्वत और तरह की भी होती है। एक प्रोफेसर ने एक लड़की को एम० ए० में अव्वल कर दिया था क्योंकि वह खूबसूरत थी···

नीना ने सहसा दृष्टि उठाकर आसमान में देखा। तारे जगमगा रहे थे और आकाश-गंगा का स्रोत धवल-ज्योत्स्ना में लिपटा पड़ा था। उसने सोचा, यह सब कितना सुन्दर है। क्या यहाँ पर भी रिश्वत चलती है?

उसकी सुबकियाँ अब बिल्कुल बन्द हो चुकी थीं और वह बड़ी गम्भीरता से सुनी-सुनाई बातों को याद कर रही थी पर समझ में उसकी कुछ-नहीं आ रहा था···खूबसूरत होना भी क्या रिश्वत है? मौसा कहते थे कि गंजे हकीम के पास खूबसूरत लड़की भेज दो और कुछ भी करवा लो···खूबसूरत लड़की और रुपया, रुपया और खूबसूरत लड़का—इन्हें लेकर जज और हकीम काम क्यों कर देते हैं? क्यों···क्यों···और खूबसूरत लड़की का वे क्या करते हैं? काम करवाते होंगे पर काम तो सभी करते हैं···फिर खूबसूरत लड़की ही क्या?··· और उसके मौसा बहुत-से रुपये लाते हैं पर लड़की कभी नहीं लाते···

उसकी समझ में कुछ नहीं आया। लेकिन इसी उधेड़-बुन में रात न जाने कहाँ चली गई, यह जाना नहीं जा सका। एकाएक मौसी की पुकार ने उसकी तन्द्रा को तोड़ दिया। हड़बड़ाकर आँखें खोलीं तो मौसी कह रही थी, "नीना, ओ नीना! अरी उठेगी नहीं। पाँच बजे हैं।'

पांच···! अभी तो पहरुआ तीन की आवाज लगा रहा था और आकाश-

गंगा का मार्ग कैसा चमचम कर रहा था। इसी रास्ते तो स्वर्ग जाते हैं।

मौसी फिर चीखी, "अरी सुना नहीं नीना। कब से पुकार रही हूँ। दोनों भाई-बहन कुम्भकरण से बाजी लगाकर सोते हैं। चल जल्दी। चौका-बासन कर। मैं आती हूँ···"

नीना ने अब अँगड़ाई लेने का नाट्य किया। फिर कुनकुनाती हुई उठी, "जा रही हूँ मौसी।"

जीने तक जाकर न जाने उसे क्या याद आया, वह कमल के पास गयी और बड़े प्यार से कान से मुँह लगाकर उसे पुकारा। फिर उत्तर की प्रतीक्षा न करके उसे कौली में समेटकर नीचे लिए चली गई।

और जब दो घंटे बाद मौसी नीचे उतरी तो स्तब्ध रह जाना पड़ा। रसोई घर जैसे दूध में धोया गया हो। लकदक-लकदक, मैल की कहीं छाया तक नहीं। बर्तन चाँदी से चमचमा रहे थे। बार-बार अविश्वास से आँखें मलकर ठगी-सी मौसी बोली, "आज क्या बात है नीना ?"

"कुछ नहीं मौसी।" नीना ने सकपकाकर उत्तर दिया।

"कुछ नहीं कैसे ? ऐसा काम क्या तू रोज करती है ?"

कमल ने एकदम कहा, "मौसी ! आज पिता जी आवेंगे।"

"पिताजी··· ।"

'हाँ, जीजी कहती थी··· ।'

मौसी ने अविश्वास और आशंका से ऐसे देखा कि कमल सहम कर पीछे हट गया। कई क्षण उस स्तब्ध वातावरण में वे प्रस्तर-प्रतिमा बने रहे फिर जैसे जागकर मौसी बोली, "तो यह बात है ! बाप के स्वागत के लिए रसोईघर सजाया गया है।"

फिर एकबारगी बड़े ज़ोर से हँसी, बोली, 'पर रानी जी, अभी तो पूरे सात महीने बाकी हैं, सात महीने। वाह रे, बाप के लिए दिल में कितना दर्द है। इसका पासिंग भी हमारे लिए होता तो··· ।"

नीना की काया एकाएक पीली पड़ गई। आग्नेय नेत्रों से कमल की ओर देखती हुई वह वहाँ से चली गई। उस दृष्टि से कमल सहम गया पर उसे अपने

अपराध का पता तब लगा जब वह हो चुका था। स्कूल जाते समय रास्ते में नीना ने इस अपराध के लिए कमल को खूब डांटा। इतना डांटा कि वह रो पड़ा। रो पड़ा तो उसे छाती से लगाकर खुद भी रोने लगी।

इसी समय वहाँ से बहुत दूर एक सुसज्जित भवन में मुक्त अट्टहास गूंज रहा था। छोटे जज आज विशेष प्रसन्न थे। उनकी छोटी पुत्री मनमोहिनी को कमीशन ने सांस्कृतिक विभाग में उप डायरेक्टर के पद के लिए चुन लिया था। मित्र बधाई देने आए हुए थे। उसी हर्ष का यह अट्टहास था। यद्यपि बाकायदा चाय-पार्टी का कोई प्रबन्ध नहीं था तो भी मेज पर अच्छी भीड़-भाड़ थी। अंग्रेज़ लोग चाय पीते समय बोलना पसन्द नहीं करते थे पर भारतवासी क्या अब भी उनके गुलाम हैं। वे लोग ज़ोर-ज़ोर से बातें कर रहे थे। मनमोहिनी ने चाय बनाते हुए कहा, "मुझे तो बिल्कुल आशा नहीं थी पर सचिव साहब की कृपा को क्या कहूँ··· ।"

सचिव साहब बोले, "मेरी कृपा। आपको कोई "न," तो कर दे ? आपकी प्रतिभा··· ।"

डायरेक्टर कह उठे, "हाँ, इनकी प्रतिभा! सांस्कृतिक विभाग तो है ही नारी की प्रतिभा का क्षेत्र।"

सचिव साहब के नेत्र जैसे विस्फारित हो आये। प्याले को ठक् से मेज़ पर रखते हुए उन्होंने कहा, "क्या बात कही है आपने। संस्कृति और नारी दोनों एक ही हैं। नाट्य, नृत्य, संगीत और कविता··· ।"

"और प्रचार।"

"अरे, नारी से अधिक प्रचार कर पाया है कोई!"

इसी समय बैरे ने आकर सलाम झुकाई। तार आया था। खोलने पर जाना——छोटे जज साहब के बड़े बेटे की नियुक्ति इन्कमटैक्स-आफीसर के पद पर हो गई है। उसे मद्रास जाना होगा।

"क्या, क्या,"—कहते हुए सब तार पर झपटे। हर्ष और भी मुखर हो उठा। छोटे जज ने अट्टहास करते हुए अपनी पत्नी से कहा, 'देखा निर्मल! मुझे पूरा विश्वास था शर्मा मेरी बात नहीं टाल सकता। और मेरी बात भी क्यों।

असल में यह तुम्हारा मुरीद है। कहता था औरत...'

बात काट कर सचिव साहब बोले, "जी नहीं, यह न आप हैं न श्रीमती निर्मल। यह तो आपकी कौटुम्बिक प्रतिभा है।"

इसपर सबने स्वीकृतिसूचक हर्ष-ध्वनि की। छोटे न्यायमूर्ति इसका प्रतिवाद कर पाते कि बैरे ने आकर फिर सलाम किया। विस्मित-से डायरेक्टर बोले, "इस बार किसकी नियुक्ति होने वाली है ?"

बैरे ने कहा, "दो बच्चे हुजूर से मिलने आए हैं।"

"हमसे ?"—छोटे न्यायमूर्ति अचकचाकर बोले।

"जी।"

"किसके बच्चे हैं ?"

"जी मालूम नहीं। भाई-बहन हैं। गरीब जान पड़ते हैं।"

"अरे तो बेवकूफ ! कुछ दे दिवा कर लौटा दिया होता।"

"बहुत कोशिश की पर वे कुछ मांगते ही नहीं। बस आप से मिलना मांगते हैं।"

छोटे न्यायमूर्ति तेजी से उठे। मुख उनका विकृत हो आया, पर न जाने क्या सोचकर वे फिर बैठ गए। कहा, "आज खुशी का दिन है। यहीं ले आ।"

दो क्षण बाद बुरी तरह सहमे सकपकाये, जिन दो बच्चों ने वहां प्रवेश किया वे नीना और कमल थे। आँसुओं के दाग अभी गालों पर शेष थे। दृष्टि से भय झरा पड़ता था। एक साथ सबने उनको देखा जैसा मदिरा के प्याले में मक्खी पड़ गयी हो। छोटे न्यायमूर्ति ने पूछा, "कहाँ से आए हो ?"

"जी...जी..." नीना ने कहना चाहा पर मुँह से शब्द नहीं निकले और बावजूद सबके आश्वासन के वे कई क्षण हतप्रभ, विमूढ़ अपलक देखते ही रहे, बस देखते ही रहे। आखिर मनमोहनी उठी। पास आकर बोली, "कितने प्यारे कितने सुन्दर बच्चे हैं...।"

इन शब्दों में न जाने क्या था। नीना को जैसे करण्ट छू गई। एक बारगी दृढ़ कण्ठ से बोल उठी, "आपने हमारे पिताजी को जेल भेजा है। आप उन्हें छोड़ दें...।"

कमल ने उसी दृढ़ता से कहा, "हमारे पास पचास रुपए हैं। आपने तीन हजार लेकर एक डाकू को छोड़ा है···।"

नीना बोली, "लेकिन हमारे पिता जी डाकू नहीं। महंगाई बढ़ गई थी। उन्होंने बस बीस रुपये की रिश्वत ली थी।"

कमल ने कहा, "रुपए थोड़े हों तो···"

नीना बोली, "तो मैं एक-दो दिन आपके पास रह सकती हूँ।"

कमल ने कहा, "मेरी जीजी खूबसूरत है और आप खूबसूरत लड़कियों को लेकर काम कर देते हैं···"

रटे हुए पार्ट की तरह एक के बाद एक जब वे दोनों इस प्रकार बोल रहे थे तो न जाने हमारे कथाकार को क्या हुआ; वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ। उसे ऐसा लगा जैसे धरती सूर्य की चुम्बक शक्ति से अलग हो रही है। लेकिन ऐसा होता तो क्या हम यह 'पुनश्च' लिखने को बाकी रहते। धरती अब भी उसी तरह घूम रही है।

एक बालिग़ औरत का फ़ैसला

●

हंसराज रहबर !

श्री हंसराज रहबर हिन्दी-उर्दू के लोक-प्रिय कथाकार हैं। आपका जन्म पंजाब में सन् १९१४ में हुआ। इतिहास में एम० ए० पंजाब विश्व विद्यालय से पास करने के बाद उर्दू में लिखना शुरू किया और शीघ्र ही उर्दू जगत में अपना एक विशेष स्थान बना लिया। तत्पश्चात आप हिन्दी में आये और मुंशी प्रेम चन्द की विचार-धारा से प्रभावित हुए। 'कंकर,' 'परेड ग्राउंड,' 'संकल्प' "आंके-बांके' और 'उन्माद' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'नवक्षितिजि' 'उपहास' और 'हम लोग' तीन कहानी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'मुंशी प्रेमचन्द: जीवन और कृतित्व' इनका प्रौढ़ आलोचना ग्रंथ है। आपकी विचारधारा मार्क्सवाद से प्लावित है और आप साहित्य को समाज-परिवर्तन का एक सबल हथियार स्वीकार करते हैं। उनकी प्रस्तुत कहानी नये युग की एक ऐसी नारी का चित्र प्रस्तुत करती है जो अपने अधिकारों के प्रति सजग और सचेत है।

कृश्न चन्द्र और सरदार जाफरी का सैद्धांतिक विरोध इनकी प्रिय हॉबी है।

रीता अपने लम्बे-स्याह बालों में कंघी कर रही है और यादों के आईने में अपना प्रतिबिम्ब देख रही है। जैसे-जैसे अतीत की घटनाएँ उसके मस्तिष्क में घूम रही हैं, आईने में उसका प्रतिबिम्ब भी बदल रहा है। सहसा वह अतीत से भविष्य में छलाँग लगाती है और उँगली पकड़ कर चलने वाली नादान लड़की से समझदार बालिग औरत बन जाती है। बालिग औरत का यह रूप उसे अत्यन्त आकर्षक जान पड़ता है और उसकी दृष्टि अब इसी पर केन्द्रित है।

इसी समय हरीश कमरे में दाखिल होता है। उसके हाथ में ब्याह का एक कार्ड है, जो थोड़ी देर पहले खुद रीता ने भिजवाया था।

"तुम्हें नर्सवाला क़िस्सा मालूम है?" हरीश कार्ड की ओर देखते हुए पूछता है।

"सब मालूम है," रीता धीरे से, मगर दृढ़ स्वर में उत्तर देती है।

"इसके बावजूद···"

"हाँ, इसके बावजूद मैंने शादी का फ़ैसला किया है। मैं बालिग़ और समझदार हूँ और अपना भला-बुरा सोच-समझ सकती हूँ।"

हरीश भौंचक्का-सा उसकी ओर देखता रह जाता है। उसे कदाचित यह आशा नहीं थी कि वह इस ढंग से पेश आएगी। यह वही रीता है, जो कल तक साड़ी का रंग भी उसे दिखाकर पसन्द करती थी। जिस फ़िल्म की उसके मुँह से तारीफ़ सुन लेती, उसे बड़े चाव से देखती थी और कोई भी बात हो, उसकी सलाह अवश्य लेती थी। मगर अब उसने स्वेच्छा से ब्याह का फ़ैसला करके न

सिर्फ़ कार्ड तक बँटवा दिए बल्कि बात तक करने को तैयार नहीं। पूछने पर यों तन गई, जैसे वह उसका शुभचिन्तक और अभिभावक नहीं, कोई शत्रु या विरोधी हो। चेहरे पर विद्रूप और विद्रोह अंकित है। हरीश उसकी ओर देखता है और उसके स्वर की कटुता को महसूस करता है। यह कटुता बड़ी तेजी से साँप के ज़हर-सरीखी उसके खून में घुल जाती है और अंग-अंग दर्द करने लगता है। अभी-अभी एक मिनट पहले हरीश के होंठों पर बुजुर्गी की जो स्नेहसिक्त मुस्कराहट थी, वह सहसा विलुप्त हो जाती है और पीड़ा की तीव्रता से चेहरा बिगड़ जाता है, जैसे पेड़ का हरा पत्ता आँच लगने से झुलस जाय।

"अच्छा!" वह धीरे से कहता है और जिन पैरों आया था, उन्हीं पैरों लौट जाता है।

रीता गरदन उठाए बदस्तूर तनी खड़ी है। घृणा उसके भीतर लावे की तरह खौल रही है और आँखों से चिनगारियाँ निकल रही हैं।

"पाखण्डी! ढोंगी!"

हरीश जब नज़रों से ओझल हो जाता है, तो रीता धरती पर पैर पटककर ज़ोर से कहती है और फिर होंठ सख्ती से बन्द कर लेती है।

●

उम्र-भर की चुप्पी के बाद आज उसने पहली बार ज़बान खोली थी और वह बहुत-कुछ कहना चाहती थी मगर हरीश ने कहने का अवसर ही नहीं दिया। वह शायद उसके तेवर भाँप गया और चुपचाप कमरे से बाहर चला गया। जाने के बाद ही रीता ने उसे 'ढोंगी' और 'पाखण्डी' कहकर दिल की भड़ाँस निकाली। मगर वह इसके अलावा भी बहुत-कुछ कहना चाहती थी और हरीश को सुनाकर कहना चाहती थी। इसलिए तनिक रुककर फिर बुदबुदाती है, "मैं जानती हूँ कि तुमने सज्जनता का यह मुखौटा लगा रखा है, तुम्हारी यह मुस्कराहट बनावटी है। तुम्हारी आत्मा में जो कपट भरा है, उसे ये उजले कपड़े छिपा नहीं सकते।"

रीता के चेहरे की तनी हुई रगें कुछ ढीली पड़ जाती हैं। उसे अपने भीतर एक तरह की राहत महसूस होती है। अधिक नहीं कह सकती, तो न सही;

कहने-सुनने का उद्देश्य हरीश को चिढ़ाना और अपने दिल की ख़लिश मिटाना ही तो था। वह उद्देश्य पूरा हो गया। हरीश सिर्फ़ चिढ़ा ही नहीं जल-भुन गया, बिलबिला उठा। "अच्छा!" केवल शब्द नहीं, उसकी घायल आत्मा से निकली हुई चीख़ थी।

हरीश रिश्ते में उसका बहनोई है। रीता जब बारह-तेरह साल की नादान लड़की थी, तो मरणासन्न बूढ़ी माँ ने उसका हाथ हरीश के हाथ में थमाकर बड़े हसरत-भरे स्वर में कहा था, "लो बेटा, रत्ती का ध्यान रखना। मेरी आत्मा तभी सुखी होगी, जब तुम इसके लिये भी अपने ही जैसा आदर्श वर ढूँढ दोगे।"

माँ ने अपनी इस बेटी के लिए एक मकान और कुछ नक़द रुपया छोड़ा था। रुपया बहुत नहीं था, पर रीता की शिक्षा और ब्याह के लिये काफ़ी था। रीता वाकई पढ़-लिख गई है और बी० ए०, बी० टी० पास करके स्कूल में अध्यापिका है। मगर माँ ने जो रुपया छोड़ा था, बड़ी मुद्दत हुई ख़त्म हो चुका है। बड़ी बहन नीता ने बहुत संकोच से काम लिया। उसे अपने उत्तरदायित्व का ध्यान था और छोटी बहन के पैसे को छूना वह पाप समझती थी। लेकिन घर-गृहस्थी की लाचारियाँ आदमी को पाप करने पर भी मजबूर कर देती हैं। कभी कोई बीमार पड़ गया, कभी कपड़े सिलवाने हैं और कभी कोई ख़र्च अचानक आ पड़ा। हर बार सोचा यह जाता था कि रुपया रखे-रखे बढ़ता तो नहीं। हम जो अपने लिये ले रहे हैं, उधार ले रहे हैं। दो-चार महीने में किफ़ायत करके लौटा देंगे। मगर किफ़ायत करने और लौटाने की नौबत ही न आती। हमेशा नये-नये ख़र्च सामने खड़े राह ताकते रहते। हरीश की अपनी आमदनी कभी इतनी न हुई कि गृहस्थी की गाड़ी सहज में चल सके। इसलिये उसे धकेलने और अतृप्त इच्छायें पूरी करने के लिए रीता के रुपये का सहारा लेना पड़ता। धीरे-धीरे झिझक दूर हो गई और पाप का अहसास भी मिट गया। बहन और बहनोई दोनों ने यह सोचकर दिल को समझा लिया—रीता कौन पराई है कि हम उसके रुपये को पराया समझें! जब वह घर में साथ रहती है, साथ खाती-पीती है, हर वक़्त उसे ग़ैर समझते रहना अच्छा नहीं। बात माकूल थी। रीता भी घर के एक सदस्य की भाँति अपने को परिवार में जज़्ब कर देना चाहती थी। उसे

अपना अलग अस्तित्व बनाये रखना पसन्द नहीं था। इसलिए बहन और बहनोई जब उसके रुपये खर्च करते, तो रीता को दुःख या खेद होने की बजाय उलटे खुशी होती। रुपये बी० ए० पास करने से पहले ही समाप्त हो चुके थे। बाकी शिक्षा उसने खुद ट्यूशन पढ़ाकर पूरी की। इससे रीता में आत्मविश्वास और त्याग की भावना भी उत्पन्न हुई और उसका व्यक्तित्व गुलाब के फूल की तरह खिलता और निखरता रहा।

अब उसकी तनख़ाह भी घर में ख़र्च होती थी। इसका उसे मुतलिक ख़याल नहीं था। घर भी तो उसीका था। बहन, बहनोई और बच्चे उसे अपना समझते और प्यार करते थे। रीता के लिये यह बात क्या कम महत्व की थी?

पिछले पाँच-छः साल से उसके ब्याह की बात बराबर उठ रही थी और उठकर टल जाती थी। इस सिलसिले में दो-चार घटनायें ऐसी हुईं, जो एक जंजीर की कड़ियाँ-सी बन गईं।

रीता इन्हें भुलाने की बहुत कोशिश करती है, पर भुला नहीं पाती। एक बात याद आती है, तो दूसरी और फिर तीसरी याद आती है और खट से एक-दूसरी की कड़ियाँ आपस में मिल जाती हैं। एक ज़ंजीर उसके दिमाग़ में झन-झनाने लगती है और उसे बहुत परेशान करती है।

रीता चाहती है कि इन बातों से पीछा छुड़ाये और इस ज़ंजीर को तोड़ फेंके, क्योंकि यह ज़ंजीर उस विश्वास से टकराती है, जो उसे माँ से विरासत में मिला है और जिसके कारण वह बहनोई को एक आदर्श मानव ही नहीं, देवता समझकर उसकी पूजा करती आई है।

लेकिन झटके से ज़ंजीर और फैल जाती है। उसकी कड़ियों में से घटनायें और चेहरे झाँकने लगते हैं। ये घटनायें और चेहरे चंचल बच्चों के सदृश उसके विश्वास की खिल्ली उड़ाते और उस पर कंकड़-रोड़े फेंकते हैं।

इनमें एक चेहरा नरेन्द्र का है—गोरा-चिट्टा, गोल-मटोल। यह चेहरा उसकी यादों को जगमगा देता है। रात के अँधेरे में चारपाई पर लेटे-लेटे वह उसे देखा करती है।

धीरे-धीरे यह चेहरा उसके इतना निकट आ जाता है कि वह उसकी साँस

की गरमी महसूस करती है, उसकी आँखों में प्रशंसा की भावना पढ़कर खिल उठती है और हाव-भाव से इठलाकर कहती है, "तुम जीजाजी से बात क्यों नहीं करते ?"

"अच्छा, ठीक है । मैं बात करूँगा ।"

नरेन्द्र को विश्वास है और रीता को भी विश्वास है कि शादी हो जायेगी। जब वे दोनों सहमत हैं, तो हरीश को क्या आपत्ति हो सकती है ! बल्कि वह तो इस प्रस्ताव से खुश होगा, क्योंकि वह नये युग का विचारशील और स्वतन्त्रता-प्रिय व्यक्ति है ।

लेकिन परिणाम आशा के विपरीत निकलता है । दूसरी भेंट में रीता नरेन्द्र से पूछती है, "सुनाओ, जीजाजी से बात हुई ?"

"क्या बताऊँ ?" नरेन्द्र विक्षिप्त स्वर में उत्तर देता है और उसका मुँह लटक जाता है ।

"फिर भी ?"

"तुम्हें मालूम है कि मैं कभी-कभी मित्रों के साथ बैठकर शराब भी पीता हूँ ?"

"हाँ, मालूम है !"

"वह कहते हैं कि मुझे उनका रिश्तेदार बनने के लिये यह आदत छोड़नी होगी । लेकिन मैं कोई वादा करने और कोई शर्त मानने को तैयार नहीं ।" नरेन्द्र का स्वाभिमान आहत होता है और खून जोश मारता है, पर वह स्वर को संयत करके कहता है, "वैसे आदमी भले हैं, पर मुझे उनकी बातों से क़दामत की बू आती है ।"

रीता के मस्तिष्क पर माँ के अन्तिम शब्द अंकित थे । वह हरीश की रज़ा-मन्दी के बिना कोई फ़ैसला नहीं कर सकती थी ।

नरेन्द्र दूर हटता चला गया ।

दूसरा चेहरा कुलदीप का है, जो नरेन्द्र की तरह गोरा-चिट्टा नहीं, साँवला और किसी क़दर लम्बूतरा है। पर उससे अधिक गम्भीर और आँखों में प्रतिभा की झलक है।

उससे शादी की बात काफ़ी आगे बढ़ जाती है। हरीश खुद भी उसमें काफ़ी दिलचस्पी ले रहा है। रीता की उपस्थिति में उसका ज़िक्र छेड़कर अपनी बीवी से कहता है, "कुलदीप मेरी तरह सिगरेट तक नहीं पीता। बहुत ही भला और शरीफ़ आदमी है।"

"तो फिर अब अड़चन क्या है?"

"अड़चन कुछ नहीं। फिर भी देखने की बहुत-सी बातें होती हैं। जब रीता के लिये वर ढूँढना हमारी ज़िम्मेदारी है, तो हम इसे अच्छी तरह निबाहेंगे। ऐसे-वैसे लड़कों की तो कुछ कमी नहीं।"

बात अपने ही तक सीमित नहीं रहती। पास-पड़ोस में फैल जाती है, क्योंकि कुलदीप का आना-जाना बराबर छः महीने तक जारी रहता है। कुलदीप रीता और बच्चों से इतना हिल-मिल जाता है कि रीता ही की तरह अपने को परिवार का एक व्यक्ति समझने लगता है।

फिर आना-जाना सहसा कम हो जाता है। कारण शायद यह रहा हो कि उसे कृषि-विभाग में सम्पादक की जो नौकरी मिली थी, वह अस्थाई सिद्ध होती है, जैसाकि हरीश का ख़याल था। रीता खुद कमाती थी। नौकरी की बात ब्याह में बाधा बनेगी, इसकी उसे आशा नहीं थी। पर जब कुलदीप को कुरेदती है, तो वह गम्भीर होकर कहता है, "तुम्हारे जीजाजी बड़े दूरदर्शी हैं। सोचते हैं कि अगर मैंने बेकारी की हालत में एक बरोज़गार लड़की से शादी कर ली, तो बेकार रहना मेरी आदत बन जायगा और बेकारी ज़िन्दगी का घुन है।"

"मगर आपने कुछ नहीं कहा?"

"मैं क्या कहता? लोगों को देखने-परखने का उनका अपना पैमाना है।"

और कुलदीप भी दूर हटता चला गया।

इसके बाद दो-ढाई साल और गुज़र जाते हैं। नीता को चौथे बच्चे की माँ बनना था। पर सहसा ऐसी कोई तकलीफ़ हो जाती है कि पेट का ऑपरेशन

कराना पड़ता है । ज्यों-त्यों करके जान तो बच जाती है, पर उसका स्वास्थ्य हमेशा के लिये बिगड़ जाता है ।

स्कूल से लौटने के बाद रीता के पास जो समय होता है, वह बहन की तीमारदारी और बच्चों की देखभाल में लगा देती है । तनख़ाह जो वह लाती थी, पहले ही घर में खर्च होती थी । अपने लिए कोई अच्छी दिलपसन्द साड़ी भी उसने कभी नहीं ख़रीदी । इस बात का उसे तनिक भी खेद नहीं । पर अब बीमारी के कारण खर्च यकायक बढ़ गया है । हरीश भी पहले से कहीं अधिक मेहनत करता है, पर उसकी आमदनी से पूरा नहीं पड़ता । बहन और बहनोई उँगलियों पर दिन गिना करते हैं कि रीता कब तनख़ाह लाए और कब अमुक बिल अदा हो और ज़रूरत की अमुक चीज़ खरीदी जाए ।

बीमारी के अलावा बच्चे भी अब बड़े हो गए हैं, खर्च इसलिये भी बढ़ गया है और रीता का उनको बड़ा सहारा है । खुद रीता को भी उनका बड़ा सहारा है और वह हर तरह सन्तुष्ट है ।

●

लेकिन यकायक एक ऐसी घटना घटती है, जो उसके अस्तित्व को झकझोर देती है, सारे सुख-सन्तोष को नष्ट कर देती है और जो पिछली भूली-बिसरी घटनाओं से जुड़कर जंजीर का रूप धारण कर लेती है । यह जंजीर उसके मस्तिष्क में झनझनाती रहती है और बेहद परेशान करती है ।

सुबह नौ-सवा नौ बजे का वक़्त था । वह, नीता और हरीश बैठे नाश्ता कर रहे थे । रीता के जन्म-दिन की खुशी में एक मीठी प्लेट ख़ास तौर पर तैयार की गई थी ।

"बधाई !" हरीश ने फिरनी का चम्मच मुँह में डालते हुए कहा और फिर पूछा, "यह कौनसा जन्म-दिन है ?"

"सत्ताईसवाँ !"

"अरे, तुम इतनी बड़ी हो गईं ! हमें तो मालूम ही नहीं था !"

"डॉक्टर चोपड़ा की दोनों लड़कियाँ कुँआरी हैं और शायद अब कुँआरी ही रहेंगी ।" नीता मुंह का ग्रास हलक से उतारकर सहसा बोल उठी ।

डॉक्टर चोपड़ा का इस बस्ती में अपना मकान था। उनकी दो लड़कियाँ एम० ए०, बी० टी० थीं और अपने-अपने स्कूल में मुख्य अध्यापिकायें थीं। एक शायद पैंतीस बरस की और दूसरी अड़तीस बरस की।

"और क्या! अब तो शादी की उम्र ही गुज़र गई।" हरीश ने बात आगे बढ़ाई और मुस्करा-मुस्कराकर दार्शनिक ढंग से कहा, "शादी का जो महत्व पुराने समाज में था, इस नये समाज में नहीं है। आज कल की औरत शादी पर आज़ादी को तरजीह देती है। वह अपने चलन से साबित कर देना चाहती है कि अगर बरोज़गार मर्द कुँआरा रह सकता है, तो वह भी रह सकती है। आधुनिक नारी के चरित्र का यह भी एक पहलू है।"

वह मुस्करा रहा था और रीता की ओर कनखियों से देख रहा था, जैसे वह साली से बहनोई का निर्दोष विनोद हो। हँसी और मज़ाक के अलावा इसका उद्देश्य कुछ और न हो।

लेकिन रीता के हाथ से चम्मच छूट गया। बहन और बहनोई की यह बातचीत उसे सोची-समझी साज़िश महसूस हुई। इसका अर्थ यह था कि वह उनके घर की गोली बनी रहे और वे उसकी तनख़्वाह पर ऐश करें।

यह याद आते ही हरीश के दाएँ-बाएँ दो चेहरे उभर आते हैं। इन चेहरों के बीच रीता को अपने बहनोई का चेहरा विरूप और भद्दा जान पड़ता है।

"मुझे इस मुस्कराहट से बू आती है।"

"मुझे इस आदमी से नफ़रत है।"

वे बारी-बारी कह रहे हैं और रीता के विश्वास को आहत कर रहे हैं। और भी बहुत छोटी-छोटी बातें हैं, जो इधर-उधर से लपककर दुख, क्षोभ और सन्देह में वृद्धि करती हैं और जलती आग पर तेल का काम देती हैं।

●

"रीता तो ब्याह के सपने देखते-ही-देखते बूढ़ी हो जाएगी!" स्वदेश ने, जिसका ब्याह हाल ही में हुआ था, मज़ाक में कहा था।

सब अध्यापिकाएँ खिलखिला कर हँसी और रीता को भी हँसी में उनका साथ देना पड़ा था। पर स्वदेश की बात उसके दिल में छू गई।

उस दिन जब रीता ने घर लौटकर आईना देखा, तो उसे वाकई बाछों के निकट झुर्रियों के चिह्न दिखाई दिये और मन में तुरन्त विचार आया कि अगले महीने १७ नवम्बर को उसका जन्म-दिन है, जब छब्बीस साल पूरे होकर सत्ता-ईसवाँ साल शुरू होगा।

और १७ नवम्बर को ही यह घटना घटी। हरीश उसकी ओर कनखियों से देखकर कह रहा था, "शादी की भी एक उम्र होती है। उसके बाद शादी करने में कोई मज़ा नहीं रह जाता।" फिर डॉक्टर चोपड़ा की लड़कियों का उदाहरण और इस उदाहरण के पीछे किये षड्यन्त्र को भाँपकर रीता आपे से बाहर हो गई और आत्मा में विद्रोह की आग भड़क उठी।

ब्याह न करना दूसरी बात है, पर ब्याह के सपने देखते-देखते बूढ़ी हो जाना ज़िन्दगी की भयंकर ट्रेजेडी है।

और अब तक शादी न होने का कारण वह बहन और बहनोई को समझती है। इसीलिए अपनी मरज़ी से शादी तय करके कार्ड बँटवा दिए।

○

जिस व्यक्ति से शादी तय हुई है, उसे बहन भी जानती है और बहनोई भी जानता है, क्योंकि प्रोफ़ेसर योगध्यान कहीं दूर नहीं, दूसरे ही मुहल्ले में रहता है। मनमौजी आदमी है और उम्र चालीस के क़रीब है। कई साल तक हस्पताल की नर्स से प्रेम चलता रहा। जो लोग उसे जानते थे, वे इस प्रेम-सम्बन्ध से भी परिचित थे और उन्हें यह भी मालूम था कि योगध्यान शादी करके अपनी इस प्रेमिका से बेवफ़ाई नहीं करना चाहता। लेकिन कोई दो साल पहले स्वयं नर्स ने एक फ़ौजी अफ़सर से शादी कर ली और यह प्रेम-सम्बन्ध टूट गया।

प्रोफ़ेसर योगध्यान भी अब शादी करना चाहता है। पर अपने विगत प्रेम-सम्बन्ध के कारण वह हरीश की दृष्टि में एक आदर्श वर नहीं है। रीता को अपनी यह राय बताकर ऊँच-नीच सुझा देना वह अपना कर्तव्य समझता है और उसकी यह कर्तव्य-भावना सोलहों आने ईमानदारी पर आधारित है।

●

पर रीता बात तक नहीं सुनती। उसे बहनोई की नीयत पर शक है और बदगुमानी एक घटना की कड़ियाँ दूसरी घटनाओं से जोड़ देती है।

● ●

करेले

●

प्रभाकर माचवे

आपका पूरा नाम प्रभाकर बलवंत माचवे है। २६ दिसम्बर १९४७ को ग्वालियर (मध्य प्रदेश) में जन्म हुआ। १९३६ में साहित्य रत्न, अगले ही वर्ष दर्शनशास्त्र में एम० ए० और १९४३ में अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० किया। १९५७ में पी० एच० डी०—शोध का विषय था : 'हिन्दी मराठी निर्गुण संत काव्य।' 'तार सप्तक' 'स्वप्नभंग' आदि (कविता संग्रह) परन्तु', 'एकतारा', 'साँचा' आदि (उपन्यास) 'संगोनों का साया' (कहानी संग्रह) 'खरगोश के सींग', 'बेरंग', 'तेल की पकौड़ियाँ' (निबंध संग्रह) इसके अतिरिक्त हिन्दी, मराठी तथा अंग्रेजी में आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनकी संख्या लगभग तीस है। अनेक सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के संरक्षक हैं, और रह चुके हैं। आजकल साहित्य अकादमी के सीनियर असिस्टेंट सैक्रेटरी हैं। लगभग १५ योरुपी देशों की यात्रा कर चुके हैं। अनेक विदेशी विश्वविद्यालयों में भारतीय दर्शन तथा साहित्य आदि के प्रोफेसर रह चुके हैं। हक तो यह है कि इनका व्यक्तित्व आकाश की तरह फैला हुआ है, जिसे चन्द पंक्तियों में नहीं समेटा जा सकता।

स्वाभाविकता और तरलता इनके व्यक्तित्व की विशेषता है। मिलने पर अक्सर लगता है कि आप एक हिन्दी के लेखक से नहीं, बल्कि एक कामयाब राजदूत के सामने बैठे हैं। हिन्दी वालों की नाक़द्रदानी की शिकायत और उनको ज़हनी बदहाली का शिकवा अक्सर लबों पर रहता है।

शुबराती, ग़रीब, बूढ़ा कुँजड़ा ! उसे यह कल्पना नहीं थी उसकी दूकान के आस-पास जो भीड़ जमा होती वह उसकी ताज़ी सब्ज़ियों के लिये इतनी नहीं, जितनी उसकी ज़रा जवान-सी और शक्ल-सूरत में साफ़, खुशनक्श लड़की के लिए। कभी-कभी वह पड़ोस की फलवाली दूकान का बशीर भद्दी-सी फ़िल्मी तर्ज़ छेड़ता और फ़ब्ती भी कस देता। मगर शुबराती ने ज़माना दूसरा देखा था, वह मुग़लों की पुश्तैनी खानदानी नवाबी, उन के ऐश—क्या कहें साहब ! एक दिन यह ही तै हुआ कि अंगूरों की सब्ज़ी बने, तो दूसरे दिन उँगली-बराबर लौकियों की ही फ़रमाइश हुई ! वह ऐसे ही शाही वक्त हुआ करते थे ! न रोज़ी की फिक्र थी न कर्ज़े का ख्याल। खाने बनते थे वह बेशक़ीमती कि क्या कहने। अभी-अभी याद करता है तो शुबराती गुड़गुड़ी के दो कश और ज़ोर से मार कर अपनी चुन्धी आँखों को चिपचिपा बना देख मैले कुर्ते की बाँह से पोंछ लेता है ! जैसे सपनों का धुआँ बनता हुआ उसकी आँखों के आगे एक सब्ज़ मंज़र धीमे-धीमे अपनी पर्तें खोल कर, थिरक कर, बिलम जाता हो !

इतने में हमेशा का पंजाबी ग्राहक आ गया। ऊँचा-तगड़ा जवान बाबू, नाक पर चश्मा, गंजा-सा। "चचिंडे लोगे, हुजूर, अच्छे हैं ताजे। ये परमल चढ़ा दूँ ? पालक, मेथी, क्या लेंगे ?"

इतने में उधर आती एक ईसाई मास्टरनी को भाव बताता हुआ, इस झुर्रियों वाली उम्र में भी शुबराती अपना काम फ़ुर्ती से करता चला जाता। कभी-कभी उसे ख़याल हो आता कि बजाय लड़की के अगर उसे एक लड़का होता तो कितना अच्छा होता ! दूकान संभाल लेता। लड़की क्या-परायी हुण्डी है। उसके भरोसे से कब तक जिया जा सके है ! और इधर ऐसी हवा चली है कि हर महीने दूसरे-तीसरे कहीं मार-काट और कहीं हुल्लड़ की सुनाई देती है, तबसे उसका जी बहुत घबरा गया है। जो दो-चार सौ कलदार अंटी में हैं, लेकर अपनी हज्ज

करने चल दी। कहाँ का पाकिस्तान और कहाँ का हिन्दुस्तान, यही गुबराती सोचता है—इसी वतन में पैदा हुए, यहीं बड़े हुए, यहीं मरेंगे ! सुनते हैं हज्ज जाने को भी इजाज़त लगती है। खुदा पर भी टिकट लग गया, सुसरा ऐसा बुरा जमाना !

"गुल, ओ गुल ! जरा तू सँभाल लीजो दूकान, मैं नमाज पढ़ आऊँ ?" लाठी टेकते-टेकते गुबराती चले। उधर इबादत होने लगी और इधर दूकान पर रंगों का आलम जमा हो गया। फूल जहाँ हों वहाँ भौंरे भला न हों, यह कैसे हो सकता है ?

पुरानी अँधेरी सीलनदार सब्जी मंडी का बन्द अहाता। ऊपर सिरे में बीच में रोशनदान जहाँ से एक पुरानी जंग खायी हुई फ़ानूस लटकी रहती और कुछ कबूतर गुटरगूँ करते रहते। वहीं दोनों ओर सब्जी की दस-पाँच दूकानें, एकाध फल की भी कोने पर। टोकनी की टोकनी लाल-सफ़ेद मूलियाँ पत्तों वाली गाजर, गोल-मोल टमाटर, नींबू और करेले, आलू और कद्दू रखे रहते, कहीं कच्चे केले लटके हुए, कहीं एक-दो कुहड़े। और वहीं उस सारी हरी-पीली-लाल-भूरी पत्तियों-भरी दुनिया के बीच में शाही ठाठ से अपनी गुलाबी दुपट्टे की रूपहली किनारी को ओठों से दबाये, हाथ में कुहनी तक लाल-हरी चूड़ियाँ और काले पायजामे के नीचे पैरों में चाँदी की छड़ें पहिने बैठी रहती गुल। वैसे उस में कोई विशेषता नहीं थी, कोई वैसा दैवी सौन्दर्य नहीं था, जो सुनाया गया है कलाकारों को पागल वगैरह बनाया करता है; मगर वह जवान थी, तन्दुरुस्त थी और साफ उजले रंग में से कहीं-कहीं लाली भी झलक उठती थी, जैसे हथेलियों पर जान सकने की तो कोई गुंजाइश नहीं थी, वे मेंहदी-रंगे थे, परन्तु कपोलों पर, ठोडी पर, नासिकाग्र पर।

गुल सौदा तोलती तब गर्दन को हल्का-सा झटका देकर उन असंवरे बालों को ऊपर फेंकती, माथे पर का बौर कुछ ऊँचा उठता, और नीली बड़ी पुतलियों में कौतूहल और अचरज का मिश्रण-सा झलक जाता। वह तराजू से सौदा तौलते समय ग्राहक को कम माल फुर्ती से देने की कला में चतुर थी, और पैसे लेते समय सारा भोलापन भुला कर खूब ठोक-बजाकर दस बार गिनकर हिसाब करती।

उस दिन कुछ झगड़ा-सा उसी दूकान के पास एक फलों की दूकान पर हो गया।

एक शरणार्थी हिन्दू-साहब ने कुछ सख्त-सुस्त कह दिया। फलवाले ने दबी ज़बान में कहा—"सरदार जी, पुरानी बातों को दुहराने में क्या रखा है, जो होना था सो हो गया। अब तो कुछ समझदारी की बात करनी चाहिये।"

"समझदारी सिखाने के लिए आप ही बाक़ी हैं? जब-जब वहाँ की बातों की याद आती है, रोआँ-रोआँ काँप उठता है। समझे?"

"पर गुस्से की वजह तो दोनों पक्षों को हो सकती है," भीड़ में से किसी आदमी ने छोड़ दिया।

"आप भी ऐसा कहने लगे? ऐसे-ऐसे बोदे, डरपोक हिन्दू इस मुल्क में बाकी हैं इसी लिए तो—" वह आदमी इतने गुस्से में था कि उसने जो सौदा लिया था, वह दूकान पर वहीं खाली कर दिया, दो सन्तरे नीचे ढुलक गये।

एक बार सौदा दे देने पर लौटा देने की बात फलवाला चुप-चाप निगल नहीं सकता था। उसने फिर वे सब चीजें ग्राहक की थैली में भर दीं। बात बढ़ती गयी और ज़ोर की बातचीत की वजह से भीड़ खासी जमा हो गयी।

पुलिसमैन ने दूर से भीड़ की त्यौरियाँ देखीं। जान बचाने वह कहीं खिसक गया।

इस बीच, शुबराती वापिस आ गया था और वह गुल के पास बैठा था इस तरह जैसे ढाल हो। बेचारी साग-सब्ज़ी आदमियों की इस सारी अशान्ति को बड़ी निरीहता में देख रही थी। वह शायद सोच रही हो कि एक कहावत है नहीं—वह सही है: करेले को घी में तलें, शक्कर में घोलें फिर भी वह कड़वा ही रहेगा।

सरदार जी हों, चाहे वह लड़ाकू पाकिस्तानी मनोवृत्ति का फलवाला, इन सबके दिमाग और दिल करेले की तरह हैं। उनमें से कोई मिठास की अपेक्षा करना वैसे ही गलत है। तिस पर करेला और नीम चढ़ा।

ग़रीब गुल और उसका बाप शुबराती! उन्होंने दूसरी दुनिया देखी थी। तब ऐसी कड़वाहट आदमी-आदमी के बीच नहीं थी। दुनिया अब बदल गयी है, पर क्या वह सुधर भी गयी है?

लालधरती

●

देवेन्द्र सत्यार्थी

देवेन्द्र सत्यार्थी का जन्म २८ मई १९०४ को पंजाब के बदौड़ नामक स्थान में हुआ। मैट्रिक करने के बाद डी० ए० वी० कालेज लाहौर में दाखिल हुए, मगर आगे न पढ़ सके और कालेज छोड़ दिया। इनकी पहली कहानी मुंशी प्रेम चन्द जी ने १९३१ में - 'हँस' प्रकाशित की। तब से अबतक लगभग चालीस पुस्तकें लिख चुके हैं। उपन्यास, कहानी, कविता रेखा चित्र, लोक साहित्य आदि विषयों पर इन्होंने काफी कुछ लिखा है। 'धरती गाती है,' बेला फूले आधी रात, बाजे तावे ढोल, धीरे बहो गंगा, (लोक साहित्य) 'दूध गाछ' 'ब्रह्म पुत्र,' 'रथ के पहिये' कथा कहो उर्वशी (उपन्यास) 'चट्टान से पूछ लो,' 'चाय का रंग', 'नये धान से पहले,' 'सड़क नहीं, बन्दूक' (कहानी संग्रह) इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। राष्ट्र भाषा के अतिरिक्त उर्दू, पंजाबी, मराठी, बंगला तथा अंग्रेजी में भी इनकी पुस्तकें छप चुकी हैं। आपकी प्रस्तुत कहानी आन्ध्र प्रदेश की सर-ज़मीन की खुशबुओं में से उभरी है जो मन पर एक नशीला प्रभाव छोड़ती है। कहानी का बिम्ब-विधान अत्यंत मनहर है।

अपनी नयी लिखी कहानियों को बार-बार सुनाना और फ्री काफी पीना इनकी हॉबी है।

. . . . . .

कोई रंग पीड़ित दृष्टि की तरह खामोश और फरीयादी होता है। कोई रंग सुन्दरता की तरह कुछ कहता हुआ, और प्रशंसा का इच्छुक दिखाई देता है। कोई रंग मचलता हुआ हमें किसी ज़िद्दी बच्चे की याद दिला जाता है, और किसी को देखकर मस्ती या ऊँघ-सी छा जाती है···लारी के ड्राइवर ने नदी पार करते हुए कहा––"अब हम आन्ध्र प्रदेश में दाखिल हो रहे है, बाबूजी !"

मैंने चारों ओर फैली हुई लाल धरती की ओर देखते हुए कहा—"आन्ध्र देश की लाल धरती क्या कह रही है ?"

आँखें बन्द कर मैंने अपने हृदय में झाँका। वहाँ हरा रंग लहलहा रहा था। अपने मस्तिष्क से इसका आशय समझने की मैंने तनिक भी आवश्यकता न समझी, और आँखें खोलकर लाल रंग का अवलोकन आरम्भ कर दिया। धीरे-धीरे मैंने अनुभव किया कि यह रंग बहुत बलवान है और मेरा अपना रंग इसके सम्मुख टिक न सकेगा।

ड्राइवर ने अर्थपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा। ऐसा नजर आता था कि यह लाल धरती के भेद स्वयं उसके मुख से सुन लिए हैं, और अब उसके लिए यह कठिन हो रहा है कि उन्हें छिपाकर रख सके।

लारी भागी जा रही थी। लाल धूल उड़-उड़ कर ड्राइवर के गालों पर अपना रंग चढ़ा चुकी थी। मैंने अपने गालों पर हाथ फेरा, यह धूल वहाँ भी आ जमी थी। मैंने सोचा कि मेरे चेहरे की मैल खोरी पर सुर्ख रंग चढ़ गया होगा और वह बहुत बुरा तो न लगता होगा।

"पहले यह सारा जिला विहार-उड़ीसा में था, बाबूजी ?"

"और अब ?"

"अब नक्शा बदल गया है, बाबूजी !"

"नक्शा बदल गया है ?"

"जी हाँ। जब से उड़ीसा अलग प्रान्त बन गया है, इस जिले के तैलगू

बोलने वाले हिस्से आन्ध्र देश को मिल गये हैं।"

"बहुत खूब।"

"पर हम खुश नहीं हैं, बाबूजी ! सरकार ने अभी तक आन्ध्र देश को अलग प्रान्त बनाना स्वीकार नहीं किया।"

"पर कांग्रेस तो कभी की यह प्रस्ताव स्वीकार कर चुकी है, कि भाषा की महत्ता को मान लिया जाय। प्रत्येक बड़ी भाषा का अपना प्रान्त हो ताकि प्रत्येक भाषा के साहित्य का पालन-पोषण किया जा सके, प्रत्येक संस्कृति अपने-अपने वातावरण में स्वतन्त्र होकर फूले-फले।"

"जी हाँ। कांग्रेस ने तो यही कहा है कि आन्ध्र देश का अलग प्रान्त बना दिया जाय। पर सरकार नहीं मानती।"

"सरकार क्यों नहीं मानती ? मद्रास में तो अब कांग्रेस मन्त्रिमण्डल स्थापित हो चुका है, और इसके प्रधान श्री राजगोपालाचार्य बड़े प्रभावशाली व्यक्ति हैं। वह यह कार्य अवश्य कर सकते हैं।"

"पर इसका हुक्म तो लन्दन से आना चाहिए, बाबूजी !"

"लन्दन से ?"

"जी हाँ···और अगर यह हुक्म न आया तो हम बड़ी से बड़ी कुरबानी देंगे। अपना लहू बहाने में भी संकोच न करेंगे।"

"लहू बहा दोगे अपना ! पहले ही यह ज़मीन क्या कम लाल है ?"

ड्राइवर ने फिर अर्थपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में नया रंग झाँक रहा था। वह नया आदमी मालूम होता था।

धरती लाल थी। कभी गहरा बादामी रंग जोर पकड़ लेता। फिर यह सिन्दूरी बन जाता···सिन्दूरी रंग गुलानारी में बदल जाता···।

"लाल रंग मुझे झंझोड़ रहा था। मेरे लहू की गति तेज हो चुकी थी। कई बड़े-छोटे पुलों और नन्हीं-नन्हीं पुलियों को फांदते हुए लारी विजयनगरम् के समीप जा पहुँची। मन्दिरों के बड़े-बड़े कलश दिखाई देने लगे। इस भागा-दौड़ी में हमें विजयानगरम् अपनी ओर भागता हुआ नज़र आ रहा था। मानों हमारी लारी स्थिर थी।

नगर में प्रवेश करते ही सड़क त्रिवेणी की भाँति तीन तरफ दौड़ी जाती थी दो सड़कों के संगम पर, भीमराव का मकान था। ड्राइवर उन्हें पहचानता था। उनके घर के सामने मुझे उतारते हुए उसने एक मित्र की आँखों से मेरी ओर देखा। "आन्ध्र देश की लाल जमीन क्या कह रही है ?" मैंने कहा। वह मुसकराया। लारी आगे बढ़ गयी।

मैंने आवाज़ दी। भीमराव बाहर निकले। वह एक अधेड़ उम्र के आदमी थे। चेहरे पर शीतला माई का आटोग्राफ नज़र आ रहा था। शीतला के बड़े-बड़े दाग। तोंद की ओर ध्यान गया तो मैं बड़ी मुश्किल से हँसी को रोक सका। हमारे स्कूल में ऐसा हेडमास्टर कभी रोब कायम न रख सकता।

परिचय-पत्र को पढ़ते ही वह मुझे भीतर ले गये। बोले—"आपने बहुत अच्छा किया, कि इस सामान्य व्यक्ति के यहाँ चले आये। इस पत्र की भी कुछ आवश्यकता न थी ?

"आन्ध्र देश की बहुत प्रशंसा सुनी थी," मैंने मुस्करा कर कहा, "बहुत दिनों से इधर आना चाहता था।"

"आप शौक से रहिये।"

मुझे एक अलग कमरा मिल गया। फर्श पर लाल कालीन बिछा हुआ था। नंगे पाँव चलने से सदैव यह अनुभव होता कि आन्ध्र देश की लाल ज़मीन मेरे पैरों से छू रही है। भीतर से कमरे का द्वार बन्द करके कभी-कभी मैं कालीन पर लेट जाता, और ध्यान से अपने हृदय की धड़कनें सुनने लगता। अच्छा शुगल था। लाल रंग क्या कह रहा है ?यह प्रश्न बार-बार ज़बान तक आता। पर ओंठ बन्द रहते।

भीमराव के मकान पर कांग्रेसी तिरंगा लहरा रहा था•••हरा और श्वेत और लाल•••इस झंडे का आशय मेरे मन में उजागर हो उठता। हृदय ही तो था, बीच-बीच में यह कहने लगता कि इस झण्डे का लाल रंग आन्ध्र देश का परिचायक है, और यह विचार आते ही मुझे एक अकथनीय आनन्द प्राप्त होता। जहाँ श्वेत रंग खत्म होकर लाल रंग शुरू होता था, वहीं मेरी नज़र जम जाती और उस लारी ड्राइवर के शब्द मेरे कानों में गूँज उठते—"अब हम आन्ध्र देश

में दाखिल हो रहे हैं, बाबू जी !"

मेरे कमरे में अधिक फर्नीचर नहीं था। एक ओर शृंगार-मेज पड़ा था। दो कुर्सियाँ, एक तिपाई, और एक तरफ़ एक तख्त जिस पर मुझे सोना होता था। बिस्तर पर दिन के समय खादी की दूधिया सफेद चादर बिछा दी जाती थी। अब सोचता हूँ कि उस शृंगार-मेज का गोल दर्पण वहाँ न होता तो वे कुछ सप्ताह इतने मनोरंजक न हो पाते। मेरे भावों का रंग पकी हुई ईंटों की तरह लाल हो चला था। यह रंग मेरे चेहरे पर भी थिरक उठता।

मेरे कमरे की दायीं खिड़की मैदान की तरफ खुलती थी। वहाँ हरी घास ऊघती हुई नजर आती। पानी न मिलने पर यह घास पीली हो सकती थी— लाल नहीं।

दिन चढ़ता और पता ही न चलता कि कैसे बीत गया। विजयनगरम् मेरे लिए नया था। हर आँख में कोई न कोई शताब्दियों का संगृहीत रंग थिरक उठता। इससे पहले कहीं भूत और वर्तमान को यों आलिंगन करते नहीं देखा था। रात्रि का अन्त होता तो प्रभात सूर्य का तमतमाता हुआ तिलक लगाये उपस्थित हो जाता। उसे देखकर मुझे कृष्णावेणी के माथे के 'बोट्टु' की याद आने लगती।

पीछे से आकर कृष्णावेणी मेरी आँखें बन्द कर लेती। फिर खिलखिलाकर हँस पड़ती। और ज्यों ही पीछे हटती, मेरी आँखें उसके माथे की ओर लपकतीं। कुमकुम का लाल 'बोट्टु' पन्द्रह कैंडल की बजाय पचास कैंडल का कुमकुम बनकर उसके माथे को प्रकाशित करता दिखाई देता। यत्न करने पर भी मैं कभी उसे उस दशा में न देख सका जब कि स्नान के पश्चात् यह 'बोट्टु' घुलकर उतर चुका हो। फिर मैंने यह यत्न छोड़ दिया। बस ठीक है। यह कुमकुम सदैव प्रकाशित रहे। दिन हो चाहे रात। कुमकुम का लाल 'बोट्टु' !

अन्नपूर्णा और कृष्णावेणी दोनों बहनें थी। वेणी पूर्णा से दो वर्ष छोटी थी दोनों घर पर पढ़ती थीं। बड़ी बहन संगीत की आरम्भिक मंजिलों को तय करके इसकी गहराइयों में पहुँच चुकी थी। छोटी बहन केवल बहन की वीणा देख छोड़ती थी, उसका गान सुन लेती थी, और यदि इन स्वरों ने उसकी प्रतिभा का

कोई सोया हुआ अंग जगा दिया तो उसने थोड़ी बहुत तुकबन्दी कर ली। नहीं तो किसकी वीणा, कौन अन्नपूर्णा, वह अपनी पुस्तकों में उलझी रहती !

भीमराव अपनी पुत्रियों की प्रशंसा मेरे सामने भी ले बैठते। दोनों के लाल बोट्टु मेरे मन में तैरने लगते, और मुझे अनुभव होता कि मेरे मुँह में पान की पीक और भी लाल हो गयी है। मेरे भाव छालियों के नन्हें बारीक रेज़े बन जाते जो पान चबाते समय फुस से दांतों की दरजों में से गुजर जाते हैं।

'ये तो अपने आदमी हैं, पुत्रियो !" भीमराव कहते, इनसे खूब बातें करो इनकी कहानियाँ सुनो। देश-देश का पानी पी रखा है इन्होंने—हाँ, देश-देश का !" अपनी यह प्रशंसा सुन कर मेरे हर मसाम के कान लग जाते, मन में एक अजीब सा तनाव पैदा होता, और एक गुदगुदी-सी होने लगती। यह आन्ध्र देश की लाल ज़मीन की निष्कपटता थी—एक प्रगतिशील निष्कपटता।

"यह कृष्णावेणी तो निरी गिलहरी है, राव महोदय !" एक दिन मैंने दोनों बहनों की उपस्थिति में कहा, "और यह अच्छा ही है।"

'खूब ! खूब ! इधर से उधर, उधर से इधर। निचली तो बैठ ही नहीं सकती, गिलहरी ही तो है।"

कृष्णावेणी हंसी नहीं। आखिर इसमें गिलहरी की क्या बात है। ? कदाचित् हमारे सम्मानित अतिथि के देश में कन्याएँ गिलहरियाँ नहीं होतीं। वे लज्जा से सिमटी रहती होंगी। पर देश-देश में, धरती-धरती में अन्तर होता है न।"

भीमराव बोले—"यह आन्ध्र देश है।"

अन्नपूर्णा ने उनकी बात काटते हुए कहा—"और यहाँ की कन्याएँ स्वतन्त्र कन्याएँ बन गयी हैं।"

कृष्णावेणी की आँखों में एक बिजली-सी चमक गई। बोली—'जी हाँ, स्वतन्त्र कविताएँ !"

और मैंने अनुभव किया कि कम से कम कृष्णावेणी अवश्य एक स्वतन्त्र कविता है। उसे न छन्द चाहिए, न तुकान्त।

अन्नपूर्णा ने कृष्णावेणी की बाँहों पर बाँहें डाल दीं और बोली—"वेणी, चलो आज विश्वेश्वरी के यहाँ चलें कल तो आई थी इधर। आज उसने शक्ल

ही नहीं दिखाई।"

कृष्णावेणी ने अपना छोटा-सा सुन्दर सिर हिला दिया और पंखे की डण्डी को कालीन पर फेरते हुए बोली—"अन्नपूर्णा, मैं बाहर नही जा सकती।"

"क्यों नहीं जा सकती बाहर ?" अन्नपूर्णा ने हैरान होकर पूछा।

वेणी ने कोई उत्तर न दिया। उसने अन्नपूर्णा के गले में बांहें डाल दीं। बोली—"दीदी !—" और इसके पश्चात् उसके कान में कुछ कह गयी। अन्न-पूर्णा उछल पडी। बोली—"सच ?"

वेणी ने हाँ मे सिर हि ा दिया। मैं कुछ न समझ सका। मेरा हृदय घायल पक्षी की तरह फड़फडाया। वेणी उठकर खड़ी हो गई और स्नानागार की ओर चल दी। अन्नपूर्णा ने ताली बजाई और घड़ी की तरफ देखा। उस समय सवेरे के दस बजे थे। वह भी अपनी खड़ाऊँ पर घूम गई और सामने रसोई के द्वार पर जा खड़ी हुई, जहाँ अम्मा बैठी ज़मीकन्द काट रही थी।

अन्नपूर्णा ने कहा—अम्मा।

अम्मा ने सिर हिला दिया। अन्नपूर्णा उसके समीप पहुँचकर झुक गई और उसके कान में कुछ कह दिया। अम्मा का मुँह खुले का खुला रह गया। उसके गालों पर एक तमतमाती हुई लाली उभरी। फिर एक मुसकान नाचती हुई उस के चौड़े-चकले चेहरे पर चौगान खेलने लगी। अम्मा ने चाकू और ज़मीकन्द एक तरफ़ रख दिया और उठकर खड़ी हो गई बोली—

'पन्तलू गारू ! (पण्डित जी)'

मेरे लिए यह सब एक पहेली से बढ़कर था। मेरा ख्याल था कि भीमराव इससे कोरे हैं। वे उठकर अपनी पत्नी के पास चले गये। मुझे यों अनुभव हुआ कि मैं रेलगाड़ी में बैठा हूँ, जो दनदनाती हुई एक सुरंग में से गुजर रही है—घोर अंधियारा छा गया···कोई स्त्रियों की बात होगी, यह सोचते ही सुरंग खत्म हो गई।

कृष्णावेणी ने पहले कभी वह हरे रंग की हलकी घघरी न पहनी थी। घघरी का रंग गहरा हरा था और अंगिया का फीका हरा। उसकी आँखों की झीलों में भी हरे रंग का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। यह रंग क्या कह रहा है ? यह

प्रश्न मुझे उससे अवश्य करना चाहिये था। उसके रक्त में किस ने स्वर्ण पिघला कर डाल दिया था ? यह स्वर्ण ही था जो उसके गालों पर दमक रहा था। यह स्वर्ण क्या कह रहा था ? माँग क्या थी, पूरी-पूरी पगडण्डी थी। क्या मजाल कोई लट फिसल जाय, कोई वाल सरक जाय। कंघी-चोटी की कला यौवन के साथ-साथ कमाल को पहुँचती है। नाक की सीध रख कर सिर के बीचो-बीच माँग काढ़ना अन्नपूर्णा को सिरे से ना-पसन्द था। पर नहीं, कृष्णावेणी की सीधी माँग अन्नपूर्णा की टेढ़ी माँग से कहीं सुन्दर लगती थी। उस समय दोनों बहनें मेरे समीप बैठी होतीं तो मैं अपना मत छोटी बहन के ही पक्ष में देता।

कोई एक घण्टे बाद पूरे ग्यारह बजे भीतर से वीणा के स्वर सुनाई दिये। मालूम होता था कि मुहल्ले भर की वीणा बजने वाली सखियाँ स्वर में स्वर मिला कर कोई राग साध रही हैं, ऐसी भी क्या खुशी थी ?

बहुत सी सखियाँ और कन्याएँ जिनका ठहाका और हँसी-मज़ाक हवा को चीरे डालता था, आखिर किस उत्सव पर बुलाई गई थीं ? मुझसे न रहा गया। बायीं खिड़की का परदा ज़रा सरका कर मैंने आँगन की ओर नज़र डाली तो क्या देखता हूँ कि कृष्णावेणी सामने वाले कमरे में पीली धोती पहने बैठी है और आरती उतारी जा रही है। थाल में कुमकुम नज़र आ रहा था। पर इसमें कोई चौमुखा दिया नहीं जलाया गया था। कृष्णावेणी ने आँखें झुका रखी थीं। इतनी भी क्या लाज थी ? यह क्या कोई देवी बनने का उपाय था ?

कृष्णावेणी की माँ को बधाईयाँ मिल रही थीं। अन्नपूर्णा की वीणा सबसे अधिक चमक रही थी। रंग-रंग की साड़ियाँ मेरे मन में खल्त-मल्त हो रही थीं। अभी एक बच्ची रोने लगी। उसे एक केला मिल गया। उधर एक लड़की अपने भाई के मुँह में गुड़ और तिलों का लड्डू डालने लगी कि एक बालक उचककर उसे छीन ले गया। कुछ परवाह नहीं। लड्डुओं की क्या कमी है ? भाई खुश रहे, जीता रहे···मेरी प्रकृति के किसी रहस्यमय कोने में कोई तान-सेन जाग उठा जिसे अन्नपूर्णा ने अपने गीत की लहरों पर उठा लिया। यह कैसा गीत था ? कदाचित यह दूध और मधु का गीत था। दूध दुहते समय जो आवाज पैदा होती है, कुछ ऐसी ही आवाज अन्नपूर्णा की वीणा पर पैदा हुई थी।

"अब तुम गाओ, विश्वेश्वरी !"

"तुम से अच्छा तो नहीं गा सकूँगी, अन्नपूर्णा ! अच्छा, कौन-सा गीत गाऊँ ?"

"वही जो तुमने उस दिन गाया था, जब वेणी की तरह मैंने पीली धोती पहनी थी और इसी तरह आँगन में—सौभाग्यशाली आँगन में स्त्रियाँ और कन्याएँ इकट्ठी हुई थीं—वही मधुमक्खियों का गीत।"

विश्वेश्वरी ने गीत आरम्भ किया। आन्ध्र देश की मधुमक्खियाँ क्या कह रही हैं। यह प्रश्न मेरे मन की चारदीवारी ही में बन्द रहा। वीणा के स्वर आगे बढ़ते गये। यह कोई साधारण गीत न था। शताब्दियों के स्त्री स्वभाव की अपेक्षाकृत श्रेष्ठता का जटिल भाव था। अभी तो दोपहर थी। पर प्रत्येक स्त्री और कन्या के माथे पर एक-एक चाँद नजर आ रहा था—कुमकुम के सुर्ख बोट्टु।

कृष्णावेणी की आँखें ऊपर न उठीं। क्या यह वही कन्या थी जो अब तक कभी अपनी चौकड़ी नहीं भूली थी ? उसकी बालियाँ स्थिर थीं। बालियों के नगीने चुप थे। पहले तो कभी लज्जा और सुकुमारता जुड़वाँ बहनों के रूप में नजर न आई थीं। पर वह कोई कबूतरी तो न थी जिसे पहली बार अण्डे देने का अवसर मिला हो।

ठहाका और हँसी-मजाक खामोशी में बदलते गए। गीत भी काफ़ी हो चुके थे। वीणा के तार थक गये थे। कृष्णावेणी की माँ और बहन ने कुमकुम की थालियाँ उठाकर हर किसी के माथे पर सिर से बोट्टु लगा दिए। बल्कि यह कहना चाहिए कि पहले लगे ही बोटट्ु अधिक चमका दिए। ऐसा दिन तो बहुत शुभ था। हर किसी को पान भेंट किए गये। नारियल और केले बाँटे गए और यों सबको बिदा दी गयी। शताब्दियों से यों ही होता आया था। कुमकुम के लाल बोट्टु अनगिनत पीढ़ियों से कायम रहे थे। उनका रंग कभी फीका नहीं पड़ने दिया जायेगा।

दूसरे दिन यह महफिल साँझ के समीप जमी। फिर तीसरे दिन भी साँझ ही को, चौथे दिन साँझ की बजाय सवेरे ही यह रौनक शुरू हो गई। इस बीच मुझे पता चल गया था कि कृष्णावेणी राजस्वला हो गई है। मुझे आश्चर्य जरूर हुआ, क्योंकि इससे पहले हिन्दुस्तान में कोई ऐसी प्रथा मेरे देखने में नहीं आयी थी।

भीमराव की बातों में मीनाकारी का रंग पैदा हो गया था। बोले—"झूठी शर्म में आन्ध्र देश कोई विश्वास नहीं रखता। सच कहता हूँ मुझे तो हैरानी है यह सुनकर कि आपके यहाँ कोई ऐसी प्रथा नहीं मनाई जाती।"

"जी हाँ। हैरानी तो होनी ही चाहिए," मैंने बढ़ावा दिया।

"कितना अन्तर है धरती-धरती का।"

"यह तो प्रत्यक्ष है।"

"रजस्वला होने पर मानो कन्या को प्रकृति का आशीर्वाद मिलता है।"

"आपका दृष्टिकोण बिल्कुल ठीक है, राव महोदय! और ऐसे अवसर पर आनन्द मनाने मे कभी नहीं चूकना चाहिए।"

"हमारे गीत आपको कैसे लगते हैं?"

"ये सब गीत, वीणा के स्वर आन्ध्र देश के शाश्वत बोल मालूम होते हैं।"

"आन्ध्र देश के शाश्वत बोल! हमारी यह प्रथा बहुत पुरातन है।"

"अवश्य पुरातन होगी।"

"पहले दिन जब कन्या को अपने राजस्वला होने का पता चलता है, वह किसी न किसी तरह तुरन्त माँ तक यह समाचार पहुँचा देती है। तीन दिन तक उसे हल्दी के पानी में रंगी हुई धोती पहन कर अलग कमरे में बैठना होता है। कोई उसे स्पर्श नहीं करेगा। उसकी आरती भी दूर ही से उतारी जायगी।"

"आरती में हमारे यहाँ जलता हुआ दीपक—चौमुखा दीपक न भी हो तो चिन्ता नहीं—आवश्यक समझा जाता है। पर आपके यहाँ—"

"अन्तर तो होता ही है धरती-धरती का। हमारे यहाँ बस कुमकुम ही आवश्यक मान लिया गया है आरती के लिए।"

"लाल कुमकुम?"

"कुमकुम सदैव ही सुर्ख होता है।"

मैंने मुस्कराकर आँखें झुका लीं। भीमराव ने अपनी बात जारी रखी—"खाने में भी रजस्वला को काफी परहेज करना होता है। लाल मिर्च और गर्म मशाले उसके लिए वर्जित हैं। बैठे-बिठाये उसे खिचड़ी, दूध और कुछ फल मिल जाते हैं। खाये और पूरा आराम करे। यह आवश्यक है।"

"तीन दिन के पश्चात क्या होता है ?" मैंने पूछा ।

"कन्या स्नान करके पवित्र हो जाती है । उसकी वह पीली धोती उपहार स्वरूप धोबिन को दे दी जाती है । अब वह माता पिता की हैसियत के अनुसार नए वस्त्र पहनकर बैठती है और यह चौथी अथवा अन्तिम आरती के समय उसके माथे पर बोट्टु लगा दिया जाता है ।"

"बोट्टु के लिये कुमकुम न हो तो आन्ध्र देश का काम ही न चल सके, राव महोदय !"

"कुमकुम ? यह तो आवश्यक है ।"

"बल्कि यह कहिये कि आन्ध्र देश और कुमकुम पर्यायवाची शब्द हैं ।"

"बस अब आपने ठीक समझ ली है बात ।"

"मेरी प्रवृत्ति आरम्भ से हरे रंग की ओर रही, राव महोदय !"

"हरे रंग की ओर ? पर लाल रंग निराली भाषा में बोलता है···कुमकुम का सन्देश आन्ध्र देश शताब्दियों से सुनता आया है ।"

"रंगों का अध्ययन मैंने भी कर रखा है, राव महोदय । हरे रंग का अपना स्थान है । प्रत्येक हरी वस्तु शान्ति की ओर संकेत करती है । प्रकृति को कदाचित् यही रंग सबसे अधिक पसन्द है । जब तक धरती बंजर नहीं हो जाती इसकी कोख से इस रंग के कारनामे सदैव हमारा ध्यान आकर्षित करते रहेंगे । कांग्रेस ने बहुत अच्छा किया कि अपने झंडे पर इस रंग को स्थान देने की बात भुलाई नहीं । श्वेत रंग मेरे विचार में पवित्रता का रंग है । हमारे झण्डे पर इसलिए यह रंग भी मौजूद है । और लाल रंग ? मैं समझता हूँ कि यह लहू का रंग है । अच्छे और स्वस्थ रंग । सद्यः प्रस्तुत, बलशाली जीवन का रंग··· हरा, श्वेत, लाल । खूब रंग चुने हैं ! कांग्रेस ने यह झण्डा बनाने का काम आन्ध्र देश को सौंप दिया होता तो सारे झण्डे पर कुमकुम ही कुमकुम फैल जाता ।"

"पर स्मरण रहे कि सुर्ख रंग का आशय समझने में आन्ध्र देश ने खूब कदम बढ़ाया है······कांग्रेस के बाँये हाथ ने जोर पकड़ा है, वह भी प्रत्यक्ष है, पिछले दिनों जब श्री सुभाष चन्द्र वसु कांग्रेस प्रधान के चुनाव में दोबारा खड़े

हुए तो आन्ध्र देश के मत बहुत भारी संख्या में उन्हीं को मिले थे। यद्यपि उनके मुकाबले पर खड़े होने वाले डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया आन्ध्र देश के अपने नेता हैं। पर आप जानते हैं इन बातों में लिहाजदारी तो ठीक नहीं होती। समाजवाद और देश की स्वतन्त्रता हमारे दो बड़े आदर्श हैं। और आन्ध्र देश को पृथक प्रान्त होने का सम्मान प्राप्त हो जाय, इसके लिए हम अपनी जानें लड़ाने के लिए तैयार हैं।"

"पन्तलु गारू ! (पण्डित जी)" बाहर से किसी ने आवाज दी।

भीमराव बाहर चले गए। मैं खिड़की में से उनकी ओर देखने लगा। यों लगा जैसे किसी के अदृश्य हाथ मेरे माथे पर कुमकुम का बोट्टु लगा रहे हैं। मैं झट वहाँ से हट गया और कमरे को अन्दर से बन्द करके मैंने बांयी खिड़की का परदा हौले-हौले एक कोने से सरकाया। सामने नयनाभिराम मजलिस नजर आ रही थी। कृष्णावेणी ने हलकी नीली अंगिया के साथ गहरी नीली साड़ी पहन रखी थी। बालियों के नगीने सरदई थे। ऐसा मालूम होता था कि मेरे मन के बचे-खुचे हरे रंग ने इन नगीनों में पनाह पा ली है।

अन्नपूर्णा ने वीणा पर मल्हार शुरू किया। उसकी अंगुलियाँ बहुत हुमक-हुमक कर चल रही थीं। पर इस राग से भी कृष्णावेणी की आँखें ऊपर न उठीं। अन्नपूर्णा आकाश की ओर देख रही थी और कृष्णावेणी धरती की ओर आँख झुकाये बैठी थी। किसने छू दिया था अपने अदृश्य विद्रोही हाथ से इस कन्या को?

"बहुत हो चुकी यह लाज वेणी !" अन्नपूर्णा बोली, मैं भी हुई थी रजस्वला तेरी तरह। मैंने तो पहले ही दिन के बाद मुसकराना शुरू कर दिया था, ऊपर, दायें-बायें, सामने देखना शुरू कर दिया था।"

"मैं तो अभी नहीं सताती किसी को।"

कृष्णावेणी के चेहरे पर हौले-हौले वही शोखी आती गई। अम्मा ने आगे बढ़कर कुमकुम उठाया और उसके बोट्टु को चमका दिया।

कृष्णावेणी अब कोई छुई-मुई न थी। हर चेहरे की तरफ उसकी आँखें उठ जाती थीं। काली झीलों में न जाने कितनी लहरे थिरक रही थीं......कृष्णावेणी की सुकोमल बाँह, जिन्हें देखकर हँस-ग्रीवा का भान हो आता था, ऊपर उठी और उसने सबको नमस्कार किया।

सब स्त्रियाँ और कन्याएँ मुसकराईं। सबके लाल बोट्टु ताजे कुमकुम से चमका दिए गये। जाने क्या कह रही थी काजल की रेखाएँ प्रत्येक आँख में ?···पान बंटे—हरे पान जो अपने सीनों में लाल रंग छिपाये पड़े थे। केले बंटे। नारियल बटे। सब उठकर खड़ी हो गईं···क्या लेकर रंगीन थीं ये साड़ियाँ ? क्या लेकर लाल थी यह धरती ?—इसकी रेखाएँ, इनकी गोलाइयाँ, ओठ, गाल, आँखें, वक्षस्थल ! कौन कलाकार इनकी रचना करता था ?······यह तो बहुत आवश्यक था। अनगिनत शताब्दियों से, हरी, श्वेत और लाल—शताब्दियों से यही होता आया था।

सब स्त्रियाँ चली गईं। सब कन्यायें अपने-अपने घरों को भाग गईं। अब केवल कृष्णावेणी और अन्नपूर्णा रह गईं। अम्मा रसोई में जा चुकी थी।

"अच्छा, पूर्णा, एक बात बताओगी ?" "पूछो-पूछो।"

"रजस्वला होकर भी मैं इतनी दुर्बल भी नहीं हुई। भला कैसे ?"

"कैसे ? यही होता आया है, बहन, आदिकाल से। मैं कौन दुर्बल हो गई थी ? बल्कि रंग निखर जाता है इससे।"

फिर दोनों बहनें उठकर अन्दर चली गईं। मैं अपने लाल कालीन पर लेट गया। मेरी आत्मा की गहराइयों से एक विचार उठा और बाहर से आने वाले हवा के झोंके से टकरा गया। मेरे मन में कांग्रेस का झण्डा लहरा रहा था। हरा, श्वेत और लाल—इस झण्डे की आयु बहुत अधिक तो न थी। पर ये रंग तो पुराने थे। हिमालय के समवयस्क रंग। होगा इन रंगों का अपना-अपना आशय पर मैं तो उस आशय पर मुग्ध था जो स्वयं हिन्दुस्तान ने इन रंगों से सम्बद्ध कर लिया था···और मेरी आँखों में वही लारी फिरने लगी जिस पर सवार होकर मैं भीमराव के मकान तक पहुँचा था।

दायें-बायें आमने-सामने, जहाँ तक मेरे मन की पहुंच थी, लाल धरती लेटी हुई थी। एक रजस्वला कन्या की तरह वह आराम कर रही थी। वह समय मुझे समीप आता दिखाई दिया जब उसकी कोख हरी होगी, और कोई ऐसा आदमी पैदा होगा जो ऊँची आवाज में पुकार उठेगा—हलों की जय ! अब इन खेतों में गुलाम नहीं उगेंगे। यह लाल धरती है !

गुर

•

मन्मथनाथ गुप्त

गुप्त जी हिन्दी के क्रांतिकारी लेखक हैं। आपका जन्म १९०८ में एक बंगाली परिवार में हुआ जो बनारस में आन बसा था। प्रारम्भ से आप आजादी के दीवाने थे और विदेशी शासन से सख्त नफरत थी। लिहाजा १९२१ में गिर-फतार कर लिये गये। उसके बाद कई बार पकड़े और छोड़े गये। यह सिल-सिला १९४६ तक चलता रहा। आपने अपनी जिन्दगी के १४ साल जेल में बिताये। १९२५ में जो ऐतिहासिक काकोरी केस चला, उसमें आप भी शामिल थे। चन्द्र शेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मल, अशफाख और राजेन्द्र लहड़ी को फांसी की सजा हुई और इन्हें कठोर कारावास का दंड मिला।

गुप्त जी ने जेल जीवन में ही लिखना शुरू किया। उनकी पहली रचना 'अवसान' थी जो १९३७ में सरस्वती में छपी। तबसे लेकर आज तक आप अनेकों महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना कर चुके हैं जिनमें कुछेक ये हैं—'क्रांतिकारी आन्दोलन का इतिहास,' 'राष्ट्रीय आन्दोलन,' 'प्रेमचन्द कथाकार,' 'प्रेमचन्द और उनका साहित्य,' 'जय यात्रा,' 'दुश्चरित्र,' 'अंधेर नगरी,' "दो दुनिया,' 'बलिदान का बकरा,' 'सुधार,' 'जिच,' 'उलझन,' 'प्रतिक्रया,' आदि इनकी रचनायें लोकप्रिय हो चुकी है। गुप्तजी एक मंजे हुए उपन्यासकार और कहानीकार, तीखे समा-लोचक और चिंतक हैं। जब मैंने उनसे पूछा कि इश्क ने 'मीर' को बड़ा शायर बनाया, आप का क्या ख्याल है इस बारे में? तो गुप्त जी ने गुलाब का फूल बन कर कहा—"अरे साहब, इश्क? अजी, इसी से तो मुझे लिखने की प्रेरणा मिलती है।" मैं उस हस्ती का नाम जानना चाहता था मगर फौरन मेरे सामने माया जी का चेहरा उभर आया और मैं खामोश हो गया।

मई के आरम्भ में ही हरीश को जाने क्या सूझा, बिस्तरा और सूटकेस लेकर नैनीताल पहुँच गया। अभी तक वहां सभी होटल खाली थे, इसलिये उसे जगह मिलने में कोई दिक्कत नहीं हुई। होटल वालों के चेहरों पर अभी तक गुस्ताखी का वह पुचाड़ा नहीं फिरा था, जो होटलों के भर जाने के बाद स्वाभाविक हो जाता है। हरीश के पास भी काफी समय था और होटल का मालिक सरजूप्रसाद तो निठल्ला था ही।

दोनों अक्सर बातचीत करते थे। हरीश दिल्ली से आया था, इसलिए वह अपने को सभी विषयों का ज्ञाता मानता था। सरजूप्रसाद भी उसके दावे को एक हद तक मानता था। हरीश कहता भी अच्छी बातें था। एक दिन बोला—"टूरिज़्म-टूरिज़्म कहते हैं, पर करते क्या खाक हैं? किसी को यात्रियों को आकृष्ट करने का गुर नहीं आता। जो लोग टूरिस्ट विभाग में बैठे हैं, वे तो किसी के संगे होंगे, इसलिए उन्हें कोई फिक्र नहीं। पर जो यात्री विज्ञापनबाज़ी में फ़ंसकर आ पड़ा, उसकी तो मौत है।"

सरजूप्रसाद मन ही मन हिसाब लगा रहा था कि इस समय कितना मुनाफा हो रहा है, इसलिए उसने अन्यमनस्क ढंग से कहा—"अभी हम लोग पिछड़े हुए हैं। जब हम सभी मामलों में पिछड़े हुए हैं, तो इस काम में पिछड़े रहना कोई आश्चर्य की बात तो नहीं है।"

हरीश बिगड़ कर बोला—"यही शिथिलता तो सारी बुराइयों की जड़ है। मुझे तो यहाँ इस झील के सिवा कोई आकर्षण नहीं मालूम होता। मैं तो दो हफ़्ते की छुट्टी लेकर आया हूँ, पर चार दिन में ही तबीयत ऊबने लगी है।"

सरजूप्रसाद बोला—"चाइना पीक जाइए, स्नो पीक जाइए, नाव चलाइए फ़्लैट पर घूमिए, घोड़े की सवारी कीजिए। दिल लग ही जाएगा।"

इसके बाद समतल क्षेत्रों में एकाएक गर्मी तेजी से पड़ने लगी और बेशुमार यात्री आने लगे। अब सरजूप्रसाद का कहीं पता नहीं लगता था यानी रहता तो वह काउण्टर पर ही था, पर कोई न कोई ग्राहक उसके सामने घिघियाता होता था कि उसे जगह मिल जाए। हरीश से कभी चलते-फिरते आते-जाते सलाम-दुआ हो जाती थी, बस।

हरीश की छुट्टियाँ खत्म हो रही थीं। उसे 8,600 फुट पर स्थित चाइना पीक बहुत पसन्द आया था, इसलिए वह आज फिर वहाँ जाने की तैयारी कर रहा था। 'शेडीग्रोव' रेस्टोरेन्ट में चाय पीकर जाने का कार्य-क्रम था। वह चाय पीता जाता था और रेस्टोरेन्ट में बैठे हुए दूसरे लोगों को ताड़ता जाता था। यों ही, कोई खास मतलब नहीं था। फिर भी, जब उसने चाय की हर चुस्की के साथ इधर-उधर देखा, तो उसे यह सन्देह हुआ कि एक युवती उसे ध्यान से देख रही है। हाँ, वह बराबर उसे देख रही थी। हरीश ने टाई कड़ी कर ली और चुस्की से चाय की चुस्की लेने लगा। वह जान-बूझ कर दूसरी तरफ़ देखता रहा, पर जब फिर उधर दृष्टि दौड़ाई, तो भी वह महिला उसकी तरफ़ देख रही थी।

उस युवती के साथ एक युवक भी था, जो सम्भवतः उसका पति था। हरीश ने सोचा—यह अजीब बात है कि सुन्दरियों के पति कुछ बुद्धू से होते हैं। इस युवक में भी इस नियम का व्यतिक्रम नहीं हुआ।

हरीश बिना कारण कुछ दुखी हो गया, पर कार्यक्रम तो बना ही हुआ था; इसलिए वह बिल चुका कर नीचे घोड़ों के अड्डे पर पहुँचा।

अभी वह घोड़ा चुन भी नहीं पाया था कि वही जोड़ी घोड़ों के अड्डे पर पहुंची। उस युवती ने आगे बढ़कर हरीश से कहा—"माफ़ कीजिएगा, क्या आप चाइना पीक जा रहे हैं?"

हरीश बोला—"हां, और आप लोग?"

"हम लोग भी वहीं जा रहे हैं। चलिए, अच्छा हुआ—साथ रहेगा। अपा

जो इसके पहले भी गए होंगे…हम तो पहली बार आए हैं ।"

हरीश ने कहा—"रास्ता बहुत सीधा है । यहाँ तो कोई वैसा टेढ़ा रास्ता नहीं है, जैसा कश्मीर में होता है ।"

"तो क्या आप कश्मीर भी गए हैं ?"

हरीश नम्रतापूर्वक झेंप के साथ बोला—"जी हां. यहां तो बस यही शौक है–हर साल हिमालय की गोद में कहीं न कहीं जाना । बड़ी शान्ति मिलती है ।"

तब तक युवती का पति एक घोड़े पर सवार हो चुका था । उसने आवाज दी—"पूर्णिमा ! लो जल्दी करो । अब धूप बढ़ रही है ।"

पूर्णिमा के सामने घोड़ा आ गया । वह उस पर सवार हो गई । हरीश भी अपने घोड़े पर सवार हो गया । पूर्णिमा ने हरीश को अपने पति से परिचित कराते हुए कहा—"तुम तो घबड़ा रहे थे कि जाने कैसी जगह होगी, पर यह महोदय पहले भी चाइना पीक जा चुके हैं ।"

सूखी हँसी के साथ दोनों का परिचय हुआ । मालूम हुआ कि पूर्णिमा के पति का नाम यादवचन्द्र है ।

तीनों साथ-साथ बाजार के अन्दर से होते हुए चाइना पीक की तरफ़ चले । बाज़ार के अन्दर पहुँचकर पूर्णिमा बोली—"ऊपर चाय-वाय तो मिल जाएगी ? कुछ दिक्कत तो न होगी ?"

हरीश बोला—"हां, पर वहां पानी तो नहीं है, इसलिए चाय छः आने प्याली मिलती है । खाने की चीज़ कोई खास नहीं मिलती है । हां, वह चाय वाला पकौड़ियां बनाता है, जिसे वह मनमाने दाम पर बेचता है ।'

यह कहकर हरीश एक दुकान के सामने रुका और उसने एक पैकेट बिस्कुट मक्खन तथा कुछ अन्य चीजें लीं ।

पूर्णिमा का इशारा पाकर यादवचन्द्र भी सामान लेने के लिए उतर रहा था कि हरीश ने अत्यन्त आग्रह के साथ उसे रोका, बोला—"अरे, क्या मैं इतनी चीजें केवल अपने लिए ले रहा हूँ ? आप लोगों का साथ हुआ तो कुछ तो सत्कार करना चाहिए ।"

पूर्णिमा बोली—"यह बात तो दोतरफ़ा है ।"

पर हरीश के अनुरोध पर और कुछ नहीं लिया गया। हरीश बोला—"अभी तो उधर भी खर्च होगा। आप घबड़ाते क्यों हैं ?"

ऊपर चढ़ते समय मालूम हुआ कि यादवचन्द्र का घोड़ा कुछ कमज़ोर है, इसलिए पूर्णिमा और हरीश बार-बार आगे निकल जाते और जब वे अधिक आगे निकल जाते, तो रुक कर यादवचन्द्र की प्रतीक्षा करते।

उस दिन का भ्रमण बहुत आनन्दपूर्ण रहा। अलग होते समय यह तय हुआ कि बाकी द्रष्टव्य स्थान भी साथ-साथ देखे जाएँ।

घनिष्ठता बढ़ी और हरीश ने दोनों को शनिवार के दिन अपने होटल में खाने पर बुलाया। सरजूप्रसाद से विशेष रूप से कह दिया गया था। जब अतिथि आए, तो स्वयं सरजूप्रसाद देख-रेख के लिए मौजूद था। सब खाने बहुत बढ़िया बने थे और अतिथि बहुत खुश होकर गए।

हरीश का जी इतना लगा कि उसने अपनी छुट्टी बढ़वा ली और नित्य सैर सपाटा तथा खाना-पीना एक साथ होने लगा। न हरीश अब सरजू के पास समय काटने जाता और न सरजू के पास ही हरीश के लिए समय था।

आज भीमताल और नौकुचिया ताल का कार्य-क्रम था। हरीश अभी उठ कर तैयार हो ही रहा था कि इतने में सरजू के साथ पूर्णिमा आई। सरजू कमरा दिखाकर चला गया। पूर्णिमा के लिए चाय आई और वह चाय पीने लगी। आज कुछ वह दुखी थी। हरीश को यह तो पहले ही पता लग चुका था कि वह अपने पति के उजड्ड व्यवहारों से दुखी रहती है। इसके अलावा दो दिन हुए पूर्णिमा ने हरीश से कहा भी था—"वह बाज़ वक्त बड़ी मक्खीचूसी कर जाते हैं। यहां आए हैं, तो दिल खोल कर पैसे खर्च करने चाहिए, पर वे तो एक-एक पैसे को दांत से पकड़ते हैं।"

इधर-उधर की बातों के बाद पूर्णिमा बोली—"मैंने बताया नहीं था, उनसे मैं बहुत दुखी रहती हूँ। आज तो हद हो गई, बोले कि आज से आप के साथ हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं। जब मैंने इसका कारण पूछा, तो वे आप पर बरस पड़े और बोले कि वह तो बाघ मालूम होता है। तब मैंने कहा कि कम से कम आज तो चलना ही है, क्योंकि वायदा कर चुके हैं, पर वे बोले—'नहीं किसी

भी हालत में नहीं। तुम या तो उसके साथ जाओ या मेरे साथ रहो।'

मैं बोली—"वह युग चला गया, जब मनुष्य गुफ़ाओं में रहते थे। उन दिनों स्त्री पति के हाथ की कठपुतली और उसकी बांदी हुआ करती थी। अब वह युग लद गया है। तुम तो सामने ही रहते हो, फिर क्या बात है?"

"पर वह नहीं माने। तब मैंने अपना सामान दूसरे होटल में रख लिया। अब समस्या है कि क्या करूँ? होटल वाला पेशगी माँगता है, इसलिए मैं अपनी सोने की चुड़ियां आपके पास रखकर रुपया मांगने आई हूँ।"

हरीश बोला—"चूड़ियां आप रहने दीजिए, पर यह तो बड़ी अजीब परिस्थिति है। कहिए, तो मैं उनको जाकर समझाऊँ।"

पूर्णिमा बोली—"वे तो उसी समय लखनऊ रवाना हो गए। मैं अकेली रह गई।"

हरीश ने कुछ सोचा, फिर उसने रुपए निकाल कर दे दिए।

बोला—"अभी दो सौ लीजिए। कल बेंक से और निकालूंगा, तो दूंगा।"

उस दिन दोनों पूर्व निश्चय के अनुसार भीमताल गये, नौकुचिया ताल में दोनों बड़ी देर तक नाव पर सैर करते रहे। बस तो छूट चुकी थी—बड़ी मुश्किल से वे रात के नौ बजे नैनीताल वापस लौटे।

सैर-सपाटे का कार्यक्रम पूर्ववत जारी रहा, पर इधर सिनेमा देखना ज़्यादा बढ़ गया। यहां अधिक सिनेमाघर तो थे नहीं, इसलिए सिनेमा एक हद तक ही देखे जा सकते थे। अब पूर्णिमा अकसर सरजूप्रसाद के होटल में ही खाना खाती थी, पर वह हमेशा रात को नौ बजते ही चली जाती थी।

हरीश को नैनीताल में छः हफ्ते से ऊपर हो चुके थे और इस बीच काफ़ी खर्च हो चुका था। इसमें सात सौ की वह रकम भी शामिल थी, जो पूर्णिमा को उधार के रूप में दिये गये थे। सरजू ने भी सात सौ से ऊपर खींच लिया था।

अब हरीश कई बार पूर्णिमा से कहता था—"यह सैर-सपाटा तो चार दिनों का है। भविष्य का कार्य-क्रम क्या रहेगा?"

पर पूर्णिमा कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देती थी।

एक शनिवार को सैर-सपाटे के बाद पूर्णिमा बोली—"कल मैं नहीं आ सकूँगी। कुछ ज़रूरी चिट्ठी-पत्री लिखना है।"

"मैं आ जाऊँ?"—कहकर वह हँसता हुआ बोला—"अरे, मुझे तो अभी तक यह भी पता नहीं कि तुम किस होटल में रहती हो।"

पर पूर्णिमा ने इस तरह मना कर दिया कि हरीश ने फिर उसके यहाँ जाने की बात नहीं उठाई। वह समझ गया कि पूर्णिमा किसी सस्ती जगह पर ठहरी होगी, इसीलिए वह उसे वहाँ ले जाना नहीं चाहती।

अगले दिन रविवार था, पर पूर्णिमा के आने की सम्भावना न होने के कारण हरीश देर तक बिस्तरे से नहीं उठा। सरजूप्रसाद उसके कमरे के सामने से राउण्ड करता हुआ जा रहा था; अभी तक हरीश को बिस्तरे पर पड़ा देखकर बोला—"आज कोई प्रोग्राम नहीं है क्या?"

हरीश ने संक्षिप्त रूप से कहा—"नहीं।"

सरजूप्रसाद ने कहा—"मालूम होता है, कोई साथी नहीं है।

हरीश ने खिन्न होकर कहा—"हाँ।"

"तो आज लाट साहब के—क्या कहते हैं, राज्यपाल के—भवन की सैर कर आइए। वह बहुत सुन्दर स्थान है और रविवार को ही जनता के लिए खुलता भी है।"

हरीश बोला—"अरे, उसमें क्या होगा! यहाँ राष्ट्रपति भवन और प्रधान मन्त्री के भवन को छाने पड़े हैं।"

इस पर सरजूप्रसाद चुनौती के स्वर में बोला—"अजी, आपका राष्ट्रपति भवन तो इसके सामने कुछ नहीं है। यहाँ के भवन में इतनी ज़मीन है कि उसमें पाँच राष्ट्रपति भवन समायें। फिर प्राकृतिक सौन्दर्य, जंगल, बाग़-बग़ीचा और इसके अलावा बहुत भारी गाफ़कोर्स है।"

सरजू ने गुलमर्ग का गाफ़कोर्स नहीं देखा था, इसलिए उसने सावधानी के साथ कहा—"राष्ट्रपति-भवन और सारे राज्यों के राजभवन एक तरफ और नैनीताल का राजभवन एक तरफ़।"

हरीश बोला—"इधर यात्रियों को ठहरने की जगह नहीं मिलती और एक-

दो व्यक्तियों के लिये इतना बड़ा स्थान रखा गया है। क्या लोकतन्त्र है?"

सरजूप्रसाद जल्दी में था, बोला—"जाकर देख तो आइए, फिर बहस करियेगा।"

हरीश जल्दी से तैयार होकर चला और घूमते-फिरते राजभवन पहुँच गया। सचमुच जगह बहुत सुन्दर थी। प्रकृति का बहुत मनोरम रूप दिखाई पड़ता था। एक स्थान से दूर तक पर्वतमालायें दिखलाई पड़ती थीं। मैदान में जो घास लगी थी, यह सचमुच गुलमार्ग की याद दिलाती थी। इसके अन्दर कितनी ही सड़क और पगडण्डियाँ थीं। किसी ने कहा—"इन सड़कों की कुल लम्बाई साठ मील है।"

हरीश के मन में बहुत सी बातें आ रही थीं—विशेषकर यह बात आ रही थी कि इसमें यात्रियों के लिये एक-एक कमरे वाले दो हज़ार घर बनाने पर भी इसका सौदर्न्य कायम रह सकता है।

बहुत बड़ी संख्या में लोग पिकनिक करने आये थे, पर हरीश अपने विचारों में डूबा था। एकाएक उसे वहाँ पूर्णिमा की झलक मिल गई। वह चौकन्ना हो गया। क्या यह भ्रम था? नहीं, यह पूर्णिमा ही थी और उसके साथ वही यादवचन्द्र। अरे! वह तो कहती थी कि यादवचन्द्र महीना भर पहले ही चला गया।

हरीश किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा परिचालित होकर पूर्णिमा की ओर बढ़ा। पति-पत्नी हँस-हँस कर बातें कर रहे थे, यह देखकर वह बहुत आगे नहीं बढ़ा। वह लौटने ही वाला था कि पूर्णिमा ने उसे देख लिया। एक बार उसका चेहरा फक हो गया, पर तुरन्त ही वह संभल गई और उसने अपने पति से निगाह बचा कर हरीश को इशारा कर दिया कि उधर झुरमट में खड़े रहो। हरीश ने आज्ञा का पालन किया। थोड़ी देर में पूर्णिमा आई और बोली—"मैंने कल बताया नहीं था कि वे कल फिर आ गए। होटल में तो उनसे बात हो नहीं सकती थीं, क्योंकि वह बात-बात में चिल्ला पड़ते हैं, इसलिये आज यहाँ चली आई। मैं अब उनसे बिलकुल छुटकारा किये लेती हूँ। बहुत माफ़ी-वाफ़ी माँग रहे हैं, पर मैं किसी तरह नहीं मानने की। मैं जाती हूँ।"

कहकर वह मुसकराती हुई चली गई। हरीश को सारी बात कुछ अजीब

मालूम हुई; पर जब उसने गहराई से सोचा, तो उसे मालूम हुआ कि ऐसी सुन्दरी पत्नी के लिये लखनऊ में लौट आना और माफ़ी माँगना कोई बड़ी बात नहीं है। फिर भी, उसके मन ने कहा कि पूर्णिमा को कल ही उसे सारी बात बता देनी चाहिये थी।

हरीश का मन फिर राजभवन में नहीं लगा और वह सीधे अपने होटल में पहुँचा। संध्या-समय वह पड़ा-पड़ा कुछ पढ़ रहा था, पर उसके कान दरवाज़े की ओर लगे थे।

जैसी उसे आशा थी, वैसा ही हुआ। पूर्णिमा आई और बोली—"वह तो दुष्ट निकला। कहता है कि अगर मैं उसके साथ न चलूँ, तो हम लोगों के विरुद्ध व्यभिचार का मुकद्दमा चलाएगा! इस पर मैंने कहा कि देखो, हम लोगों में प्रेम तो रहा नहीं—अब जो चाहते हो, सो बताओ। तब उसने बहुत घुमा-फिरा कर यह कहा कि एक हज़ार रुपया लेकर वह हम लोगों का पिंड छोड़ने को तैयार है। किसी तरह मना-मनू कर मैंने इसे पाँच सौ करा दिया। अब आप 'ना' न करिये। इन चूड़ियों को ले लीजिये और पाँच सौ रुपए दे दीजिये, ताकि उससे हमेशा के लिये पिंड छूटे। ज़िन्दा रहूँगी, तो ऐसी चूड़ियाँ जाने कितनी मिलेंगी।"

हरीश ने चूड़िया लेने से इनकार किया, बोला—"मेरे पास इतने रुपये तो नहीं होंगे।"

पूर्णिमा बोली—"तीन सौ तक हों, तौ भी उसे वापस भेज सकती हूँ—न होगा उसी को दो-तीन चूड़ियाँ दे दूंगी। ऐसे समय चूड़ियाँ काम न आएँ, तो कब आयेंगी!"

हरीश बोला—"यह तो ब्लैकमेल है··· । और एक बार इसके सामने घुटना टेका, तो फिर वह हर छठे महीने आकर आपसे रुपये वसूल करेगा।"

"अजी, तब तक मैं कोई काम खोज लूंगी, आप सहायता तो करेंगे ही। अभी तो यह बला टले।"

अन्त में, हरीश ने दो सौ पच्चीस रुपये, जो उसके पास थे, दे दिये और पूर्णिमा अपना छुटकारा कराने के लिए चली गई। यह रुपये देना हरीश को

अखरा, पर अन्तिम खर्च के रूप में उसे एक तरह की तसल्ली भी हुई।

अगले दिन पूर्णिमा निश्चित समय पर नहीं आई–यहाँ तक कि दिन भर नहीं आई। क्या वह दुष्ट फिर भी नहीं माना? कहीं वह उसे जबर्दस्ती तो नहीं ले गया। वह आदमी सब कुछ कर सकता है। देखने मे बिलकुल कोई दागी मालूम होता है। होटल का भी तो पता नहीं कि जाकर कुछ पता लगायें।

दो-तीन दिन तक हरीश होटल से बाहर नहीं निकला, तो सरजू उधर से निकलते हुए बोला– "भई, क्या बात है? अब जी नहीं लगता?

हरीश बोला—"कुछ ऐसी ही बात है।"

सरजूप्रसाद कुर्सी पर बैठ गया, बोला—"क्या आप लड़की के पीछे इतने परेशान हैं?"

पहले तो हरीश माना नहीं, फिर उसने सारी बात बता दी और कहा—"होटल का पता होता, तो कुछ पता लगता।"

तब सरजूप्रसाद ठहाका मार कर हँसा, बोला—"अरे! आप इसी बात पर परेशान हो रहे हैं? न पति-पत्नी में कोई झगड़ा हुआ है और न वह आप को चाहती ही है। यह सब तो मिली भगत थी। वे हर साल यहाँ आते हैं और किसी न किसी को फाँस कर सारा खर्च निकालते हैं। ऊपर से कुछ ले भी जाते हों, तो कोई ताज्जुब नहीं।"

हरीश उठकर खड़ा हो गया, बोला—"आप को यह सब पता था?"

—"पता नहीं था तो क्या? ऐसे ही होटल चला रहा हूँ।"

—"मुझे क्यों नहीं बताया?"

—"आपको बताता, तो आप दो हफ्ते में ही चल देते; यहाँ आठ हफ़्ते हो गए। आप कहते थे कि यहाँ वालों को टूरिज़्म का गुर नहीं आता। देख लिया गुर?"

हरीश दंग रह गया। उसने उसी समय बिस्तरा बाँधा और दिल्ली की ओर चल पड़ा। ○○

एक सांवली लड़की

अमृत राय

राय साहब हिन्दी के जनवादी-प्रगतिवादी लेखकों में अग्रणीय हैं। गहरी दृष्टि, विषय का सूक्ष्म-वैज्ञानिक विवेचना और विश्व मानवता से बेमिसाल लगाव आपकी रचनाओं की मुख्य विशेषता है। 'तिरंगे', 'जीवन के पहलू,' 'इतिहास" 'कसबे का एक दिन' 'लाल धरती' 'भोर से पहले' 'कठघरे' (कहानी संग्रह) 'बीज', 'हाथी के दाँत', 'नाग फनी का देश' (उपन्यास) 'नयी समीक्षा' 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' 'शाँति के योद्धा प्रेमचन्द' 'कलम का सिपाही : प्रेमचन्द" (समीक्षा) 'आदि-विद्रोही' 'फाँसी के तख्ते से' 'अग्नि दीक्षा' 'नूतन आलोक' 'वरन बरन के फूल' (अनुवाद) 'सुबह के रंग' (यात्रा संस्मरण) आपकी बहुचर्चित और बहु प्रशंसित रचनायें हैं। हिन्दी और अंग्रेजी की तरह उर्दू-फारसी पर भी पूरा-पूरा अधिकार है। बातें करने लगें तो रात के दो बजा दें मगर सुनने वाले को उकताहट का अहसास न हो। मेरा ख्याल है कि शोभा जी उनकी इस आदत से जरूर तंग होंगी, मगर क्या किया जाये—'छुटती नहीं है काफ़िर मुँह को लगी हुई। अमृतराय साहब के बारे में यह बात असंदिग्ध रूप से कही जा सकती है कि वह एक पुरखुलूस दोस्त, मेहरबान, मेजवान और ईमानदार साहित्यकार हैं। बस !

अब आप उनकी एक "साँवली लड़की" से मिलिये !

तुम मुझसे आँख क्यों नहीं मिलातीं, माँ ?···हमारे झूठ की एक बाड़ खड़ी है—कँटीली झाड़ी एक ··हम दोनों इसके इधर-उधर दुबके खड़े हैं।···हम लुका-छिपी खेल रहे हैं ।

लुका-छिपी बच्चों का खेल है। बच्चों का खेल बच्चों को ही खेलने दो। मैं अब बच्चा नहीं हूँ, औरत हूँ, जैसी तुम हो। लुका-छिपी हम नहीं खेल सकते। चाहें भी तो नहीं खेल सकते। प्रकृति का वह वरदान हमारे पास अब नहीं है—वह विराट् कुतूहल, वह सरल विश्वास, वह चिन्मय कल्पना, वह प्रफुल्लित आत्म-वंचना, कुछ भी तो नहीं हैं। तुम मुझको देखती रहो, उँगलियों के झरोखे में से, मैं तुमको देखती रहूँ और हम नाटक करें देखकर भी न देखने का यह तो बहुत फूहड़ आँखमिचौनी है। छोड़ो इसको।

चाँदनी का जादू भी अब नहीं है, अब तो रुद्र तप रहा है माथे पर, जिसके निष्ठुर प्रकाश में सब कुछ नितान्त अनावृत है—वेश्या की देह के समान, उलंग खरीदार की लोलुप दृष्टि के समान। मीठे, चुपचाप, अँधेरे कोने अब नहीं हैं। लुका-छिपी खेलने का समय बीत गया। निकलो अपने उस सीलन भरे अँधेरे से, बाहर आओ—जहाँ मध्याह्न का यह सूर्य तपे श्वेत लोहे की सलाख जैसा दहक रहा है···यह नंगे होकर धूप की बरखा में नहाने का समय है खोल दो किवाड़ें सब, उतारो ये कपड़े बोरों जैसे, पड़ने दो सूरज की आँख, खुलने दो रहस्य अपनी गोपन कन्दराओं का···सब नहा रहे हैं, हम भी नहायेंगे · आजका यही महापर्व है ··झूठ की तहें जो लिपटी हुई हैं हमारी आत्मा के गिर्द संस्कार बनकर, मैं उन्हें धो डालना चाहती हूँ; बड़ी-सी एक झाड़ू लेकर साफ कर देना चाहती हूँ वे तमाम मकड़ी के जाले जो वर्जनाएँ बनकर मेरी देह के गिर्द लिपटे हुए हैं ।

झूठ है कि लज्जा नारी का आभूषण है। झूठ है कि नारी अन्ततः माँ है। झूठ है कि नारी पूजनीया है।...अब तुम मुझे बहला नहीं सकतीं, माँ, मैं जानती हूँ, मैंने देखा है, भोगा है। तेईस साल की उम्र छोटी नहीं होती अपनी दुनियाँ को पहचानने के लिए और अब मैंने उसे पहचान लिया है। नारी का आभूषण लज्जा नहीं, उसकी कनक-जैसी देह-यष्टि।

लज्जा का वह आटोप वन्दरमुँहा कंटोप...कितना वीभत्स था।... यहाँ मत जाओ, वहाँ मत जाओ, इससे मत बोलो, उससे मत बोलो, यह किताब मत पढ़ो, वह तसवीर मत देखो सिर पर आँचल रखकर चलो, ओढ़नी का खयाल रखो... कहीं कोई तुम्हारी पिंडली न देख ले कहीं तुम्हारी देह का उभार न झलक जाय !... क्यों नहीं, मैं पूछती हूँ ? सूम के धन की तरह अपना यह शरीर बचा करमैंने क्या किया ? किस काम आया मेरे ? रखा तो मैंने इसे सात तालों में जड़कर, पर क्या मिला मुझे ? आज कोई इसका गाहक नहीं है। कहाँ-कहाँ तुम मुझको लेकर नहीं गयीं ! किस-किसको नहीं दिखलाया ! अमुक के यहाँ चाय है, बेटी, चलना ; अमुक के यहाँ संगीत की गोष्ठी है, बेटी, चलना। आज तुम्हारे पिता के एक बड़े घनिष्ठ मित्र सपरिवार अपने यहाँ आ रहे हैं, बेटी, तुम उन्हें अपने हाथ से चाय बनाकर पिलाना। कभी पार्क में घूमने के बहाने, कभी सिनेमा के बहाने मैं सब समझती थी और शायद तुम भी समझती थीं कि मैं समझ रही हूँ, पर एक झीना-सा परदा आँख की शर्म का...हमारे पास क्या आत्म-सम्मान नाम की कोई चीज नहीं है ? यही पूजा है नारी की ? पाँच जोड़ा आँखें, तीन आँखें, बर्मे की तरह शरीर को छेदती हुई मैं सिर झुकाये चाय ढाल रही होती या खिड़की के बाहर दूर कहीं किसी पेड़ की फुनगी या किसी मकान की मुँडेर पर अपना मन उलझा रही होती। पर उतनी-उतनी आँखों में छिदते हुए अपने शरीर का परिज्ञान मुझे बराबर बना रहता। डाक्टरी जाँच मैं समझ सकती हूँ। देख लो, अच्छी तरह, आलों की मदद से, कहीं कोई खोट नहीं है उस माल में जो तुम्हें खरा कह कर दिया जा रहा है।... मन के डाक्टर की जाँच भी ठीक है, कहीं कोई गाँठ तो मन की किसी परत में छिपी नहीं बैठी है। पर यह चोर जैसी सहमी हुई और डाकू जैसी ढीठ निगाह, दो-चार नादान

खरीदारों की, क्या जाँचती है, क्या टटोलती है ?···कभी किसी ने मुझ से पाँच मिनट बात करने की भी जरूरत नहीं समझी···फिर क्या देखते हैं लोग ? हाँ, देखते हैं रंग, रूप, और रूप भी नहीं, रंग, केवल रंग। मेरा रंग सांवला है, इसीलिए पाँच बार हाँ, पाँच बार, इन सात बरसों में, मुझे फेल कर दिया गया। उन्हें दूध की नहलाई हुई, गोरी-चिट्टी, सेब जैसी सुर्ख-सफेद लड़की की तलाश थी ! अपना मुँह भले अलकतरे जैसा हो, लड़की उन्हें बर्फ की पुतली जैसी चाहिए ! दो-एक श्रीमान तो खुद ही देखने आये थे···तुमने मुझे बताया नहीं था, पर मैं जान गयी थी। · तुम्हीं कहो, कैसा था उनका रंग-रूप ? मक्खी भिनकती थीं चेहरे पर ! उबकाई छूटती थी कल्पना-मात्र से ! दीमकचटे नपुंमक चेहरे ! क्या था उनके पास एक युवती को देने के लिए ! ऐसे आदमी के साथ सोने से जहर खा लेना अच्छा है, ज्यादा अच्छी नींद आएगी। पर कौन कहता ऐसी बात, और कैसे कहता !···मैं उनके लिए चाय ढालती रही या खीर परोसती रही और वे हमारे मुँह पर थूक कर चले गये ! हमने जहर के घूंट की तरह अपमान पी लिया और राह तकने लगे अगले ग्राहक की जो तुम्हारी इस कलमुँही बेटी को अपने अंक में लेने योग्य समझता ! बन्द करो, माँ, अब यह खेल बन्द करो। मेरा सर फटा जा रहा है···मैं पागल हो जाऊँगी···कहीं तो, कोई तो सीमा होगी इस कदर्य धैर्य की ! मुझे याद है पहली बार जब कुछ लोग आये थे···कैसा धड़क रहा था मेरा जी जैसे धौंकनी चल रही हो ! इन्द्रधनुषी तितलियाँ उड़ रही थीं आँखों के आगे। नसों में भौंरों की गूँज भर उठी थी। कान में शहनाइयाँ बागेसरी की धुन बजा रही थीं। मंगलध्वनियाँ हो रही थीं। तोरण खिंचे हुए थे। केसरिया पाग बाँधे एक बाँका शहसवार मेरे दरवाजे पर खड़ा था। फूलों का हार पहने पालकी दुलहन जैसी सजी खड़ी थी और तुम मेरा माथा चूम कर मुझे आशीर्वाद दे रही थीं। तुम रो रही थीं अपनी बच्ची के सौभाग्य-सुख से···मैं रो रही थी अपने नये अभिज्ञान की अनजानी पीड़ा से। सिहर-सिहर उठती थी मैं। अनजाने ही जैसे कोई मेरे कपोलों पर लाज का सिंदूर मल जाता और आँखों पर सपने का चन्दन-लेप···मेरी आँखें खुली रहतीं और मैं सपना देखती रहती।···

अच्छा हुआ कि वह सपना टूट गया। मुझे कोई दुख नहीं उसका। हुआ था जब हुआ था, अब नहीं है। अब तो बस एक आग सुलग रही है···मैं जानती हूँ, मैं कोई सुन्दरी नहीं हूँ, पर वैसी भी नहीं हूँ। कालेज में कितने ही लड़के प्यासी नजरों से मुझे देखते रहते थे। उनकी शर्मायी-शर्मायी चोर निगाहों का मतलब मैं समझती थी ··ज्यादा कुछ नहीं, बस इतना कि मैं उनसे दो-एक बार बोल लूं कभी साथ बैठकर एक प्याली चाय पी लूं लेकिन मैंने कभी किसी को पास नहीं फटकने दिया। मेरे उस गम्भीर मुखौटेको चीर सकने का साहस किसी माई के लाल में न था। मैं खुद अपनी सन्तरी थी। तुमने यही मुझे सिखाया था। पर अब मैं देखती हूँ कि वह मेरी सबसे बड़ी भूल थी। आज अब मैं अपना वह सूम का धन देना भी चाहती हूँ, तो कोई लेने वाला नहीं है। और तुम गली-गली मुझे लिये घूम रही हो और लोग मुँह बिचकाकर चले जाते हैं! माल सड़ जो गया इतने दिनों में; क्यों ले कोई दागी माल! यह सब वरदान है उस लज्जा के आभूषण का जो तुमने इतने दुलार से मुझे पहनाया था औरमैं ने मूर्ख की तरह पहन लिया था · लज्जा का वही कंटहार जो आज मेरे गले का पट्टा बना हुआ है जैसा डामल के कैदी पहने घूमते हैं! झूठ है बहुत बड़ा झूठ है। कितनी नीची निगाह से मैं तब देखती थी प्रमिला खन्ना को सिर्फ़ इसलिए कि वह शोख और रंगीन कपड़े पहनती थी, आजादी से लड़कों के साथ उठती-बैठती थी, उनके साथ पिकनिक पर जाती थी, होटलों के फेरे करती थी, उनकी हर धमा-चौकड़ी में प्रमिला खन्ना उनके साथ थी एक साथ दो-दो चार-चार लड़कों से उसके लव-अफेयर हुए एक-दो बार चाकू भी चल गया उनमें···बदनामी भी हुई···तीन साल के लिए यूनिवर्सिटी से रस्टिकेट भी की गयी। मैं और मेरे ही जैसी दूसरी लाजवन्तियाँ उसे एक बाजारू औरत समझतीं और सामना पड़ जाने पर घृणा से मुँह फेर लेतीं और मन-ही-मन ईर्ष्या करतीं। क्या हुआ उस बदनामी से, रस्टिकेशन से, हम लाजवन्तियों की घृणा से ठाट के साथ एक खूब बड़े अफसर से उसकी शादी हुई। माडल टाउन में उनका अपना एक बेहद खूबसूरत मकान है। मोटर है। अर्दली-चपरासी हैं। नन्हा-मुन्ना-सा एक डाशुंड कुत्ता है और बच्चा अगर नहीं है तो इसलिए कि दोनों को बच्चों से नफरत

है···व्यर्थ का एक झंझट असली दुश्मन नारी के नारीत्व का शरीर, मन, सब कुछ जैसे भूल जाता है ···कहाँ रह जाती है फिर वह ताजगी नये-नये फूल की ! झूठ है कि नारी अन्ततः माँ है सरासर झूठ। नारी अन्ततः नारी है, रमणी है, भोग्या है। मातृत्व उसकी आदिमकालीन विवशता है। विज्ञान की इस शताब्दी ने उसको भी मिटा दिया। चिरयौवन का अमृतपात्र अब उसके हाथ आ गया है। चालीस की अवस्था में भी वह चौदह की दीख सकती है वैसा ही हल्का-फुलका दुबला-छरहरा शरीर, वैसे ही सुडौल कसे हुए अंग, वैसे ही पतले रसीले रक्तिम ओठ, आँखों में वही चपल कौमार्य, चाल में वही फुरती। यौवन की यह रत्नमंजूषा फेंक कर उठा लेना एक गठरी परेशानियों की···हर दिन हर समय चिन्ता···अभी खाँसा, अभी पेट चलने लगा···अभी सीना जकड़ गया। बहुत मंहगा सौदा है···बहुत। तुम लोग बेवकूफ थीं, माँ। तुम्हारा युग बीत गया। नया युग प्रमिला खन्ना का है। सारी दुनिया उसी तरफ जा रही हैं। देखने-देखते ढह पड़ी झूठ की पाखंड की वह इमारत जो तुम लोगों ने सदियों में खड़ी की थी···खुद ही देख आओ न एक चक्कर लगाकर, कहीं अब वह ढीले-ढीले लद्धड़ कपड़े नहीं हैं, न वह अंगों का चुराना, न वह तुम्हारी चहेती आँखों की शर्म, न वह सहमी-सहमी-सी हँसी, न वह लबड़-झबड़ चाल···और क्यों हो

क्यों हो, मैं पूछती हूँ नारी की सबसे बड़ी सम्पदा—अकेली सम्पदा—पूँजी उसका शरीर है। कारबार में लगाने से पूँजी की वृद्धि होती है मैं सुन रही हूँ, माँ, तुम जो कहना चाहती हो वही एक बात तुम्हारी, बासी-पुरानी··· लज्जा···नारी का आभूषण···तुम्हें मुबारक हो तुम्हारा आभूषण। मुझे अब उससे घिन मालूम होती है। जीवन लज्जा का भार ढोने के लिये नहीं है, माँ, जीवन आनन्द करने के लिये है···आनन्द, पाने के लिये आनन्द देने के लिये। इसको छोड़कर जीवन का दूसरा कोई अर्थ नहीं है, प्रयोजन नहीं है···बाकी सब ढोंग है, ढकोसला है···आज की लड़की ने अच्छी तरह जीवन के इस गुर को समझ लिया है, तभी तो वह मजे में दोनों हाथों से अपने को लुटा रही है··· लुटाना ही पड़ता है। हैं, मेरी जैसी भी अभी काफी हैं···वैसे ही जैसे दुनिया में

लूले-लंगड़े-अपाहिज भी बहुत हैं···उनका कोई भविष्य नहीं है···समय उन्हें पीछे छोड़ गया है···उनकी जगह कूड़े के ढेर में है। समय आनन्दी पुरुष है···रसिक नागर···वह बँधना नहीं जानता···वह केवल उसका है जो आगे बढ़कर उसे अँकवार में ले ले···तभी तो इतनी आपा-धापी है···जो इस दौड़ में नहीं है, वह कहीं नहीं है ··उसका टिकट कट चुका है। पर मैं इस तरह नहीं मरना चाहती—उपेक्षित···तिरस्कृत··· मिट्टी का तेल छिड़क कर गले में फाँसी लगाकर···नदी में डूबकर···नहीं···नहीं···मैं जीऊँगी···दौड़ूँगी समय के साथ···तोड़कर उन बेड़ियों को जो तुमने मेरे पैरों में डाल रखी हैं···मेरी आँखें अब अच्छी तरह से खुल गयी हैं···तुमने अब तक झूठ कहा था मुझ से···नारी का आभूषण लज्जा नहीं, निर्लज्जा है···जो जितना ही निर्लज्ज है, वह उतना ही अजेय है···गालियाँ खाकर भी अजेय है···सब उसकी चौखट पर नाक रगड़ते हैं···गालियाँ देने वाले भी, बल्कि शायद वही सबसे ज्यादा···निर्लज्जता में ही उसकी जीत है, क्योंकि वह तुम्हारे बुड्ढे खूसट नीति आचार को ठेंगा दिखाकर सीधे बात करती है उस पशु से जो हर पुरुष के भीतर है, उसी की अपनी भाषा में···नहीं, माँ, सिर मत हिलाओ, वह पशु सबके भीतर है···अजर···अमर···अविनाशी···सनातन···उस को झुठलाने की कोशिश मत करो···।

मैंने भी उस पशु को देखा···कितनी ही बार देखा है···कितने ही रूपों में देखा है···कितना डरी थी मैं पहली बार···नौ साल हुए तारीख भी मुझे अच्छी तरह याद है, १७ अगस्त १९५:···तब तक हम लोग अपने इस घर में नहीं आये थे, वहीं मोती बाग में रहते थे···पिता जी अभी जीवित थे···तुम लोग सहारनपुर गये हुए थे, चाचाजी को देखने···घर में बस हम दोनों लोग थे, मुकुल और मैं···अगले दिन मुझे जूड़ी देकर खूबजोर का बुखार चढ़ा···मुकुल दौड़ा गया और डाक्टर बाबू को ले आया··तुम्हें भी याद होगी डाक्टर बाबू की, पिता जी के बड़े अच्छे मित्रों में से थे, डाक्टर नीरोद सेन···तुम्हें बउदि कहकर पुकारते थे···मैं उनकी रज्जो बिटिया थी···डाक्टर बाबू ने ब्लाउज के गले में से हाथ डालकर मेरी छाती पर आला लगाया, फिर पलटने के लिये कहा और पीठ पर आला लगाकर उसकी आवाज सुनते रहे···तभी शायद कुछ एक

और भी आवाज उन्होंने सुनी···उनकी आँखों में एक अजीब-सी चमक आ गई ···मैं डर गयी उसे देखकर···डाक्टर बाबू मुसकराये और मुकुल से बोले, 'चष्ट में कंजेशन है। मैं पुरजा लिख देता हूँ, जाकर ऐंटीफुलोजेस्टीन का डब्बा लेते आओ···मैं अपने हाथ से बांध दूंगा··· ।' डब्बा, स्टोव जलाकर मुकुल ने उसको गरम किया और डाक्टर बाबू ने जेब से रूमाल निकालकर वह गरम डब्बा अपने हाथ में लिया···मुझे एक-एक बात याद है उस शाम की, जैसे किसी ने गरम लोहे से उसे स्मृतिपर दाग दिया हो···एक बार फिर निमिष भर के लिए वह चमक मुझे डाक्टर बाबू की आँखों में दिखाई दी ··मैं चिल्ला पड़ना चाहती थी, पर गले से आवाज नहीं निकली···डाक्टर बाबू उस समय झेंपी हुई-सी एक मुसकराहट के साथ मुकुल से कह रहे थे : 'देखो तो, कैसी भूल हो गई । गाज और लिट तो मँगाया ही नहीं···कोई बात नहीं···पास ही तो दुकान है··· तुम जाकर ले आओ···मैं तब तक दवा लगाता हूँ ।'···मुकुल चला गया और डाक्टर बाबू ने छुरी से दवा डब्बे में से निकालकर मेरी छाती के गड्ढे में रखा ···और हाथ से आस-पास सब तरफ फैलाने लगे···ठांवकुठांव···कितनी ही बार उनका हाथ बहका और मैं खामोश पड़ी रही···चिल्ला क्यों नहीं पड़ी, मैं खुद नहीं जानती। क्या वह मात्र भय था—अन्धा नामहीन भय, या विमूढ़ता किसी आकस्मिक आघात की, जिसमें क्रियाशक्ति लुप्त हो जाती है, या एक अछूती अनुभूति का आस्वाद भी उसमें मिला हुआ था, मैं नहीं जानती···मैं वैसे ही सोने का नाटक किए पड़ी रही और डाक्टर बाबू के हाथ अपना काम करते रहे—गाज और लिट लेकर मुकुल के लौटने तक ऐंटीफुलोजेस्टीन का प्लास्टर चढ़ चुका था और मैं कांप रही थी और यह बुखार की कँपकपी न थी··· ।

पाप से और पाप की ग्लानि से यह मेरा प्रथम परिचय था, पहला पलस्तर···अपने से आँख मिलाने में मुझे शर्म आती और डाक्टर बाबू की शकल से तो मुझे घिन हो गयी···बहुत दिन बाद—तुम लोगों के लौट आने के भी बहुत दिन बाद—डाक्टर बाबू ने एक रोज मुझे अकेले में पाकर मुझसे उस शाम के लिए माफी मांगी···मैंने घृणा से मुँह फेर लिया···आज सोचती हूँ कि

उन्होंने मुझसे किस बात की माफी माँगी थी···क्या इसकी कि उन्हें एक कुआरी लड़की का शरीर लोभनीय लगा ? पर वह तो कोई ऐसी अनहोनी बात नहीं। अनहोनी बात होती तो सत्तर बरस का बूढ़ा कैसे अपनी नातिन और पनातिन होने योग्य सोलह बरस की लड़की से ब्याह करता और समाज उस पर अपने समर्थन की मुहर लगाता ? क्या संस्कृत के दो चार अंट-शंट मन्त्र बिना समझे बूझे दुहरा देने से ही बात बदल जाती है ? क्या 'रज्जो बिटिया' कहने से ही मैं कुछ और हो गयी ··मेरी युवादेह का आकर्षण मिट गया ? वह मूर्ख था—डाक्टर बाबू—भगवान उनकी आत्मा को शान्ति दे, जो उन्होंने मुझसे माफी मांगी, और मैं मूर्ख थी जो मैंने घृणा से मुंह फेर लिया···सुनने में बात कितनी भी भद्दी, कितनी भी कड़वी क्यों न लगे, पर सच है, जवान औरत पुरुष के लिए औरत के अलावा कुछ नहीं होती ··दूसरे सारे नाते-रिश्ते औपचारिक सम्बोधन मात्र रह जाते हैं···एक आड़ तब तक के लिए जब तक किसी कारण या संयोग से भूख नहीं जगी··· ।

नये युग की नारी ने इस सत्य को जानकर स्वीकार कर लिया है···प्रमिला खन्ना के दुर्दान्त तेज का यही रहस्य है। उसने तो केवल राह दिखलायी थी। आज सभी उस रास्ते पर चल रहे हैं। सट्टाबाजार में अपनी पूंजी की हेरा-फेरी का गुर उसने जान लिया है। अब कोई उसे आगे बढ़ने से नहीं रोक सकता। जरा देखो तो बाहर निकलकर, कैसी-कैसी रंगी-चुंगी सजी संवरी पुतलियाँ बाजार में चमकती फिरती हैं—बेबाक निगाहें, तने सीने, लचकती कमर, कसी चोली जो शरीर ढंकने के लिए नहीं खोलने के लिए पहनी गई है, जिसे उतार दिया जाय तो शरीर कम नंगा लगे···और चाल में शराब की मस्ती जुआरी की मस्ती, खिलाड़ी की मस्ती···देखो···देखो, सब लोग जी भरकर मेरी यह रूपाराशि···भगवान का यह वरदान जो मेरे पास है,इसमें सबका हिस्सा है, मैं किसी को वंचित नहीं करती···यह जो आकाश से श्री की वर्षा हुई है, आओ हम सब मिलकर इसका उपभोग करें···

आज अन्तिम बार मैं किसी के हाथ बिकने गई थी। तुम मुझे गुड़िया की तरह सजाकर ले गई थीं। गाहक ने ठुकरा दिया—"लड़की साँवली है।"

अधूरा देखना है···अब मैं अच्छी तरह दिखाऊंगी अपने को···जैसे अभी यह आइना मुझे देख रहा है···रंगपर ही क्यों ठहर जाय आँख हर बार; और भी तो देखे कुछ जो मेरे पास है···न देखे हृदय जिसमें लालसा है, समर्पण है; शरीर तो देखे अच्छी तरह जिसमें वासना भी है, यौवन भी···

अब तुम मुझसे कभी कहीं चलने के लिए मत कहना, माँ। अब मैं खुद निकलूंगी और परीक्षा करके देखूंगी कि जो शरीर नारी के रूप में लोभनीय हो सकता है, पत्नी के रूप में कैसे इतना तिरस्करणीय हो जाता है···! आसान खेल नहीं है यह···मैं नहीं जानती, इसका अन्त कहाँ होगा, शायद रेल की पटरी ···हो जो हो···

विक्षु मां, अब मैं निकलती हूँ, बिकने के लिए···हाँ, बिकने के ही लिए··· पर किसी अनमने खरीददार के हाथों नहीं; ऐसे किसी के हाथों जो पहले मेरे हाथ बिक चुका होगा।···जहाँ सुख पाना और देना एक ही क्रिया है, वहाँ उसकी प्रस्तुति भी खरीदने और बेचने की एक क्रिया होगी; एक में एक प्रविष्ट, परस्पर संलग्न···

चालीस साल बाद

बलवन्तसिंह

बलवंतसिंह जी का हिन्दी में एक विशिष्ट स्थान है। विभाजन से पहले पंजाब में रहते थे और उर्दू में लिखते थे। सन् ५० के आस-पास हिन्दी में लिखना शुरू किया और अपनी एक विशिष्ट शैली तथा कथ्य की नवीनता के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये। अनेक उपन्यास-लघु उपन्यास तथा सैकड़ों कहानियाँ लिख चुके हैं। पंजाबी जीवन के जो चित्र आपने प्रस्तुत किये हैं, वे अत्यन्त मन-हर और दिलकश हैं। 'उषा', 'निशि', 'काले कोस', 'उजाला' "रात चाँद और चोर', 'रामावतार', 'पंजाब की कहानियाँ', 'रावी पार' आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

आप बेहद मेहमान-नवाज़, मिलनसार और विनम्र प्रकृति के हैं। प्रश्नों का जवाब देने से बड़ा ही घबराते हैं। शकल से मेजर, व्यवहार में लखनवी और गुफ़्तगू में खालिस पंजाबी हैं। वार्ता के बीच भरपूर कहकहा लगाकर यकायक गंभीर हो जाते हैं, ताकि सामने वाले को यह अहसास हो सके कि वह इस वक्त लाहौर में नहीं; बल्कि इलाहाबाद में बैठा है।

'चालीस साल बाद' में इन्सान की मजबूरी, माँ का प्यार और समय के ज़ालिम हाथों में व्यक्ति का घुटता साँस—अनेक स्वर—बड़ी ही खूबी के साथ चित्रित हुये हैं।

मनुष्य के जीवन में बाज़ ऐसी घटनायें भी होती हैं जिनकी याद जीवन-भर उसके दिमाग में मंडराया करती है······ऐसी ही एक घटना मेरे जीवन में भी घटी जिसे मैं कभी नहीं भूल सकूंगा······मैं उसे भुलाना भी नहीं चाहता।

यह घटना क्या थी—बहुत ही प्यारी मुहब्बत-भरी आँखों वाली, कमल से भी कोमल हृदय वाली एक औरत से मुलाकात।

यह मुलाकात कब हुई, कैसे हुई, क्यों हुई, ·· यह सब मैं आगे चलकर बताऊंगा—क्योंकि जब किसी औरत से मुलाकात हो तो ये सब बातें······ यानी उस मुलाकात के इन सब पहलुओं पर प्रकाश डालना बहुत ही आवश्यक होता है······इस मामले में मैं अपने पाठकों को निराश नहीं करूँगा।

सन् उन्नीस सौ बयालीस में मेरी उम्र अड़तीस वर्ष के लगभग थी। उन्हीं दिनों महात्मा गाँधी ने "भारत छोड़ो" (Quit India) का आन्दोलन चलाया —मैं उन दिनों अम्बाले में था हालाँकि पंजाब में इस आन्दोलन का कुछ कारणों से ज़्यादा प्रभाव नहीं पड़ा। फिर भी मैंने इसमें भाग जरूर लिया। फलस्वरूप मुझे जेल की हवा खानी पड़ी। मुझे घुमा फिरा कर मुल्तान की जेल में पहुँचा दिया गया। वहीं मेरी मुलाकात एक बूढ़े सिक्ख सज्जन से हुई जिसकी आयु करीब साठ साल की थी। उन्हें सब सन्त गुरदयाल सिंह के नाम से पुकारते थे।

जेल का संसार बाहर के संसार से भिन्न ज़रूर होता है लेकिन वहाँ की अपनी ही दिलचस्पियाँ होती हैं। एक दिलचस्प पहलू तो यह होता है कि जेल के बाहर वाले संसार में हर आदमी के साथ सम्बन्ध बढ़ाने की इच्छा नहीं होती क्योंकि हर आदमी इस योग्य होता ही नहीं—लेकिन जेल में परिस्थिति इससे बिलकुल ही अलग होती है······हम चाहे उस ससार के हर एक आदमी से

सम्बन्ध स्थापित न कर पायें······या न करें लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वहाँ का हर आदमी अपनी किस्म का बस एक ही होता है। हर आदमी दिलचस्प होता है। उन लोगों के सोचने का ढंग बाहर वालों से बिलकुल ही अलग होता है। शायद इसलिये कि उनको जिन्दगी की खासी बड़ी मंजिल से गुजरना पड़ता है यानि पहले तो उनका कोई अपराध करना, फिर मुकदमा और अन्त में दण्ड, यह सब मंजिलें उनके मन पर गहरा प्रभाव डालती हैं।

जेल के अन्दर कई लोगों से मेरा ताल्लुक बढ़ा परन्तु सन्त गुरदयाल सिंह से बहुत जल्दी ही मेरी काफी गाढ़ी छनने लगी······हम घन्टों एक-दूसरे से बातें किया करते। कई किस्म की समस्याओं पर हमारी बहसें होतीं।

अपने डील डौल से सन्त गुरदयाल सिंह के बारे में यह अन्दाजा लगाना कठिन नहीं था कि अगर उन्हें इतने वर्ष तक जेल में न रहना पड़ता तो उनका स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा होता। अब जेल का खाना खा-खाकर और वहाँ के घुटे-घुटे वातावरण में अट्ठारह साल व्यतीत कर लेने के बाद उनका ढाँचा ढीला पड़ गया था। उनके सारे बाल सफेद हो गये थे। चेहरे पर झुरियाँ पड़ गयी थीं पीठ पर कूबड़ दिखाई देने लगा था।

मुझे पता चला कि बीस वर्ष की उम्र में वह घरबार छोड़ कर साधुओं की एक टोली के साथ हिन्दुस्तान भर का चक्कर लगाते रहे। उनके मन को शान्ति नहीं मिली तो उन्होंने अपने देश की सेवा करने की ठानी। वह बमपार्टी के साथ भी रहे। उन्होंने बम आदि चलाये······अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध कई कार्यवाहियाँ कीं···कई बार जेल गये···कई बार जेल से भागे···और अब अट्ठारह वर्ष से वह कैदखाने की चारदीवारी में ही थे।

मैं यह जरूर कहूँगा कि मुझे उनसे न केवल गहरी सहानुभूति थी बल्कि मैं उनकी बड़ी इज्जत भी करने लगा था। इसलिये जब तक मैं जेल में रहा हम दोनों की खूब निभी। मुझे उन्होंने अपने जीवन की कई घटनायें सुनाईं······ एक से एक सनसनीखेज—सन्त गुरदयाल सिंह भारत के सैकड़ों उन लोगों में से थे जिन्होंने बिना शोर मचाये अपना जीवन अपनी जन्मभूमि पर कुर्बान कर दिया, शायद भारत के लोग कभी उनका नाम भी न जान सकें।

मुझे जल्दी ही कैद से छुटकारा मिल गया······कुछ तो मेरे रिश्तेदारों के कारण जो जेल के बाहर मुझे छुड़ाने की सिरतोड़ कोशिशें कर रहे थे—और कुछ इसलिये भी कि मैंने कोई खास जुर्म भी नहीं किया था।

जिस दिन मुझे जेल से बाहर निकलना था उस दिन सन्त गुरदयाल सिंह ने मेरे कन्धे पर हाथ रखा और मुझे एक ओर ले गये। मैं समझ गया कि वह मुझे कोई खास बात बताने जा रहे हैं।

कुछ देर चुपचाप खड़े रहने के बाद सन्त गुरदयाल सिंह ने कहा, "जेल से निकल कर क्या आप मेरा एक काम करेंगे?"

मैंने यही समझा कि कोई राजनीतिक बात ही होगी, मुमकिन है किसी बम बनाने वाले देशभक्त को कोई सन्देशा देना हो। यह काम तो खतरनाक था लेकिन उस व्यक्ति का इतना बड़ा बलिदान देखकर मैंने भी पूर्ण निश्चय कर लिया कि मैं उनका काम अवश्य करूँगा···चाहे इसमें मुझे अपनी जान की बाजी लगानी पड़े। चुनाँचे मैंने कहा "आप खातिर जमा रखिये···मैं आपका काम निश्चय ही करूँगा।"

यह सुनकर सन्तजी ने सिर झुका लिया···और फिर मुँह फेर कर धीरे-धीरे कहना शुरू किया—"जब मैं घर से बाहर निकला था तो उस समय मेरी उम्र बीस वर्ष थी···गोया अब इस बात को चालीस वर्ष हो चुके हैं—आपको शायद यह सुनकर आश्चर्य हो कि इन चालीस वर्षों में मुझे एक बार भी घर जाने का अवसर नहीं मिला···घर की जो खबरें मुझे प्राप्त होती रहीं उनसे मुझे पता चला कि अब तक मेरे सारे नजदीकी रिश्तेदार इस संसार को छोड़ चुके हैं···।"

यह भूमिका सुनकर मैं कुछ समझ नहीं पाया कि मुझे क्या करना होगा··· अब उन्होंने मेरी ओर चेहरा घुमाकर फिर कहना शुरू किया। "मेरी माँ अभी जिन्दा है···उसकी उम्र अब अस्सी के लगभग होगी बल्कि अस्सी से कुछ ऊपर ही। मैं चाहता हूँ कि आप वहाँ जायें और उसे मेरे बारे में बतायें···उससे कहें कि तुम्हारा बेटा अभी जिन्दा है और ठीक-ठाक है···"

अब सन्त गुरदयाल सिंह की आँखों में आँसू डबडबा आये···इधर न जाने मुझे क्या हुआ कि मैं मुँह से कुछ भी न बोल सका—मुझे चुप देखकर उन्होंने फिर कहा—"आप चुप क्यों हैं···क्या आप मेरा यह काम···"

मैंने उनका हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा, "बात यह है कि जब मैं चार साल का था तो मेरी माँ की मृत्यु हो गई······आप नहीं जानते कि जीवन में कितनी बार मेरे मन में यह कसक उठी कि काश मेरी माँ जिन्दा होती···इसलिये चुप रह गया···यह भी सोचा कि अपनी माँ के जिन्दा होते हुए भी आप उससे चालीस वर्ष से नहीं मिल सके।"

सन्त गुरदयाल सिंह ने मेरा हाथ अपने दोनों हाथों में ले लिया···और कुछ देर हम इसी तरह चुपचाप खड़े रहे।

जेल से निकल कर मैं सन्त गुरदयाल सिंह के गाँव की ओर रवाना हो गया ···उन्होंने मुझे पूरा पता बता दिया था। गाँव का नाम चिड़कपुर था और वह लुधियाना में था। पहले तो मैं गाड़ी पर सवार होकर लुधियाने पहुँचा। वहाँ से सोलह मील लारी का सफर किया—लेकिन चिड़कपुर पक्की सड़क से भी छः मील की दूरी पर था।

पक्की सड़क से मैं पैदल चला। गर्मी का मौसम था इसलिये चिड़कपुर पहुँचते-पहुँचते मेरा हुलिया बिगड़ गया—मैंने पहले कभी यह गाँव देखा नहीं था इसलिए बार-बार लोगों से इसका पता पूछना पड़ता था।

आखिर मुझे गाँव दिखाई देने लगा। गाँव से दो फर्लांग इधर करीब तीन फुट चौड़ी एक नहर बहती थी। मैंने कपड़े उतार कर उस नहर में स्नान किया जिससे बदन तो ठण्डा हो गया मगर रेत के नन्हें-नन्हें जर्रे मेरे छिद्रों में फंस कर रह गए। फिर मैंने अपने जूते को भी धो डाला। —यह पहली निशानी थी जिसके बारे में सन्तजी ने बताया था कि बचपन में वह अपने मित्रों सहित इसी नहर में नहाया करते थे···उन्होंने मुझसे कहा था कि तुम भी उस नहर में जरूर नहाना।

नहर पार करके मुझे काँटेदार झाड़ियों का एक फैला हुआ सिलसिला दिखाई दिया। मैं समझ गया कि यह कब्रिस्तान है। जहाँ छुटपन में मेरे मित्र

झड़बेरियों से बेर तोड़-तोड़ कर खाया करते थे···वहाँ पहुँच कर मैंने कब्रिस्तान में घूम फिरकर दो-तीन बेर भी खाये।

आगे बढ़कर गाँव के पास ही फुलाह का एक बहुत बड़ा पेड़ था जिसके नीचे की रूँ-रूँ धुन गाता हुआ एक रहट था···यह रहट भी वहाँ मेरे मित्र के बचपन ही से मौजूद था। मित्र ने कहा था कि उस रहट का पानी जरूर पीना। उस समय मिट्टी की बनी हुई टिन्डें लम्बे-लम्बे रस्सों से जकड़ी कुयें का ठंडा पानी भर-भर कर ऊपर ला रही थीं···जिस पाड़छे से पानी जमीन पर गिरता था मैं वही टाँगे फैला कर झुका और दोनों हाथ एक दूसरे से मिला कर पाड़छे के नीचे रख दिये। चूँकि पानी जितनी तेजी से मेरे हाथ में गिर रहा था उतनी तेजी से मैं उसे पी नहीं पा रहा था इसलिये पानी की सतह ऊँची उठने लगी। पहले उसमें मेरा मुँह डूबा फिर नाक···यहाँ तक कि पानी मेरी आँखों को छूने लगा—ठंडक की एक लहर मेरी आँखों से होकर सारे शरीर में दौड़ गई।

पानी पीकर मैंने अंगोछे से मुंह पोंछा और फिर कच्ची ईंटों के बने हुए मकानों के गाँव में घुसने से पहले मैंने अपने चारों ओर नजर दौड़ाई। चूंकि वह स्थान जरा ऊँचा था इसलिए दूर-दूर की सभी चीजें साफ नज़र आ रही थीं—दूर तक गई हुई नहर का पानी धूप में सोने के तार की तरह चमक रहा था। एक ओर कब्रिस्तान की झड़बेरियाँ आपस में घुली मिली थीं। दूसरी ओर खेतों में गोबर मिट्टी से पुती हुई धड़ें नजर आ रही थीं···जो असल भूसे के बड़े बड़े ढेर थे जिन्हें बारिश से बचाने के लिये ऊपर से लेप दिया गया था।—एक ओर मुझे सिक्खों का एक छोटा सा गुरुद्वारा भी दिखाई दे रहा था। उसके कलश पर भगवे रंग का झण्डा जिस पर दो तलवारें एक चक्कर और एक खण्डे का निशान बना हुआ था।

दो-तीन कुत्ते मारे गर्मी के निढाल हो रहे थे। वे कभी एक जगह बैठते ···। कुछ आदमियों से मैंने माई भागाँ के घर का पता पूछा।

पहले तो उन्हें आश्चर्य हुआ। शायद उन्होंने सोचा हो कि इस बुढ़िया को कौन मिलने चला आया—फिर एक आदमी ने पता बताया कि पास वाली गली में घुसकर मुझे किस-किस ओर घूमना पड़ेगा······यह भी बताया कि माई

भागाँ के मकान की दीवारों पर काँच के टुकड़े लगे हुए हैं और उसके दरवाजे के दोनों ओर दो पक्के चबूतरे हैं।

मैं आगे को चल दिया।

तंग गलियों में से होता हुआ मैं आगे बढ़ रहा था। कच्ची दीवारों पर गारे में मिले हुये भूसे के तिनके धूप में चमक रहे थे—कुछ ही देर में मैं माई भागाँ के मकान के आगे खड़ा था। दीवारों के ऊपर नोकदार काँच के टुकड़े दिखाई दे रहे थे ताकि कोई चोर जल्दी से उनपर चढ़ न सके। दरवाजे के दोनों ओर चबूतरे थे। दरवाजे के ऊपर गुरु नानक जी का चित्र बना हुआ था जिनके दोनों ओर उनके चेले भाई बाला और भाई मर्दाना बैठे थे।···मैं वहीं रुका रह गया जैसे किसी ने मेरे पाँव जमीन में गाड़ दिये हों।

मुझे इस तरह वहाँ खड़े देखकर उसी गाँव का एक सिक्ख युवक रुक कर पूछने लगा—"क्यों भाई! तुम यहाँ किसलिये खड़े हो?"

मैं उसे क्या बताता···चालीस वर्ष पहले इसी दरवाजे से गुरदयाल सिंह घर से निकल गये और आज मैं उन्हीं का सन्देशा लेकर वहाँ आया था···यह बात बताने की कोशिश करता तो जरूर ही मैं फूट-फूट कर रोने लगता।

मुझे चुप देख कर युवक ने पूछा, "क्या माई भागाँ से कोई काम है?"

"हाँ···मैं उससे मिलना चाहता हूँ।"

युवक ने धक्का देकर दरवाजे को खोल दिया और अन्दर झांकते हुए ऊँचे स्वर में बोला, "माई भागाँ! तुमसे कोई मिलने आया है।"

यह कह कर युवक तो अपने काम से चला गया और मैं धीरे-धीरे कदम उठाता हुआ अन्दर दाखिल हुआ।

मकान के आगे सहन में एक छप्पर पड़ा हुआ था। जो अगली ओर से दो लकड़ी के खम्बों पर टिका हुआ था—उसी के नीचे माई भागाँ बैठी चरखा कात रही थी। उस युवक की आवाज सुनकर माई का हाथ रुक गया। मैंने देखा कि उसके हाथ, पाँव और चेहरे पर झुर्रियों का गहरा जाम फैला हुआ है। उसकी आँखों की पुतलियों पर मोतियाबिन्द उतर आया था।—उसके चेहरे पर

गहरे आश्चर्य की झलक थी—उसने गोया युवक की बात का उत्तर देते हुए कहा, "मुझे कौन मिलने आया है ?"

कितना दुःख, कितनी निराशा थी इन शब्दों में—मैंने कहा, "माँ मैं तुम्हें मिलने आया हूँ।"

माई भागाँ ने आँखें फाड़-फाड़ कर मेरी ओर देखा, "मुझे तो तुम परछाईं की तरह दिखाई देते हो।—कौन हो तुम ?"

"मैं जेल में गुरदयाल सिंह के साथ था—मैं वहाँ से छूटा तो गुरदयालसिंह ने कहा कि मेरे गाँव में जाकर मेरी माँ से मिलना और कहना कि तुम्हारा बेटा ठीक-ठाक है।"

यह सुन कर माई भागाँ चकित रह गयी। उसकी पतली-पतली बाहें हवा में उठीं और उसके हाथ दायें-बायें लहराने लगे। उसके होंठ और नीचे का जबड़ा काँप रहा था—यों लगता था जैसे वह कुछ कहने जा रही हो। लेकिन आवाज हलक से नहीं निकल रही—मोतियाबिन्द की सफेदी में घिरी हुई उसकी आँखें और भी ज्यादा धुन्धली दिखाई देने लगी थीं—फिर बड़ी मुशिकल से वह हकलाते हुए कह पायी "तो—तुम—मेरे बेटे के पास से आ रहे हो ?"

"हाँ ?—मुझे उन्होंने बताया कि चालीस वर्ष पहले वह अपने घर से निकल आये थे और फिर कभी अपनी माँ से नहीं मिले—"

इतनी देर में माई भागाँ पीढ़ी पर से उठ खड़ी हुई थीं। उसकी शलवार में से पतली-पतली टाँगों और सूजे हुए घुटनों का साफ़ पता चलता था—उसका मैला सा इजारबन्द नीचे लटक रहा था—वह लड़खड़ाते हुए कदमों से आगे बढ़ने लगी तो मैंने जल्दी से उचक कर उसकी दोनों कलाइयाँ थाम लीं और कहा, "देखो माँ—कहीं गिर न पड़ना।"

अब उसका चेहरा मेरी आँखों के बहुत करीब था…उसकी सफेद-सी पुतलियाँ मेरे चेहरे पर जमी हुई थीं—वह मेरी शक्ल, मेरी नाक-नक्शा देख नहीं सकती थी।—उसने दोनों हाथ मेरे सिर की ओर बढ़ाये, उसके हाथो के साथ साथ मेरा सिर भी काँपने लगा, उसने मेरे सिर को अपनी ओर खींच कर मेरे माथे पर होंठ रख दिये और धीरे से बोली, "वारी जाऊँ—आज कोई मुझे

सम्हाल रहा है कि कहीं मैं गिर न जाऊँ—पगले ! चालीस साल मैं इसी तरह गिरती-पड़ती जिन्दा हूँ।"

यह कह कर माई भागाँ ने प्यार से मेरा हाथ खींचा। दीवार के साथ खड़ी एक चारपाई को जमीन पर डाल दिया, फिर एक बिस्तर में से खेस निकाल कर उस पर विछा दिया और बोली, "यहाँ बैठ जाओ बेटे।"

मैं बैठा तो उसने बार-बार मेरी बलायें लीं ··कई प्रश्न पूछ डाले—मेरा बेटा कैसे है···उसकी दाढ़ी सफेद हो गई होगी, उसकी आवाज कैसी है ?"··· तुम अपने इन हाथों से छूते होगे···तुम दोनों मित्रों की तरह गले में बाहें डाल-कर बातें करते होंगे···

मैंने सब प्रश्नों के उत्तर दे डाले···वह खुशी से पागल सी हो रही थी—एकाएक वह बोली, "मैं तो भूल गई बेटा ?···तुम्हें प्यास लगी होगी।"

यह कह कर वह अन्दर से गुड़ उठा लाई। उसे घड़े के ठण्डे पानी में घोल कर शर्वत बनाया और फिर यह शर्बत कांसे के कटोरे में भर कर मेरी ओर बढ़ा दिया। जब मैं शर्वत पी चुका तो उसने फिर मुझे प्यार किया। मेरी बलाएँ लीं—फिर वह अन्दर से एक पुरानी टोकरी उठा लाई और उसमें से उसने मुझे गुरदयाल सिंह जी के छोटे-छोटे जूते दिखाये जो वह बचपन में पहना करते थे। उसकी काँच की गोलियाँ और दूसरे खिलौने भी दिखाये जिनसे वह खेला करते थे···वह सब कुछ देख कर मुझे सन्त गुरदयाल सिंह पर बड़ा गुस्सा आया कि उन्होंने चालीस वर्षों में एक बार भी माँ को पत्र नहीं डाला···इसके साथ मुझे यों भी महसूस हुआ जैसे मैंने माँ का खोया हुआ प्यार पा लिया हो। तीस-बत्तीस वर्ष से मैं इसी प्यार के लिये तड़प रहा था।

एकाएक मैंने माई भागाँ के हाथ थाम कर कहा, "माँ ! अब तुम जरा चार-पाई पर बैठ जाओ।"

वह कुछ हैरान-सी हो गई और टाँगे नीचे लटका कर चारपाई पर बैठ गयी। मैंने उठ कर अपने घुटने जमीन पर टेक दिये और चेहरा माई भागाँ की गोद में छिपा लिया···यह महसूस करके उसने फिर काँपते हुए हाथों से मुझे प्यार किया—उसने मेरा चेहरा दोनों हाथों में लेकर ऊपर को उठाया और पूछा,

"बेटे !...अब गुरदयाल सिंह कब वापस आ रहा है ?"

यह सुन कर मेरा दिल डूब गया...मैंने उसकी धुँधली आँखों में झाँकते हुए झूठ बोल दिया, "बस माँ ! वह छः महीने तक वापस आ जायेंगे ।"

अब माई भागाँ ने अपने सामने हवा में आँखें गाड़ दीं...जैसे कल्पना में अपने बेटे को फिर उसी सहन में देख रही हो......उसका एक झुरियों-भरा हाथ मेरे सिर पर था जैसे मैं उसका दूध-पीता बच्चा हूँ...और मेरी आँखों से आँसू टपक-टपक कर उसकी गोद में गिर रहे थे जैसे गुरदयाल सिंह नहीं मैं चालीस वर्ष पहले छोड़ कर कहीं चला गया था—

सो यह थी वह औरत और यह थी हमारी मुलाकात...

दो महीने बाद जब मैं अपने वादे के अनुसार फिर माँ को मिलने गया तो गाँव के बाहर ही उसकी मृत्यु की खबर मिली । सब लोगों ने बताया कि मरते दम तक वह खुश रही...वह सबसे कहती फिरती थी अब मेरा बेटुआ...मेरा गुरदयाल बहुत जल्द वापस आने वाला है ।

उसने कुछ देर के लिए मुझे माँ का प्यार दिया...उसके बदले में मैंने एक प्यारा-सा झूठ बोला जिसके कारण उसके जीवन के आखिरी दो महीने बड़ी खुशी में कटे...

मैं उस औरत से अपनी पहली और अन्तिम मुलाकात कभी नहीं भूल सकूँगा —कभी नहीं !

बादलों के घेरे

कृष्णा सोबती

इकबाल का एक शेर है—

"दहर को देते हैं मोती दीदाए गिरयां के हम ।
आखरी बादल हैं इक गुजरे हुए तूफां के हम ॥"

यह शेर और सोबती जी का व्यक्तित्व, यह शेर और उनका लेखन, यह शेर और उनका उपन्यास 'डाल से बिछुड़ी' का मूल स्वर ! क्या इन दोनों में कोई साम्य है, हो सकता है ? आप उनसे घंटों बातें कीजिए। उनकी चाहे जितनी रचनायें पढ़ डालिये; कोई सूत्र आपके हाथ नहीं लगेगा।

सोबती जी हिन्दी की लोकप्रिय लेखिका हैं। उनकी व्यवहार कुशलता, विनम्रता और गुफतगू का अन्दाज बड़ा ही प्रभावशाली और शीरीं है। उन्होंने कम लिखा है, ज्यादा नाम पाया है। हक तो यह है कि हिन्दी में वही एकमात्र लेखिका हैं जो कम लिखने पर भी चट्टान की तरह खड़ी हैं। हो सकता है, इसमें उनकी सम्वेदनशीलता को भी दखल हो।

उनसे मिलने पर मन करता है कि बाजार जायें रंग-बिरंगे बहुत से खिलौने खरीद लायें और सोबती जी के सामने रख दें और कहें—"हो सके तो आप इस पर एक कहानी लिखिये जिसका शीर्षक हो"—मेरे खिलौने मुझे वापस कर दो।" और समय ने उनसे जो खिलौने छीन लिये हैं, उस पर लिखी गयी कहानी कितनी हसीन, भावपूर्ण, मार्मिक और दिलनशीं होगी, इसकी कल्पना करना मुश्किल है, बेहद कठिन !

भुवाली की इस छोटी-सी काटेज में लेटा-लेटा मैं सामने के पहाड़ देखता हूँ। पानी-भरे, सूखे-सूखे बादलों के घेरे देखता हूँ। बिना आँखों के भटक-भटक जाती धुन्ध के निष्फल प्रयास देखता हूँ। और फिर लेटे-लेटे अपने तन का पतझर देखता हूँ। सामने पहाड के रूखे हरियाले में रामगढ़ जाती हुई पगडंडी मेरी बाँह पर उभरी लम्बी नस की तरह चमकती है। पहाड़ी हवाएँ मेरी उखड़ी-साँस की तरह कभी तेज, कभी हौले, इस खिड़की से टकराती हैं, पलंग पर बिछी चद्दर और ऊपर पड़े कम्बल से लिपटी मेरी देह चूने की-सी कच्ची तह की तरह घुल-घुल जाती है और बरसों के ताने-बाने से बुनी मेरे प्राणों की धड़कनें हर क्षण बन्द हो जाने के डर में चुक जाती हैं।

मैं लेटा रहता हूँ और सुबह हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ शाम हो जाती है। मैं लेटा रहता हूँ रात झुक जाती है। दरवाजे और खिड़कियों पर पड़े परदे मेरी ही तरह दिन-रात सुबह-शाम अकेले मौन भाव से लटकते रहते हैं। कोई इन्हें भरे-भरे हाथों से उठाकर कमरे की ओर बढ़ा नहीं आता। कोई इस देहरी पर अनायास मुस्करा कर खड़ा नहीं हो जाता। रात, सुबह, शाम बारी-बारी से मेरी शैया के पास घिर-घिर आती हैं और मैं अपनी इन फीकी आँखों से अँधेरे और उजाले को नहीं, लोहे की पलंग पर पड़े अपने-आप को देखता हूँ। अपने इस छूटते-छूटते तन को देखता हूँ और देखकर रह जाता हूँ। आज इस रह जाने के सिवाय कुछ भी मेरे बस में नहीं रह गया। सब अलग जा पड़ा है। अपने कंधों से जुड़ी अपनी बाँहों को देखता हूँ, मेरी बाँहों से लगी वे भरी-भरी बाँहें कहाँ हैं…कहाँ वह सुगंध-भरे केश, जो मेरे वक्ष पर बिछ-बिछ जाते थे? कहाँ हैं वह रस-भरे अधर जो मेरे रस में भींग-भींग जाते थे? सब था, मेरे पास सब था,

बस, मैं आज-सा नहीं। जीने का संग था, सोने का संग था और उठने का संग था। मैं धुले-धुले सिरहाने पर सिर डाल कर सोता रहता और कोई हौले से चूम कर कहता—उठोगे नहीं···भोर हो गई।

आँखें बन्द किये-किये ही हाथ उस मोह-भरी देह को घेर लेते और रात के बीते क्षणों को सूँघ लेने के लिए अपनी ओर झुकाकर कहते—इतनी जल्दी क्यों उठती हो···

हलकी-सी हँसी···और बाँहें खुल जातीं। आँखें खुल जातीं और गृहस्थी पर सुबह हो आती। फूलों की महक में नाश्ता लगता। धुले ताजे कपड़ों में लिपट कर गृहस्थी की मालकिन अधिकार भरे संयम से सामने बैठ रात के सपने को साकार कर देती। प्याले में दूध उँडेलती उन उँगलियों को देखता। क्या मेरे बालों को सहला सहलाकर सिहरा देने वाला स्पर्श इन्हीं की पकड़ में है ? आँचल को थामे आगे की ओर उठा हुआ कपड़ा जैसे दोनों ओर की मिठास को सँभालने को सतर्क रहता। क्षण भर को लगता, क्या गहरे में जो मेरा अपना है, यह उस के ऊपर का आवरण है या जो केवल मेरा है, वह इससे परे, इससे नीचे कहीं और है। एक शिथिल मगर बहती-बहती चाह विभोर कर जाती। मैं होता मुझसे लगी एक और देह होती। उसमें मिठास होती जो रात में लहरा-लहरा जाती। और एक रात भुवाली के इस क्षय-ग्रस्त अँधियारे में आती है। कम्बल के नीचे पड़ा-पड़ा मैं दवा की शीशियाँ देखता हूँ और उन पर लिखे विज्ञापन देखता हूँ। घूँट भर कर जब इन्हें पीता हूँ तो सोचता हूँ, तन के रस रित जाने पर हाड़-मास सब काठ हो जाते हैं, मिट्टी नहीं कहता हूँ, क्योंकि मिट्टी हो जाने से तो मिट्टी से फिर रस उभरता है, तभी तो मुझे मिट्टी होना है।

कैसे सरसते दिन थे ! तन-मन को सहलाते-बहलाते। उस एक रात को मैं आज के इस शून्य में टटोलता हूँ। सर्दियों के एकान्त मौन में एकाएक किसी का आदेश पाकर मैं कमरे की ओर बढ़ता हूँ। बल्ब के नीले प्रकाश में दो अध-खुली थकी-थकी पलकें जग-सी उठती हैं और बाँह के घेरे-तले सोये शिशु को देखकर मेरे चेहरे पर ठहर जाती हैं। जैसे कहती हों, तुम्हारे आलिंगन को तुम्हारा ही तन देकर सजीव कर दिया है। मैं उठता हूँ, ठण्डे मस्तक को अधरों

से छूकर यह सोचते-सोचते उठता हूँ कि जो प्यार तन में जगता है, तन से उपजता है वही देह पाकर दुनिया में जी भी जाता है।

पर कहीं, एक दूसरा प्यार भी होता है जो पहाड़ के सूखे बादलों की तरह उठ-उठ आता है और बिना बरसे ही भटक-भटककर रह जाता है। वर्षों बीते। एक बार गर्मी में पहाड़ों पर गया था। बुआ के घर पहली बार उन आँखों-सी आँखों को देखा था। धुराती सुबह थी। नाश्ते की मेज से उठा तो परिचय करवाते-करवाते न जाने क्यों बुआ का स्वर जरा सा अटका था···साँस लेकर कहा मन्नो से मिलो रवि, दो ही दिन यहाँ रुकेगी।—बुआ के मुख से यह फीका परिचय अच्छा नहीं लगा। साँस भरकर बुआ का वह दो दिन कहना किसी कड़ेपन को झेल लेने-सा लगा। वह कुछ बोली नहीं, सिर हिलाकर अभिवादन का उत्तर दिया और जरा-सी हँस दी। उस दूर-दूर लगने वाले चेहरे से मैं अपने को लौटा नहीं सका। उस पतले, किन्तु भरे-भरे मुख पर कसकर बाँधे घुँघराले बालों को देखकर मन में कुछ ऐसा-सा हो आया कि किसी के गहरे उलाहने की सजा अपने को दे डाली गई है।

सब उठकर बाहर आये तो बुआ के बच्चे उस दुबली देह पर पड़े आँचल को खींच स्नहवश उन बाहों से लिपट-लिपट गये—मन्नो जीजी! मन्नो जीजी··· बुआ किसी काम से अन्दर जा रही थीं, खिलखिलाहट सुनकर लौट पड़ीं। बुआ का वह कठिन, बंधा और खिचावट को छिपाने वाला चेहरा मैं आज भी भूला नहीं हूँ। कड़े हाथों से बच्चों को छुड़ाती, ठण्डी निगाह से मन्नो को देखती हुई ढीले स्वर में बोलीं—जाओ मन्नो, कहीं घूम आओ। तुम्हें उलझा-उलझा कर तो ये बच्चे तंग कर डालेंगे।—माँ की घुड़की आँखों-ही-आँखों में समझकर बच्चे एक ओर हो गये। बुआ के खाली हाथ जैसे झेंपकर नीचे लटक गये और मन्नो की बड़ी-बड़ी आँखों की घनी पलकें न उठीं, न गिरीं; बस एकटक बुआ की ओर देखती गयीं···

बुआ इस संकोच से उबरीं तो मन्नो धीर गति से फाटक के बाहर हो गई थी। कुछ समझ लेने के लिए आग्रह से बुआ से पूछा—कहो तो बुआ, बात क्या है।

बुआ अटकीं, फिर झिझककर बोलीं—बीमार है रवि, दो वर्ष सैनेटोरियम

में रहने के बाद अब जेठजी ने वहीं काटेज ले दी है। साथ में घर का पुराना नौकर रहता है। कभी अकेले जी ऊब जाता है तो दो-चार दिन को शहर चली जाती है।

'नहीं, नहीं, बुआ !'—मैं धक्का खाकर जैसे विश्वास नहीं करना चाहता।

'रवि, जब कभी चार-छः महीने बाद लड़की को देखती हूँ, तो भूख-प्यास सब सूख जाती है।

मैं बुआ की इस सच्चाई को कुरेद लेने को कहता हूँ—बुआ, बच्चों को एक-दम अलग करना ठीक नहीं हुआ, पल भर तो रुक जातीं।

बुआ ने बहुत बड़ी निगाह से देखा, जैसे कहना चाहती थीं, 'तुम यह सब नहीं समझोगे' और अन्दर चली गईं। बच्चे अपने नये खेल में जुट गये थे। मैं खड़ा-खड़ा बार-बार सिगरेट के धुएँ से अपने तन का भय और मन की जिज्ञासा उड़ाता रहा। कितनी घुटन होगी उन प्राणों में ! पर बुआ भी तो कुछ गलत नहीं थीं। उलझा-उलझा-सा मैं बाहर निकला और तराई उतर कर झील के किनारे-किनारे हो गया। सड़क के साथ-साथ इस ओर छाँह थी। उछल-उछल कर आती पानी की लहरें कभी धूप से रुपहली हो जाती थीं। देवी के मन्दिर के आगे पहुँचा तो रुका ; जंगले पर हाथ टिकाये झील में नौकाओं की दौड़ देखता रहा। बलिष्ठ हाथों में चप्पू थामे कुछ युवक तेज रफ्तार से तल्लीताल की ओर जा रहे हैं, पीछे की कश्ती में अपने तन-मन-से बेखबर एक प्रौढ़ बैठे ऊँघ रहे हैं। उसके पीछे बोट-क्लब की किश्ती में विदेशी युवतियाँ···फिर और दो-चार पाल-वाली नौकाएँ···

एकाएक किश्ती में नहीं, जैसी पानी की नीची सतह पर वही पीला चेहरा देखता हूँ, वही बड़ी-बड़ी आँखें, वही दुबली-पतली बाँहें, वही बुआ के घर वाली मन्नो। दो-चार बार मन-ही-मन नाम दोहराता हूँ, मन्नो, मन्नो, मन्नो···। मैं ऊँचे किनारे पर खड़ा हूँ और पानी के साथ-साथ मन्नो बही चली जा रही है। खिंचे घुँघराले बाल अनझपीं पलकें···पर बुआ कहती थीं बीमार है, मन्नो बीमार है।

जंगले पर से हाथ उठाकर बुआ के घर की दिशा में देखता हूँ। चीना की

चोटी अपने पहाड़ी संयम से सिर उठाये सदा की तरह सीधा खड़ी है। एक ढलती-सी पथरीली ढलान को उसने जैसे हाथ से थाम रखा और मैं नीचे इस सड़क पर खड़े-खड़े सोचता हूँ कि सब-कुछ रोज जैसा है, केवल मन से उभर-उभर आती वे दो आँखें नई हैं और उन दो आँखों के पीछे की कहीं वहीं बिमारी···जिसे कोई छू नहीं सकता, कोई उबार नहीं सकता। घर पहुंचा तो बुआ बच्चों को लेकर कहीं बाहर चली गई थीं। कुछ देर ड्राइंग रूम में बैठा-बैठा बुआ के सुघड़ हाथों द्वारा की गई सजावट देखता रहा। कीमती फूलदानों में लगाई गई पहाड़ी झड़ियाँ सुन्दर लगती थीं। कैबिनट पर कीमती फ्रेम में लगे सपरिवार चित्र के आगे खड़ा हुआ तो बुआ के साथ खड़े फूफा की ओर देखकर सोचता रहा कि बुआ के लिये इस चेहरे पर कौन-सा-आकर्षण है जिससे बँधी-बँधी वह दिन-रात वर्ष-मास अपने को निभाती चली आती हैं। पर नहीं, बुआ ही के घर में होकर यह सोचना मन के शील से परे है·· ···

झिझककर ड्राइंग रूम से निकलता हूँ और कमरे की सीढ़िया चढ़ जाता हूं। सिगरेट जलाकर झील के दक्खिनी किनारे पर खुलती खिड़की के बाहर देखने लगता हूँ। हरे पहाड़ों के छोटे बड़े आकारों में टीन की लाल-लाल छतें और बीच-बीच में मटियाली पगडण्डियाँ। बुआ खाने तक लौट आयेंगी और मन्नो भी तो···देर तक बैठा-बैठा किसी पुराने अखबार के पन्ने पलटता रहा। बुआ लौटती नहीं। घड़ी की टन-टन के साथ नौकर ने खाने के लिए अनुरोध किया

"खाना लगेगा साहिब ?"

"बुआ कब तक लौटेंगी ?"

"खाने को तो मना कर गई हैं।"

कथन के रहस्य को मैं इन अर्थहीन-सी आँखों में पढ़ जाने के प्रयत्न में रहता हूँ।

"और जो मेहमान है ?"

नौकर तत्परता से झुककर—आपके साथ नहीं, साहिब। वह अलग से ऊपर खायेंगी।

मैं एक लम्बी साँस भरकर जले सिगरेट के टुकड़े को पैर के नीचे कुचल

देता हूँ। शायद साथ खाने के डर से छुटकारा पाने की विवशता पर। उस दिन खाने की मेज पर अकेले खाना खाते-खाते क्या सोचता रहा था, आज तो याद नहीं; बस इतनी-सी याद है, काँटे-छुरी से उलझता बार-बार मैं बाहर की ओर देखता था।

मीठा कौर मुँह में लेते ही घोड़े की टाप सुनाई दी, ठिठककर सुना—सलाम साहिब।

धीमी मगर सधी आवाज—दो घन्टे तक पहुँच सकोगे न ?

"जी हजूर।"

सीढ़ियों पर आहट हुई और शायद अपने कमरे तक पहुँचकर खत्म हो गई। खाने के बरतन उठ गये। मैं उठा नहीं। दोबारा काफी पी लेने के बाद भी वहीं बैठा रहा। एकाएक मन में आया कि किसी छोटे-से परिचय से मन में इतनी द्विधा उपजा लेनी कम छोटी दुर्बलता नहीं है। आखिर किसी के घर किसी से मिल ही लिया हूं तो उसके लिये ऐसा क्यों हुआ जा रहा हूँ।

घण्टे भर बाद मैं किसी की पैरों चली सीढ़ियों पर ऊपर चढ़ा जा रहा था। खुले द्वार पर परदा पड़ा था। हौले से थाप दी।

"चले आइये।"

परदा उठाकर देहरी पर पाँव रखा। हाथ में कश्मीरी शाल लिये मन्नो सूटकेस के पास खड़ी थी। देखकर चौंकी नहीं। सहज स्वर में कहा—आइये। और सोफे पर फैले कपड़े उठाकर कहा—बैठिये।

बैठते-बैठते सोचा; बुआ के घर भर में सबसे अधिक सजा और साफ कमरा यही है। नया-नया फर्नीचर, कीमती परदे और इन सबमें हलके पीले कपड़ों में लिपटी मन्नो। अच्छा लगा।

बात करने को कुछ भी पाकर न बोला—आप लंच तो······

"जी मैं ले चुकी हूँ"—और भरपूर मेरी ओर देखती रही।

मैं जैसे कुछ कहलवा लेने को कहता हूँ—"बुआ तो कहीं बाहर गई हैं।" सिर हिलाकर मन्नो शाल की तह लगाती है और सूटकेस में रखते-रखते

कहती है—शाम से पहले ही नीचे उतर जाऊँगी। बुआ से कहियेगा, एक ही दिन को आई थी।

"बुआ तो आती ही होंगी।"

इसका उत्तर न शब्दों में आया, न चेहरे पर से। कहते-कहते एक बार रुका, फिर न जाने कैसे आग्रह से कहा—एक दिन और नहीं रुक सकेंगी ?

वह कुछ बोली नहीं। बन्द करते सूटकेस पर झुकी रही।

फिर पल भर बाद जैसे स्नेह-भरे हाथ से अपने बालों को छुआ और हँस-कर कहा—क्या करूँ यहाँ रहकर ? भुवाली के इतने बड़े गाँव के बाद यह छोटा-सा शहर मनको भाता नहीं।

वह छोटी-सी खिलखिलाहट, वह कड़वाहट से परे का व्यंग, आज इतने वर्षों बाद भी, मैं वैसे ही बिल्कुल वैसे ही सुन रहा हूँ। वही हँसी है और वही पीली-सी सूरत···

हम संग-संग नीचे उतरे थे। मेरी बाँह पर मन्नो का कोट था। नौकर और माली ने झुककर सलाम किया और अतिथि से इनाम पाया। साइस ने घोड़े को थपथपाया।

"हजूर चढ़ेंगी ?"

उड़ती-उड़ती नजर उन आँखों की बाँह पर लटके कोट पर अटकी।

"पैदल आऊँगी। घोड़ा आगे-आगे लिये चलो।"

चाहा कि घोड़े पर चढ़ जाने के लिए अनुरोध करूँ पर कह नहीं पाया। फाटक से बाहर होते-होते वह पल भर को पीछे मुड़ी, जैसे छोड़ने के पहले घर को देखती हो। फिर एकाएक अपने को सँभाल कर नीचे उतर गई। राह में कोई कुछ बोला नहीं।

टैक्सी खड़ी थी, सामान लदा। ड्राइवर ने उन कठिन क्षणों को मानों भाँप-कर कहा—कुछ देर है, साहिब ?

मन्नो ने इस बार कहीं देखा नहीं, कोट लेने के लिये मेरी ओर हाथ बढ़ा दिया।

कार में बैठी तो कुली ने तत्परता से पीछे कम्बल निकाला और घुटनों पर डालते हुए कहा—कुछ और मेम साहिब ?

घँघराली छाँह ढीली-सी होकर सीट के साथ जा टिकी। घुटनों पर पतली-पतली विवश-सी बाहें फैलाते हुए धीरे से कहा—नहीं, नहीं, कुछ और नहीं। धन्यवाद।

अधखुले काँच में से अन्दर झाँका। मुख पर थकान के चिह्न थे। बाहों में मछली-मुखी कंगन थे। आँखों में क्या था, यह मैं पढ़ नहीं पाया। वह पीली, पतझड़ी दृष्टि उन हाथों पर जमी थी, जो कम्बल पर एक दूसरे से लगे मौन पड़े थे।

कार स्टार्ट हुई। मैं पीछे हटा और कार चल दी। बिदाई के लिए न हाथ उठे, न अधर हिले। मोड़ तक पहुँचने तक पीछे के शीशे से सादगी से बँधा बालों का रिबन देखता रहा और देर तक वह दर्दीले धन्यवाद की गूँज सुनता रहा—नहीं, नहीं कुछ और नहीं।

वे पल अपनी कल्पना से आज भी लौटाता हूँ तो जी को कुछ होने लगता है। उस कार को भगा ले जानेवाली सूखी सड़क से घूमकर मैं ताल के किनारे-किनारे चला जा रहा हूँ। अपने ही समझाने-बुझाने पर भी वह चेहरा, वह बीमारी मन पर से नहीं उतरती। रुक-रुककर थक-थककर जैसे मैं उस दिन घर की चढ़ाई चढ़ा था, उसे याद कर आज भी निढाल हो जाता हूँ। घर पहुँचा। बरामदे में से कुली फ़र्नीचर निकाल रहे थे। मन धक्का खाकर रह गया। तो उन मन्नो के कमरे की सजावट, सुख-सुविधा सब किराये पर बुआ ने जुटाये थे। दोपहर में बुआ के प्रति जो कुछ जितना भी अच्छा लगा था, वह सब उल्टा हो गया।

आगे बढ़ा तो द्वार पर बुआ खड़ी थीं। सन्देह से मुझे देखा और पास होकर फीके गले से कहा—रवि, मुँह-हाथ धो डालो, सामान सब तैयार मिलेगा वहाँ; जल्दी लौटोगे न, चाय लगने को ही है!

चुपचाप बाथ-रूम में पहुँच गया। सामान सब था। मुँह-हाथ धोने से पहले गिलास में ढँककर रखे गर्म पानी से गला साफ किया। ऐसा लगा, किसी की

घुटी-घुटी जकड़ में से बाहर निकल आया हूँ। कपड़े बदलकर चाय पर जा बैठा। बच्चे नहीं, केवल बुआ थी। बुआ ने चाय उड़ेली और प्याला आगे कर दिया।

"बुआ।"

बुआ ने जैसे सुना नहीं।

बुआ, बुआ!—पल भर के लिए अपने को ही कुछ ऐसा-सा लगा कि किसी और को पुकारने के लिए बुआ को पुकार रहा हूँ। बुआ ने विवश हो आँखें ऊपर उठाईं। समझ गया कि बुआ चाहती हैं, कुछ कहूँ नहीं, पर मैं रुका नहीं।

"बुआ, दो दिन की मेहमान तो एक दिन में चली गई।"

सुनकर बुआ चम्मच से अपनी चाय हिलाने लगीं। इस मौन से मैं और भी निर्दयी हो गया।

"कहती थी, बुआ से कहना मैं एक ही दिन को आई थी।"

इसके आगे बुआ जैसे कुछ और सुन नहीं सकीं। गहरी लम्बी श्वास लेकर आहत आँखों से मुझे देखा—तुम कुछ और नहीं कहोगे रवि!—और चाय का प्याला वहीं छोड़ कमरे से बाहर हो गई।

उस रात दौरे से फूफा के लौटने की बात थी। नौकर से पूछा तो पता लगा, दो दिन के बाद आने का तार आ चुका है। चाहा, एक बार बुआ के कमरे तक हो आऊँ, पर संकोचवश पाँव उठे नहीं। कुछ देर बाद सीढ़ियों में अपने को पाया तो सामने मन्नो का खाली कमरा था। आगे बढ़कर बिजली जलाई, सब खाली था, न परदे, न फर्नीचर…न मन्नो…एकाएक अँगठी में लगी लकड़ियों को देख मन में आया, आज वह यहाँ रहती तो रात देर गये इसके पास यहीं बैठी रहती और मैं शायद इसी तरह जैसे अब यहाँ आया हूँ उसके पास आता, उसके…

यह सब मैं क्या सोच रहा हूँ, क्यों सोच रहा हूँ…

किसी अनदेखे भय से घबराकर नीचे उतर आया। खिड़की से बाहर देखा, अँधेरा था। सिरहाना खींचा, बिजली बुझाई और बिस्तर पर पड़े-पड़े भुवाली की वह छोटी-सी काटेज देखता रहा, जहाँ तक मन्नो पहुँच गई होगी।

"रवि!"

मैं चौंका नहीं, यह बुआ का स्वर था। बुआ अँधेरे में ही पास आ बैठीं और हौले-हौले सिर सहलाती रहीं।

"बुआ"

बुआ का हाथ पल भर को थमा। फिर कुछ झुककर मेरे माथे तक आ गया। बँधे स्वर से कहा—रवि, तुम्हें नहीं, उस लड़की को दुलराती हूँ। अब यह हाथ उस तक नहीं पहुँचता।

मैं बुआ का नहीं, मानो मन्नो का हाथ पकड़ लेता हूँ।

बुआ देर तक कुछ नहीं बोलीं। फिर जैसे कुछ समझते हुए अपने को कड़ा कर कहा—रवि, उसके लिए कुछ मत सोचो, उसे अब रहना नहीं है।

मैं बुआ के स्पर्श-तले सिहर कर कहता हूँ—बुआ, मुझे ही कौन रहना है?

आज वर्षों बाद भुवाली में पड़े-पड़े मैं असंख्य बार सोचता हूँ कि उस रात मैं अपने लिए यह क्यों कह गया था? क्या कह गया था वे अभिशाप के बोल, जो दिन-रात मेरे इस तन-मन पर सच्चे उतरे जा रहे हैं? सुनकर बुआ को कैसा लगा, नहीं जानता। हाथ खींचकर उठी, रोशनी की ओर पूरी आँखों से मुझे देखकर अविश्वास और भर्त्सना से कहा—पागल हो गये हो, रवि! उसके साथ अपनी बात जोड़ते हो जिसके लिए कोई राह नहीं रह गई, कोई और राह नहीं रह गई।

फिर कुर्सी पर बैठते-बैठते कहा—रवि, तुम तो उसे सुबह-शाम ही देख पाये हो, मैं वर्षों से उसे देखती आयी हूँ और आज पत्थर-सी निष्ठुर हो गयी हूँ। उसे अपना बच्चा ही करके मानती रही हूँ, यह नहीं कहूँगी। अपने बच्चों की तरह तो अपने बच्चों के सिवाय और किसे रखा जा सकता है। पर जो कुछ जितना भी था, वह प्यार, वह देख-भाल सब व्यर्थ हो गये हैं। कभी छुट्टी के दिन उसकी बोर्डिंग से आने की राह ताकती थी, अब उसके आने से पहले उसके जाने का क्षण मनाती हूँ और डरकर बच्चों को लिए घर से बाहर निकल जाती हूँ।

बुआ के बोल कठिन हो आये।

"रवि, जिसे बचपन में मोहवश कभी डराना नहीं चाहती थी, आज उसीसे

डरने लगी हूँ, उसकी बीमारी से डरने लगी हूँ।"—फिर स्वर बदलकर कहा—तुम्हारा-ऐसा जीवट मुझमें नहीं कि कहूँ, डरती नहीं हूँ।—बुआ ने यह कहकर जैसे मुझे टटोला···और मैं बिना हिले-डुले चुपचाप लेटा रहा।

बुआ असमंजस में देर तक मुझे देखती रहीं। फिर जाने को उठीं और रुक गईं। इस बार स्वर में आग्रह नहीं, चेतावनी थी—'रवि, कुछ हाथ नहीं लगेगा। जिसके लिए सब राह रुके हों, उसके लिए भटको नहीं।'

पर उस दिन बुआ की बात मैं समझा नहीं, चाहने पर भी नहीं।

अगली सुबह चाहा कि घूम-घूमकर दिन बिता दूं। घोड़ा दौड़ाता लड़िया-कोट पहुँचा और उन्हीं पैरों लौट आया। घर की ओर मुँह करते-करते, न जाने क्यों मन को कुछ ऐसा लगा कि मुझे घर नहीं, कहीं और पहुँचना है। चढ़ाई के मोड़ पर कुछ देर खड़ा-खड़ा सोचता रहा और जब ढलती दुपहरी में तल्ली-ताल की उतराई उतरा, तो मन के आगे सब साफ था।

मुझे भुवाली जाना था।

बस से उतरा। अड्डे पर रामगढ़ के लाल-लाल सेवों के ढेर देखकर यह नहीं लगा कि यही भुवाली है। बस में सोचता आया था कि वहाँ घुटन होगी, पर चीड़ के ऊँचे-ऊँचे पेड़ों से लहराती हवाएँ वह-वह आती थीं। छाँह ऊपर उठती है, धूप नीचे उतरती है और भुवाली मन को अच्छी लगती है। तन को अच्छी लगती है। चौराहे से होकर पोस्ट आफिस पहुँचा। काटेज का पता लिया और छोटे से पहाड़ी बाजार में होता हुआ 'पाइन्स' की ओर हो लिया। खुली-चौड़ी सड़क के मोड़ से अच्छी-सी पतली राह ऊपर जा रही थी। जँगले से नीचे देखा, अलग-अलग खड़े पहाड़ों के बीच की जगह पर एक खुली-चौड़ी घाटी बिछी थी। तिरछे सीधे, छोटे-छोटे खेत किसी के घुटने पर रखे क़सीदे के कपड़े की तरह धरती पर फैले थे। दूर सामने दक्खिन की ओर पानी का ताल धूप में चाँदी के थाल की तरह चमकता था।

इस पहली बार भुवाली आने के बाद मैं एक बार नहीं कई बार यहाँ आया। लौट-लौटकर यहाँ आया, पर उस आने-जैसा आना तो फिर कभी नहीं आया। मैं चलता हूँ, चलता हूँ और कुछ सोचता नहीं हूँ। न यह सोचता हूँ

कि मैं जा रहा हूँ। बस चला जा रहा हूँ। पेड़ के तने पर लिखा है, 'पाइन्स'। लकड़ी का फाटक खोलता हूँ और गमलों की कतारों के साथ-साथ बरामदे तक पहुँच जाता हूँ। कार्पेट पर होले-होले पाँव रखता हूँ कि कम आवाज हो। द्वार खटखटाता हूँ और झुकी कमर, पर अनुभवी चेहरा इधर बढ़ा आता है। जान लेता हूं कि यही पुराना नौकर है।

'घर में हैं ?'

'बिटिया को पूछते हो, बेटा ?'

मैं सिर हिलाता हूँ।

'बिटिया नीचे ताल को उतरती थीं, लौटती ही होंगी।'

मैं बाहर खुले में बैठा-बैठा प्रतीक्षा करता हूँ। मन्नो अब आ रही है, आने-वाली है, आती ही होगी।

थककर फाटक की ओर पीठ कर लेता हूँ। जब यह सोचूँगा कि वह देर से आयगी, तो वह जल्दी आयगी।

घोड़े की टाप सुन पड़ती है। अपने को रोक लेता हूँ। और मुड़कर देखता नहीं।

'बाबा !'—पुकार का-सा स्वर। लगा कि दो आँखें मेरी पीठ पर हैं ! उठा। बढ़कर मन्नो की ओर देखा, आँखों में न आश्चर्य था, न उत्कण्ठा थी, न उदासीनता थी। बस, मन्नो की ही आँखों की तरह वह दो आँखें मेरी ओर देखती चली गईं थी।

'बाबा !'—बूढ़ा नौकर लपककर घोड़े के पास आया और लाड़ के-से स्वर में बोला—उतरो बिटिया, बहुत देर कर दी—और हाथ आगे बढ़ा दिया।

मन्नो सहारा लेकर नीचे उतरी।—तनिक अम्मा को तो बुलाओ, बाबा, मेरा जी अच्छा नहीं।

'सुख तो है बिटिया ?'

चिन्ता का यह स्वर सुनकर बिटिया जरा-सा हँस दी, फिर रुककर लम्बी साँस भरकर बोली—'अच्छी-भली हूं, बाबा, बड़ी अम्मा से कहो, बिछौना लगा दे।'

बाबा ने बिटिया के लिए कुर्सी खींच दी । फिर सहम कर पूछा—बिटिया, लेटोगी ?

'हाँ, बाबा ।'

इस बार मन्नो ने बाबा की ओर देखा नहीं, जैसे कोई अपराध बन आया हो, फिर मेरी ओर झुककर कहा— क्या बहुत देर हुई ?

'नहीं !' मैं सिर हिलाता हूँ, पर आँख नहीं ।

इस बार झिझक से नहीं अधिकार से पूछता हूँ—क्या जी अच्छा नहीं ?

मन्नो ने पल भर को थकी-थकी पलकें मूँद लीं और कुछ बोली नहीं ।

बूढ़ी दासी दौड़ी-दौड़ी शाल लिए आई और कंधों पर ओढ़ाकर जैसे अपने को ही दिलासा देने के लिए कहा—मन्नो, ख्याली क्यों घबराने लगीं । अभी सब ठीक हुआ जाता है । इनके लिये क्या चाय भेजूँ ?

मन्नो एकदम कुछ कह नहीं पाई । फिर सोचकर बोली—अम्मा, पूछ देखो । पीयेंगे तो नहीं ।

मैं कुछ ठीक-ठीक समझा नहीं । व्यस्त होकर कहा—नहीं, मुझे अभी कुछ भी पीना नहीं है ।

मन्नो ने जैसे न सुना, न मुझे देखा ही ।

फिर जैसे अम्मा को मेरे परिचय की गम्भीरता जताने के लिए पूछा—चाची तो अच्छी हैं, अभी चाचा लौटे तो न होंगे ?

बड़ी माँ झट समझ गईं, मन्नो की चाची के यहाँ से आया हूँ । बोलीं—बेटा, आने की खबर देते तो मन्नो के लिए कुछ मंगवा लेती ।

'बड़ी माँ, अन्दर जाकर देखो न, मैं थकी हूं, अब बैठूँगी नहीं ।'

मैं लज्जित-सा बैठा रहा । कुछ फल ही लिए आता ।

मन्नो कुछ देर मेरे चेहरे पर मेरा मन पढ़ती रही, फिर धीमे से ऐसी बोली, मानो मुझे नहीं, अपने को कहती है—यहाँ न कुछ लाना ही ठीक है, न कुछ ले ही जाना···

मैं अपनी नासमझी पर पछता कर रह गया ।

मन्नो अन्दर चली तो आप-ही-आप मैं भी साथ हो लिया । कम्बल उठाकर

बड़ी माँ ने बिटिया को लिटाया, बाल ढीले करते-करते माथे को छुआ और मेरे लिए कुर्सी पास खींचकर बाहर हो गई।

'मन्नो……'

मन्नो बोली नहीं। दुबली-सी बाँह तनिक-सी आगे की ओर…फिर एकाएक कुछ सोचकर पीछे खींच ली।…आज जब स्वयं भी मन्नो-सा बन गया हूँ, सौ बार अपने को न्यौछावर कर उसी क्षरण को लौटा लेना चाहता हूँ। मैं कुर्सी पर बैठा-बैठा उस बाँह को छू नहीं सका था? क्यों उस हाथ को सहला नही सका था? उमड़ते मन को किसी ने जैसे जकड़कर वहीं, उस कुर्सी पर ठहरा लिया था।

क्या था उस झिझक में? क्या था उस झिझकने वाले मन में? रहा होगा, यही भय रहा होगा, जो अब मुझसे मेरे प्रियजनों को दूर रखता है। उस रात जब जाने को उठा था तो आँखों का मोह पीछे बाँधता था, मन का भय आगे खींचता था। और जब जल्दी-जल्दी चलकर डाक-बँगले में पहुँच गया तो लगा कि मुक्त हो गया हूँ, क्षरण-क्षरण जकड़ते बन्धन से मुक्त हो गया हूँ। उस अभागी रात में जो मुक्ति पाई थी, वह मुझे कितनी फली? चाहता हूँ, एक बार मन्नो देखती तो!

रात भर ठीक से सो नहीं पाया। बार-बार नींद में लगता कि भुवाली में हूँ, भुवाली में सोया हूँ, वही 'पाइन्स' का बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाला कमरा है। मन्नो के पलंग पर लेटा हूँ और पास पड़ी कुसी पर बैठी-बैठी मन्नो अपनी उन्हीं दो आँखों से मुझे निहारती है। मैं हाथ आगे करता हूँ और वह थोड़ा-सा हँसकर सिर हिलाती हुई कहती है—नहीं, इसे कम्बल के नीचे कर लो। अब इसे कौन छूएगा?

मन्नो!

मन्नो कुछ कहती नहीं, हँस-भर देती है। रात भर इन दुःस्वप्नों में भटकने के बाद जगा, तो बुआ दीख पड़ीं।—कुछ हाथ नहीं लगेगा रवि।

उस सुबह फिर मैं रुका नहीं, न डाक-बंगले में, न भुवाली में। बस के अड्डे पर पहुँचा तो धूप में बुझी-बुझी भुवाली मुझे भयावनी लगी। एक बार

जी को टटोला—'पाइन्स' ··· नहीं···नहीं···कुछ नहीं···लौट जाओ।

घर पहुँचकर बुआ मिलीं। बड़ी चेतावनी वाला खिंचा-खिंचा चेहरा था ···भरपूर। मुझे देखकर जैसे साँस रोके पूछा—कहाँ थे कल !

'रानीखेत तक गया था बुआ।'

'कह तो जाते।'

मैं न जाने किस उलझन में खोया कह गया—कहने को, बुआ, था क्या ?

दोपहर में फूफा मिले। कल लौटे थे और सदा की तरह गम्भीर थे। खाना खाते उन्हें देखता रहा। एकाएक उन्हें प्लेट पर से आँखें उठाकर बुआ की ओर देखते हुए देखा तो सचमुच में जान गया कि फूफा के भाई अवश्य ही मन्नो के पिता होंगे। दृष्टि में वही ठहराव था, वही अचंचलता थी।

फूफा ने खाने पर से उठते-उठते उलझे-से स्वर में मुझसे पूछा—रवि, बुआ तुम्हारी लखनऊ तक जाना चाहती हैं, पहुँचा आ सकोगे ?

'जी, सकूँगा।'

मैं, बुआ और बच्चे नैनी से नीचे उतर रहे हैं। मैं पीछे की सीट पर बैठा-बैठा विदा हो जाने का प्रयत्न करता हूँ। चौड़े मोड़ से बस नीचे की ओर मुड़ी। खिड़की के बाहर देखा तो पहाड़ की हरियाली में वही कलवाली भुवाली की सफेदी दीख रही थी।

× × ×

काठगोदाम से लखनऊ। एक रात बुआ की ससुराल रुककर बुआ से बिदा लेने गया तो बुआ ने पूछा—कहाँ जाने की सोच रहे हो, रवि ? कुछ दिन यहीं न रुको।

'नहीं बुआ।'

बुआ इस नहीं को एकाएक स्वीकार नहीं कर सकीं। पास बिठाकर कुछ देर देखती रहीं। फिर स्नेह से कहा—फिर जाओगे कहाँ ?

'बुआ, कुछ पता नहीं।'

बुआ कुछ कहना चाहती थीं, पर कह नहीं पा रही थीं। कुछ रुकते-रुकते कहा—रवि, तुम्हारे फूफा तो तुम्हें नैनी लौटने को कहते थे।

नहीं, बुआ, अब तो दक्खिन जाऊँगा, पिताजी के पास।'

बुआ को जैसे विश्वास नहीं हुआ। कुछ याद-सी करती बोली—रवि, इस बार तुम्हें वहाँ अच्छा नहीं लगा :

'नहीं, नहीं, बुआ !'

बुआ चाहती थीं, मुझसे कुछ पूछें; मैं चाहता था बुआ से कुछ कहूँ, पर किसी से भी शब्द जुड़े नहीं।

स्टेशन पर जाने लगा तो बुआ के पाँव छुए। बुआ बहुत बड़ी नहीं हैं मुझसे। पिताजी की सबसे छोटी मौसेरी बहिन होती हैं, पर दिल में कुछ ऐसा-लगा कि बुआ का आशीर्वाद चाहता हूँ।

बुआ हैरान हुई, फिर हँसकर बोलीं—रवि, तुमने पाँव छुए हैं तो आशीर्वाद दूँगी···बहुत सुन्दर बहू पाओ !

मैं न हँसा, न लजाया। बुआ चुप-सी रह गईं। जिस नटखट भाव से वह कुछ कह गई थीं, उसे मानो अनदेखे संकोच ने घेर लिया।

टिकट लिया, कुली के पास सामान छोड़ प्लेटफार्म पर घूमने लगा। आमने-सामने कोई गाड़ी नहीं थी। लाइनों पर बिछे खालीपन ने उलझे मन को एकाएक खोल दिया। जो कुछ भी सोच रहा था, सोचता चला गया। मन न भुवाली पर अटका न 'पाइन्स' पर, न मन्नो पर। पिछला सब बीत गया लगा। बुआ का आशीर्वाद कल्पना में मुखर आया। घर होगा, घर की रानी होगी, मैं दूँगा···

बुआ का आशीर्वाद झूठ नहीं निकला। सच ही मेरा घर बना। सुन्दर घरनी आई और उसे मैं ही ब्याह कर लाया। पर उस दिन जहाँ का टिकट ले लिया था, वहाँ की गाड़ी मुझे खींचकर उस प्लेटफार्म पर ले जा नहीं सकी।

गाड़ी आ लगी है। कुली सामान लगाता है और मैं बाहर खड़े-खड़े देखता हूँ, मुसाफिर, कुली, सामान, बच्चे, बूढ़े···

साहिब, गाड़ी छूटने में दस मिनट हैं।'

मैं अपनी घड़ी देखता हूँ, और सिर हिला देता हूँ कि मैं जानता हूँ।

कुली एक बार फिर अन्दर जाकर असबाब ऊपर-नीचे करता है और साफा

ठीक करते हुए बाहर निकल कर कहता है—लाल बत्ती हो गई है साहिब ।

बत्ती की ओर देखता हूँ और देखता चला जाता हूँ, वही कद है, वही दुबली-पतली देह, वही घुला-घुला सा चेहरा, वही…वही…

आवेश से कहता हूँ—कुली, सामान उतार लो ।

'साहिब !'

'जल्दी करो, जल्दी !'

कुली फिर मेरे सामान के साथ है । टिकट वापस कर नया ले लिया । स्टेशन से फल के टोकरे बँधवाये, चाय पी और बरेली के लिए गाड़ी में जा बैठा । जहाँ मुझे जाना है, वहाँ जाकर हटूँगा, जब मैं ही नहीं रुकता हूँ तो मुझे कौन रोकेगा ? क्यों रोकेगा ?

× × ×

घर के आगे लान में बैठा सर्दियों की ढलती धूप में अलसा रहा हूँ । अन्दर से माँ निकली और पास बैठते हुए कहा—बेटा, इस बार छुट्टी में आ ही गये हो तो ठहर जाओ । बार-बार इनकार करना अच्छा नहीं लगता ।

माँ की बात सुनकर मैं सयाने बेटे की तरह हँसता हूँ और मन-ही-मन सोचता हूँ कि माँ कितना ठीक कहती है । अपनी नौकरी पर रहता हूँ और अकेले आदमी के खर्च से कहीं अधिक कमाता हूँ, फिर क्यों इन्कार करूँगा ? माँ की आशा के विपरीत बड़ी आवाज़ में कहता हूँ—माँ, जो तुम्हें रुचे, वही मुझे भायेगा ।

'बेटा, लड़की देखना चाहोगे ?'

'हाँ, माँ ।'

लगा, माँ मन-ही-मन हँसी ।

खाने के बाद रात को घूम कर आया तो कमरे में शान्ति थी । किसी को देखने के लिए कालेज के दिनों वाली जिज्ञासा मन में नहीं रह गई थी । लगा कि अकेले रहते-रहते किसी के संग की आशा नहीं कर रहा, उसे तो अपना अधिकार करके मान रहा हूँ ।

हाथ में किताब लेकर रात को लेटा तो पढ़ते-पढ़ते ऊब गया । आँखों के

अँधेरे में देखा, किसी पहाड़ पर चढ़ा जा रहा हूँ। दूर चीड़ के पेड़ों के झुण्ड के झुण्ड दीखते हैं, आसमान सब सुनसान है, अपनी पद-चाप के सिवाय कोई आवाज नहीं। एकाएक किसी का स्वर गूंजता है, इधर···उधर···और अँधेरे में हिलता एक हाथ आगे बढ़ा-बढ़ा आता है मेरे गले की ओर निकट···और निकट···

दुबली कलाई···पतली अँगुलियाँ···मैं डरता हूँ···पीछे हटता हूँ और घबराकर आँखें खोल देता हूँ।

उठा, खिड़की का परदा उठाकर बाहर झाँका। लान के दाहिने हरी घास पर पिताजी के कमरे की लाइट फैली थी। सँभला। लम्बी साँस लेकर बालों को छुआ तो माथा ठण्डा लगा। भयावना सूनापन और अँधेरे में वह हाथ··· वह हाथ···

मन से जिसे भूल चुका हूँ, उसे आज ही याद क्यों आना था···क्यों याद आना था···क्यों दीख जाना था उस हाथ को, जो वर्षों गये 'पाईन्स' की उतराई से उतरते-उतरते मैंने अन्तिम बार देखा था? छुआ था, नहीं कहूँगा, क्योंकि असंख्य बार सोच-सोचकर छू भर लेने के लिए बाँह आगे करनी, छू लेना नहीं होता।

महीना भर नैनी में रहते हुए बार-बार भुवाली से लौटने के बाद जब अन्तिम बार मैं मन्नो के पास से लौटा था, तो लौट-लौटकर उस लौटने को न लौटना करना चाहता था। तीन बार नीचे उतरा था और तीन बार मुड़कर ऊपर गया था।

मन्नो शाल में लिपटी आराम कुर्सी पर अधलेटी थी। पास खड़े होकर उसकी चुप्पी को जैसे उतार देने को उदास स्वर में कहा—कल तो नैनी से नीचे उतर जाऊँगा।

मन्नो ने नीचे फैले शाल को सहज-सहज सहेजा। एक महीने पहले वाली दृष्टि मुख पर लौट आई। वही पराया-सा देखना, वही दूर-दूर-सा लगता चेहरा···

मन्नो···चाहता हूँ, मन्नो से कुछ तो कहूँ, पर क्या कहूँ। यह कि जल्दी लौटूंगा···

क्षण-क्षण अपने से कहता हूँ, आऊँगा, फिर आऊँगा पर जिस निगाह से मन्नो मुझे देखती है, वह जैसे बिना बोल के यह कहे जा रही है कि अब तुम यहाँ नहीं आओगे।

'मन्नो।'

'रवि'—और, और बस कठिन-सी होकर जरा-सा हँसी और हाथ जोड़ दिये। नमस्कार।

इन जुड़े-जुड़े हाथों को देखता रहा। जरा-सा आगे बढ़ा कि विदा लूं, बिदा दूं, पर न जाने क्यों खड़ा-का-खड़ा रह गया।

समझाने के-से स्वर में मन्नो बोली—देर होती है रवि।

जी भरकर देखने वाली अपनी आँखों को झुकाकर मैं जल्दी-जल्दी नीचे उतर गया।

मैं फिर लौटूंगा···फिर···पर क्या सदा के लिए चला जा रहा हूँ···

मुड़कर पीछे देखा और खिचकर ठिठक गया। मन्नो वहीं, उसी मुद्रा में बैठी थी।

मानो वह जानती थी कि लौटूंगा। साथ पड़ी कुर्सी की ओर संकेत कर कहा—बैठो, रवि।—स्वर में न व्यथा थी, न संग छूटने की उदासी न मेरे आने पर आश्चर्य था। आँखों-ही-आँखों में कुछ ऐसा देखा, जैसे पूछती हो—कुछ कहना है?

मैं अपने को बच्चे की तरह छोटा करके कहता हूँ—मन्नो, मन नहीं होता जाने को।

मन्नो कुछ देर देखती रहती है। मैं चाहता हूँ मन्नो कुछ भी कहे कहे तो···

एक छोटी-सी साँस जैसे छोटी-से-छोटी घड़ी के लिए उसके गले में अटकी, फिर, फिर घने स्वर में कहा—एक-न-एक बार तो तुम्हें चले ही जाना है, रवि···

मैं हाथों से घेरकर उस देह को नहीं तो उस स्वर को छू लेना चाहता हूँ,

चूम लेना चाहता हूँ ।—मन्नो !—आगे बढ़ता हूँ, कुछ रोक लेने को, थाम लेने की मुद्रा में मन्नो दोनों हाथ आगे डाल देती है, बस ।

'मन्नो !···' अपना अनुरोध उस तक पहुँचाना चाहता हूँ ।

'नहीं'—इस नहीं के आगे नहीं है और कुछ नहीं ।

मन्नो दुबला-सा हाथ हिलाकर आँखों से मुझे बिद देती है और मैं विवश-सा, व्यर्थ-सा नीचे उतरता हूँ ।

आँखों पर धुन्ध-सी उमड़ आती है, सँभलता हूँ, सँभलता हूँ और एक बार फिर पीछे देखता हूँ ।

बिल्कुल ऐसे लगता है कि किनारे पर खड़ा हूँ और किश्ती में बैठी मन्नो बही चली जा रही है···वह मुझे नहीं देखती, नहीं देखती, उसकी आँखों के आगे उसके अपने हाथों की रोक है, अपने हाथों की ओट है ।

हाथों पर टिका मन्नो का सिर नीचे झुका है, आँखें शायद बन्द हैं, शायद गीली हैं । उस कड़े आहत अभिमान की बात सोचकर छटपटाता हूँ ।

कदम उठाकर फाटक के पास पहुँचा तो सिसकियाँ सुनकर रुक गया ।

मन-ही-मन दुहराकर कहा—मन्नो !···मन्नो !···

इसी पुकार को पलट कर जैसे उत्तर आया—ठहरो नहीं ! रुको नहीं !

सच ही मैं ठहरा नहीं । उतरता चला गया और हर पग के साथ दूर होता चला गया, उस काटेज से, काटेज में रहने वाली मन्नो से, मन्नो की उन दो आँखों से ।

× × ×

पर मन्नो की स्मृति से नहीं । मन्नो की याद मुझे आज भी आती है । आज भी वह याद आती है, वह दुपहरी जब मन्नो और मैं उस बड़ी झील के किनारे से लगी पगडण्डी पर घूमते रहे थे । मीठा-सा दिन था । पहली बार उस पीले चेहरे की मिठास के सम्मुख मैं पानी-सा बह गया था । एकटक उन घुँघराले बालों को देखता रह गया था । और देखता गया था शाल में लिपटे उन कन्धों को, जो पैरों की धीमी चाल से थककर भी झुकते नहीं थे ।

परिक्रमा का अन्तिम मोड़ आया तो बहुत बड़े घने वृक्ष के नीचे देवी के

दो छोटे-छोटे मन्दिर दीखे। टीन के कपाट बन्द थे। कुछ अधिक न सोचकर आगे बढ़ने को हुआ कि मन्नो को देखकर रुक गया। खड़ी-खड़ी कुछ देर सोचती रही। फिर जूते उतार नंगे पाँव किनारे के पत्थरों से नीचे उतर गई। बड़े से पत्थर पर पाँव जमाया और झुककर डण्ठल से कमल तोड़ वापस लौट आई। मैं तो कुछ सोच नहीं रहा था। शाल सिर पर कर लिया था और उन बन्द कपाटों के आगे वाली दहलीज पर फूल रखकर सिर नवा दिया।

मन्दिर के बन्द कपाटों के आगे माथा टेक मन्नो उठी तो मानो मन्नो-सी नहीं लग रही थी। ऐसे दीखा कि यह झुकी छाया मन्नो नहीं, मन्नो की व्यर्थ हो गई विवशता थी जिसने भाग्य के इन बन्द कपाटों के आगे माथा टेक दिया था। इस निर्मम अकेलेपन के लिए मन में ढ़ेर-सा दर्द उठ आया। बहते-से स्वर में कहा-—दर्शन करने का मन हो मन्नो, तो किसी से पुजारी का स्थान पूछूँ ?

मन्नो ने कुछ कहने से पहले स्वर को सँभाला, फिर सिर हिलाकर कहा—नहीं रवि, ऐसा कुछ नहीं। मुझे कौन वरदान माँगने हैं। अपने लिए तो कपाट बन्द हो गये हैं। बस, इतना ही चाहती हूँ, यह कपाट खुले रहें, जिनसे बिछुड़ कर मैं अलग आ पड़ी हूँ।

मन्नो को छूने का भय, उसके रोग का भय, जो अब तक मुझे रोकता था, बाँधता था, अलग जा पड़ा। झील की ठण्डी हवा में फहराते-से घुँघराले बालों पर झुककर बाँह से घेरते हुए कहा—मन्नो···।

मन्नो चौंकी नहीं। कन्धे पर पड़ा हाथ धीरे से अलग कर दिया और समूची आँखों से देखते हुए बोली—रवि, जिसे तुम झेल नहीं सकते, उसके लिए हाथ न बढ़ाओ !

आवाज में न उलाहना था, न व्यंग था न, कटुता। बस जो कहने को था, वही कहा गया था। इस कहने का उत्तर मैं उस दिन न दे पाया। बार-बार मन्नो के पास जाने पर भी नहीं दे पाया और नहीं दे पाया विदा के उन क्षणों में, जब मन्नो को रोला छोड़ मैं अन्तिम बार 'पाइन्स' की उतराई उतरता चला गया था। जिस दुर्बलता से कायर बन कर डरा था, वह आज अपने पर ही बीत

गई है। आज अपने लिए मन्नो के लिए उस कायरता को कोसता हूं।

× × ×

घर में चहल पहल थी। माँ को सुन्दर बहू मिली, मुझे मिली संगिनी। भोलेपन से मुस्कराती मीरा को देखता हूँ तो कहीं खो जाने को मन चाहता है। लेकिन अब खोऊंगा क्यों? अब तो बँध गया हूँ, बँधा रहूंगा। आसपास नाते-रिश्ते हैं मित्र-बन्धु हैं। ब्याहवाले घर के ऊँचे कहकहे सुनकर खुशी से मन उमड़-उमड़ आता है। कैसा आयोजन होता है वह भी? एक दिन जो बात शुरू हो जाती हैं, उसे सम्पूर्णतया पूर्ण कर दिया जाता है। इतने समूचे मन से ब्याह के सिवाय और क्या होता है जो सम्पन्न होकर एक टेक पर एक विराम पर पहुँच जाता है। तन मन घर द्वार अन्दर बाहर सब एक ही प्यार में भीग जाते हैं। कल मीरा को लेकर समुद्र किनारे चला जाऊँगा। महीना भर रुककर वहाँ के लिए प्रस्थान करेंगे जहाँ अब तक मैं बेघर-सा होकर रहता रहा हूँ।

× × ×

उस अपार, असीम सागर के किनारे एक-दूसरे पर छा-छा जाते हम घंटों घूमते रहे। बीच-बीच में ठहरते और मोहवश एक-दूसरे में छिपे अपने-अपने प्यार को चूमते। सुबह-शाम, दिन-रात कहाँ छिपते, कहाँ डूबते, यह हम देख-देखकर भी नहीं देखते थे।

इसके बाद प्रहरों की तरह बीत गये वे दस वर्ष। संग-संग लगे विछोह से दूर मग्न दिन-रात। मीरा और बच्चों से दूर इस काटेज में पड़ा-पड़ा आज भी पीछे लौटता हूँ तो बहुत निकट से किसी सांस का स्वर सुनता हूँ।

हम कितने सुखी हैं, कितने! चाहता हूँ किसी की आँखों में देखकर इसका उत्तर दूँ। किसी को छू कर कुछ कहूं, पर सुनने वाला कोई पास नहीं। बच्चों के लिए मीरा ने मेरा मोह छोटा कर लिया।

गये महीने रानीखेत जाते मीरा बच्चों के संग घंटे भर को यहाँ रुकी थी, बरामदे में लेटे-लेटे उन तीनों को ऊपर आते देखता रहा। फाटक पर पहुँच कर मीरा पलभर को ठिठकी थी। फिर दोनों हाथों से बच्चों को घेरे अन्दर ले आई।

'मुन्ना, रानी प्रणाम करो बेटा।'

बच्चों के झिझक से बँधे हाथ मेरी ओर उठे।

देखकर कण्ठ भर आया। मेरा भाग्य मुझसे दूर मुझसे अलग जा पड़ा है। मेरे ही बच्चे आश्चर्य की दृष्टि से मुझे देख माँ की आज्ञा का पालन कर रहे हैं।

मीरा जब तक रही, आँखें पोछती रही। कुछ कहने को कुछ पूछने को उसका स्वर बँधा नहीं। अपने सुन्दर सुकुमार बच्चों को अपने ही डर के कारण पूरी तरह निरख नहीं पाया। केवल मीरा की ओर देखता ही रहा कि जो आज मुझे मिलने आई है, उसमें मेरी पत्नी कहाँ है, कहाँ है वह जो सचमुच मेरी थी।

भरी आँखों से मीरा के कलाई की घड़ी देखने की निठुराई से आहत हो मैं फटी-फटी, रूखी दृष्टि से फाटक की ओर देखने लगा कि मेरा ही परिवार कुछ क्षण में मुझे यहाँ अकेला छोड़ मुझसे दूर चला जायगा। एक बार मन हुआ कि बच्चों को पकड़ने वाली उन दो बाहों को अपनी ओर खींचकर कहूँ मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगा। पर बच्चों की छोटी-छोटी आँखों का अपरिचय उस आवेश को दूर तक काटता चला गया।

चौंककर देखा मीरा पास आकर झुकी और अधरों से मस्तक छूकर हौले से पीछे हट गई। उठ बैठा कि एक बार प्यार दूँ एक बार प्यार लूँ...कि हाथों में मुँह छिपा रोते-रोते मीरा इन बाँहों से आ लगी।

मीरा की आँखों से भींगी अपनी रोती आँखों को पोंछ कर आस-पास देखा तो टूटा बाँध सब कुछ बहा ले गया था। न पास मीरा थी न बच्चे...

तकियों के सहारे सिर ऊन्चा करके देखा उतराई के तीसरे मोड़ पर तीनों चले जा रहे थे। मीरा मेरी ओर से पीठ मोड़े आगे की ओर झुकी थी। बच्चे एक दूसरे की उँगली पकड़े कभीं माँ को देखते थे, कभी राह को।

साँस रोके प्रतीक्षा करता रहा, पर किसी ने पीछे नहीं देखा। न मीरा ने न बेटे ने... केवल छोटी रानी के बालों में गुथी गुलाबी रिबन देर तक हिल-हिलकर मेरी आँखों से कहती रही—पापा, हम चले गए पापा हम चले गए।

× × ×

सच ही सब चले गये हैं। इसलिए नहीं कि उन्हें जाना था, इसलिए कि मैं चला जा रहा हूँ। ऐसे ही एक दिन मन्नो के जाने को भाँपकर में उतराई से उतरता चला गया था। मेरी ही तरह अकेले में मन्नो रोई थी। अब जान पाया हूँ कि हाथों में मुँह छिपाकर वह रोना कितना अकेला रोना था। पर इस बार जाकर बरसों मैंने मन्नो की सुधि नहीं ली। जब कभी नींद में देखता वह दुबली देह, बड़ी-बड़ी आँखें और कम्बल पर फैली पतली-पतली बाहें, तो जागकर उद्वेग से मीरा की ओर बढ़ जाता।

एक बार दौरे पर लखनऊ आया तो बुआ मिलीं। देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद एकटक स्वर बदल कर बोलीं—रवि, मन्नो तो अब नहीं रही।

'नहीं बुआ।'—मैं पिता हो जाने के गाम्भीर्य को सम्भालते कहता हूँ—नहीं बुआ···

बुआ जैसे मुझे कहीं वर्षों पहले के उस रवि से कहती है—रात को सोई तो जगी नहीं। अम्मा छुट्टी पर थीं। सुबह-सुबह ख्याली अन्दर आया, तो साँस चुक गई थी।

मैं रुँधे गले से जैसे कुछ पूछने को कहता हूँ—बुआ।

बुआ आँख पोंछती-पोंछती कुछ सोचती रही, फिर दर्द से बोलीं—रवि, एक बार उसे पत्र तो लिखते।

मैं रूमाल से रुलाई सोखने लगा।

'तुम्हारे नाम एक पारसल छोड़ गई थी अलमारी में। खोला तो जर्सी थी।

दूसरे दिन बुआ के पास फिर आया तो जल्दी-जल्दी पाँव छू कर कहा—'अच्छा, बुआ···

'रवि!'—बुआ की वही आवाज थी। मैंने सिर हिलाकर घोर विवशता के से स्वर में कहा—नहीं बुआ, नहीं।

बुआ समझ गईं, मैं कुछ भी जानना नहीं चाहता हूँ। पर जैसे मन-ही-मन मन्नो के लिए टूटकर बोलीं—यही बार-बार सोचती हूँ कि जिसके प्यार को भी कोई न छू सके, ऐसा दुर्भाग्य उसे क्यों मिला, क्यों मिला?

× × ×

लखनऊ से लौटकर मैं कई दिन मन से मन्नो को उतार नहीं पाया। यही देखता कि 'पाइन्स' में कुर्सी पर बैठी वह मेरे लिए जर्सी तैयार कर रही है, वही हाथ हैं, वही दृष्टि है ··

और एक दिन साल भर घर में बीमार रहने के बाद मैं भुवाली पहुँच गया।

वही चीड़ की ठण्डी हवाएँ थीं, वही सुहाती धूप थी, वही भुवाली थी और वही मैं था। पर इस बार किसी का पता लगाने मुझे पोस्ट आफिस की ओर नहीं जाना था। 'पाइन्स' के सामने वाले पहाड़ पर किसी के अभिशाप से अभी काटेज में पहली बार सोया तो भर-भर आते कण्ठ से रात भर एक ही नाम पुकारता रहा। मन्नो !···मन्नो ! ··आज वह होती तो तुझे झेल लेती·········

हर रोज सुबह उठते-बैठते बरामदे से 'पाइन्स' देखता हूँ और मन-ही-मन कहता हूँ—मन्नो !···मन्नो !···

जिस मीरा को मैंने वर्षों जाना है, वह अब पास-सी नहीं लगती, अब नहीं लगती। उसे मैंने छू-छूकर छुआ था, चूम-चूमकर चूमा था, पर जब मोह और प्यार की उछलन आती है, तो मीरा नहीं, मन्नो की आँखें सगी दीखती हैं।

खिड़की के सामने लेटे-लेटे, अकेलेपन से घबराकर जब मैं बाहर देखता हूँ तो धुन्ध-भरे बादलों के घेरे में घुँघराले बालों वाला वही चेहरा दीखता। है वही

आये दिन दवा के नये बदलते हुए रंग देखकर अब इतना तो जान गया हूँ कि इस छूटते-छूटते तन में मन को बहुत देर भटकना नहीं होगा। एक बार खिड़की से बाहर देखते-देखते इन्हीं बादलों के घेरे में समा जाऊँगा मैं, समा जाऊँगा।

दूध और दवा

मार्कण्डेय

"मैं आया, मैंने देखा, मैंने विजय किया।" मार्कण्डेय जी पर यह उक्ति पूरी तरह चस्पां होती है। एक के बाद एक कहानी "कल्पना" में छपनी थी कि साहित्यिक क्षेत्रों में तहलका मच गया। वह अपने साथ एक नया शिल्प और सर्वथा नवीन युगबोध लेकर आये थे। उन्होंने कहानी को शहर की संकरी-तंग गलियों से निकालकर ग्राम्य जीवन की खुली फ़िजाओं में ला खड़ा किया। ग्राम्य जीवन के अत्यन्त मार्मिक, सुनहले और विविध चित्र उनकी कहानियों में मुखरित हुए हैं। छटे दशक पर उनके व्यक्तित्व की मौलिक छाप है। 'पान फूल,' 'हंसा जाई अकेला,' 'भूदान,' 'मछुए का पेड़,' 'माही' (कहानी संग्रह) 'सेमल के फूल,' (उपन्यास) 'पत्थर और परछाइयाँ,' (एकांकी) 'सपने तुम्हारे थे (काव्य) हैं।

मार्कण्डेय साहब एक कुशल अभिनेता हैं। अभिनेता इस मायनी में कि जब वह बोल रहे होते हैं तो उनके अँग प्रचालन, चेहरे के हाव-भाव और अदाओं में सुनने वाला गुम होकर रह जाता है। उनके हर अंदाज में एक संगीत है। भूषण बनमाली ने जब पहली बार मार्कण्डेय को देखा तो मेरे कान में कहा, 'यार, यह तो किसी नायिका की तरह मालूम होता है।' मेरे लिये बनमाली की इस पहचान के बारे में कुछ कहना बेहद मुश्किल है। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि वह एक अज़ीब अदीम है और एक सच्चा दोस्त !

बात बहुत छोटी-सी है, नाजुक और लचीली, पर मौका पाते ही सिर तान लेती है। कोई काम शुरू करने, सोने या पलभर को आराम करने से पहले लगता है, कुछ देर इस प्यारी बात के साथ रहना कितना अच्छा है ! वैसे मुझे काम करना, करते रहना, और करते-करते मर जाना प्रिय है। इसी की बात भी मैं लोगों से करता हूँ और दूसरों से यही चाहता भी हूँ, पर यह सब तभी होता है, जब मेरे चारों ओर लोग होते हैं। ऐसा नहीं कि लोगों में मेरे बीबी-बच्चे शामिल नहीं हैं। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है, जैसे मैं किसी भीड़में खड़ा हूं और असह्य ध्वनियाँ मेरे कानों के पर्दे को छेदने लगती है। मैं भागकर अपने कमरे में घुस जाना चाहता हूँ, पर उसकी बड़ी-बड़ी, आँसूओं में डूबी हुई आँखें—मैं क्या करूँ इनका ? देखते हो, अब मुन्नी भी दूध के लिये जिद करती है !—ऐसा नहीं कि बात मेरे मन में गहरे तक नहीं उतरती, उतरती है, पर मैं तो मुन्नी को स्कूल जाने के लिये ऐक छोटी मोटर खरीदना चाहता हूँ, हलके गुलाबी रंग के फ्राक में लड़खड़ाती, दौड़ती मुन्नी को देखने की मेरी कैसी विचित्र लालसा है, जो कभी पूरी होती दिखाई ही नहीं देती !

सुबह-सुबह बिस्तर से उठते ही वह जोर-जोर से चीखने लगती है, जब उसकी माँड़े से सूजी आँखें और भी सूजी होती हैं। कई बार मन में डाक्टर की बात उठती है, डर लगता है, कहीं मुन्नी की माँ की पतली, लम्बी किश्ती-सी आँखों का पुराना छेद फिर न खुल जाय और सवेरे-सवेरे डूबने-उतराने की मर्मान्तिक पीड़ा में मुझे लिखना-पढ़ना छोड़कर सड़क का चक्कर काटना पड़े। मैं चुपचाप एक निश्चय करके कमरे में चला जाता हूँ—पहले डाक्टर का इन्त-जाम करके ही उससे चर्चा करूँगा। पर फिर वही नन्हीं-सी बात !—तुम्हें

खोजने लगता हूँ, तुम जो इसी कड़ी जमीन की चुभन से पलभर को उठाकर मुझे एक सुनहले, झिलमिलाते लोक में खींच ले जाती हो—तुम्हारे सीने के बीच, मुलायम, उजले देह भाग में मुँह डालकर पलभर को साँस लेना कितना अच्छा लगता है मुझे। तुम्हें शायद याद होगा—बात मकड़ी के जाले की तरह तनने लगती है, लेकिन घंटों और घंटों आँखें बन्द रखने पर भी शिकार कोई नहीं फँसता और मैं बीवियों और मजदूरों के बारे में सोचने लगता हूँ।—आखिर इन दोनों को हरदम शिकायतें क्यों रहती हैं ? क्यों इन दोनों के सीने में खारे पानी का इतना विशाल समुद्र फफाया रहता है, मृत्यु की आखिरी कराह की तरह इस समुद्र की लहरें चीखती हैं, पर किसी खोखले श्राप की तरह मिथ्या बनकर बिखर जाती हैं। मैं इन विनाशकारी लहरों को दुनियाँ को निगल जाते देखने के लिए व्याकुल हो उठता हूँ, पर हल्की-सी मुसकराहट या वह भी नहीं तो बस मुलायम कलाइयों की पकड़ और उस समय कुछ भी और न सुनने की बात—जाने भी दो।—कमर के नीचे नंगी, खुली—मैं इस असामयिक मृत्यु से बचना चाहता हूं, पर कोई चारा नहीं। तुम्हारे जीने का यही सहारा है और मेरे पास उन मृत्यु की घड़ियों के सूनेपन को दूर करने का यही उपाय। तुम विश्वास नहीं करतीं, पर मैं सच कहता हूँ कि मुझे इतना ही बहुत अच्छा लगता है ! इसलिए मैं समझ नहीं पाता कि स्त्रियाँ और मजदूर मालिकों को क्यों ओढ़े हुये हैं, महज़ इतनी-सी बात के लिये, या मुन्नी की आँखों के माँडे की दवा या उसके दूध के लिये !

—ये प्रश्न उसके साथ नहीं उठते। क्यों आखिर ? क्या उसे बच्चे नहीं हो सकते या वे दूध पीने वाले बच्चे नही होंगे ? धीरे-धीरे यह क्यों, धुंधलाता है, पानी, सिर्फ एक बूंद। स्याही, जाने कैसे फैल कर एक झील, भूरी आँखों की तरह, वह भी सतही उथली—अछूता, कच्चा, नुकीला फूल, आसमान में उड़ने वाली लरजती पतंग की लम्बी पूंछ—किसी बँगले के फटे हुये पुराने पर्दे —मुल्क में बदअमनी और भूख—वे मित्र जिन्हें नौकरी के लिये पत्र लिखे हैं, जो चाहें तो मैं भी उन्हीं की तरह का लगो, वे एतबार और ऊँचे दरजे का नौकरी देने वाला मुलाज़िम—लेकिन वह नौकरी से चिढ़ती है,—तुम नौकरी

करोगे ? फिर तो मोटर, बंगले और सुख की अनेक कोटियाँ हैं । मेरे लिये जगह कहाँ होगी ? मैं गरीब बाप की बेटी हूँ ।—अजीब बात है, तुम भूख में जी सकती हो, लेकिन वह तो कहती हैं कि उसके सीने में एक भयंकर ज्वालामुखी दबा पड़ा है, जो कभी भी नहीं भड़केगा, वह यह भी जानती हैं । पर क्यों नही भड़केगा, क्यों उसके लावे से मेरा घर आँगन नहीं पट जायगा ? इसलिये न कि मैं लिखूँगा और लिखने से पैसे मिलेंगे और पैसा उसे ठण्डा करते रहेंगे वह यही तो कहती है कि पैसा दिल को ठंडा और शरीर को गरम रखने की अदभुत दवा है— गरीब दुनिया का सबसे अच्छा इन्सान है । गरीब लड़की की मुहब्बत दुनियाँ की सबसे पवित्र निधि ।—कभी-कभी वह स्कूल टीचर की तरह बोलती है ! आखिर और यह सब है ही क्या ?

मुन्नी जब जन्मी थी, तो उसके लिए मैंने एक झूला खरीदा था, बहुत सारे कपड़े बने थे और उसे दूध में ग्लुकोज और शहद दी जाती थी ।—फ्रेंच सीखेगी मेरी बेटी, मैं चाहता हूँ, वह पेन्टर बने—सिर्फ तीस रुपये तो लगते हैं उसके दूध के । तीस में ऐसा क्या रखा है ?—साल ही भर बाद रुनकू आया तो कितना उत्साह था !—कोई बात नहीं, दोनों के लिए एक गाड़ी होगी, दोनों कानवेन्ट जायेंगे ।—लेकिन ये क्या फिजूल की बातें हैं, बेओर-छोर की । मैं झटके से उठ बैठता हूं और लिखने की कापी के मसौदे कई बार उलट-पुलट कर देखने लगता हूँ । कई अच्छी चीजें लिखने के बगैर पड़ी रह गयी हैं । पर इसी समय इन्हें उठाया तो नहीं जा सकता । मामूली स्तर पर बात बनाने से मुझे चिढ़ है । लेकिन सहसा मुझे मकड़ी के नन्हें तार की स्मृति हो आती है और मैं बिस्तर छोड़कर उठ खड़ा होता हूँ, कहीं जाला फिर न तनने लगे । वह ऐसे ही समय आ जाती है—कहीं बाहर जा रहे हो क्या ?—एक तेज़ भनक दिमाग़ में बज उठती है, पर मैं उसपर हाथ रख देता हूँ । कोई कड़वी चीज़ निगलता हूँ,—हाँ, कोई काम है क्या ?

—नहीं तो, ऐसे ही पूछ लिया । अभी तो धूप बहुत तेज है, कुछ रुककर जाते !

और वह कह ही क्या सकती है ? थकी भी तो है बेहद । रुनकू ने सारी

दोपहरी परेशान किया है। चौका-बरतन, सामान की सँभाल-सहेज, कपड़ों की सफाई, अभी तो उसे दूध पिलाकर सुलाया है। ब्लाउज के बटन खुले ही हैं।

—मुन्नी भी सो रही है क्या ?

—नहीं सब जाग रहे हैं,—वह उगती हुई हँसी को दबाती है, चेहरे पर पतली सी खून की झलक और फिर क्षण ही भर में सूखकर धीरे-धीरे गाढ़ी होने लगती है। वह दरवाजा छोड़कर कमरे में आती है—आज मुन्नी की आँखों में बहुत दर्द है। चेहरा सुर्ख हो गया है। अभी-अभी तो सिर में तेल डालकर बहुत देर तक सहलाती रही हूँ, तब जाकर सोयी है।

वह चारपाई पर बैठ जाती है। मैं पास आकर कहता हूँ,—ब्लाउज के बटन तो ठीक कर लो, तुम्हें अब ठीक ढंग से बाडी पहनना चाहिए।

वह बटन बन्द करते-करते बोलने लगती है—अब इसके सुख की कल्पना मेरे पास नहीं है, न ही तुम्हारे मन में है और अगर है, तो नहीं होनी चाहिए।

—नुकीले और कड़ेपन की सिहरन जीवन की एक ऐसी कठोर सच्चाई है, जो टूटकर समझदार को भ्रम नहीं लगती न लगनी चाहिए, क्यों कि वह सहज है। अनुरक्ति का जन्म वहीं से होता है।—उसका बदन गरम होने लगता है—मेरे सीनेमें एक बंद ज्वालामुखी है, जो कभी नहीं भड़केगा, यह मैं जानती हूं। ऐसी ही बात-चीत के धरातल पर वह ज्वालामुखी तक पहुँचती है और मुझे ऐसी ही मन्त्र-सी बात से डर लगता है। मैं ईंधन नहीं डालता और वह उठ खड़ी होती है। कहीं जैसे कोई दर्द रेंग गया हो। मैं चाहता हूं, जाते-जाते उससे कुछ कहकर जाऊँ, पर ऐसे समय कुछ कहने का मतलब है, कुछ सुनने की सम्भावना।

शायद जिस तरह उसे मालूम है कि मैं कहाँ जाता हूँ, उसी तरह मुझे भी मालूम है कि मैं कहीं नहीं जा रहा हूँ, पर जा रहा हूँ, यह ठीक है।

मेरे घर के सामने एक चौड़ा नाला है और उसके परे कटीली झाड़ी का एक बड़ा सा गुंबद। मैंने कभी इसमें एक खरगोश के जोड़े को घुसते देखा था। वैसे मैं पलभर की पिछली बात को भूल जाता हूँ, पर उसे आज भी नहीं भूला। घर से निकलता हूँ, तो पलभर रुककर उधर जरूर देख लेता हूँ। स्कूल से लड़-

कियों को ढोनेवाली गाड़ियाँ बोलती हैं, तीर की तरह सड़क को चीरती हुई कोई चिड़िया उड़ जाती है, पर वह खरगोश का जोड़ा !—मुन्नी अब तक उठ कर मुझे जरूर ढूंढ रही होगी और फिर अपने कमरे में जाकर लौटी होगी। मेरी मेज़ की गर्द भरी सतह पर अपने हाथ की थाप बनाने के लिए या तो कुर्सी पर चढ़ गयी होगी या लुढ़ककर गिरी होगी तो उसकी माँ कुर्सी को दो चपत मारकर उसे चुप कराने के बाद समझा रही होगी कि आखिर उसे इस मेज पर रोज अपने हाथों के निशान छोड़ने से मिलता क्या है !

—पापा छे कैछे कहूँगी कि मैं तुम्हें खोजती थी ?—वह रोज कहती है और मैं रोज भुठला देता हूँ। वह मानती नहीं, मेरी अँगुली पकड़कर मेज के पास तक खींच ले जाती है। मेरी आँखों में धुँधलके की एक परत छा जाती है।

वह कहती है—खिड़की कितनी बंद रखो, गर्द आ ही कर मानती है।—और मैं···मैं देखता हूं कि मुन्नी की हथेली की थाप बढ़ती जा रही है। कभी-कभी इन थापों की रेखाओं में मनुष्यता का पूरा भविष्य पढ़ा गया है और कभी आग की बेतरतीब लहरें किसी अनहोने से वस्तु सत्य के वीरान अंधेर से दौड़-दौड़कर मेरे सीने से सटती चली आती हैं—चौकड़ी भरते हिरणी की लम्बी कतार और पीछे लोलुप, अंध दुष्यन्त—

मैं खुद अपने आगे खड़ा हूं, मान्यताओं की सलीब पर टँगा हुआ, लहू-लुहान !—पत्थर का एक बहुत बड़ा ढेर है और लोग आँखें मूँदकर पत्थर मारते हैं—लोग फूल चढ़ा रहे हैं मान्यताओं पर—आदमी की बार-बार की नोची छिछड़ी को दाँतों से नोंच-नोंच कर फेंक रहे है—लोग नंगी औरत के कोमल शरीर को खुरदरे जूट के रस्सों से जकड़ कर बाँध रहे हैं—

मुझे अनुराग में शिकायत का स्वर-गान समझ में नहीं आता, सिर्फ़ एक लाचारी का आरोप···आदमी नहीं, टूटा हुआ, पुराना खंडहर···आखिर क्यों ? फिर मैं शिकायतों के बारे में सोचता हूँ, पर बीवियों और मज़दूरों की नहीं, अपनी ही···तुम रुककर पूछ नहीं सकती थी, तुम्हें इतना भी ख्याल नहीं कि मैं इतनी तेज़ धूप में कितनी दूर चलकर आया हूँ, तुम्हें पता है, हम कितने दिन से एक दूसरे को देख रहे हैं, शायद तुम इसी लिए नहीं रुक सकीं कि तुम्हारे

साथ तुम्हारी सखी थी और उस पर तुम यह जाहिर होने देना नहीं चाहती थी कि तुम मुझे जानती हो।···गोल-गोल चक्कर खाकर हवा ऊपर को उड़ गयी है और सड़क के किनारे खड़े मौलसरी के पेड़ की तमाम पत्तियों के पर लग गये हैं। इनके साथ उस कोने की धूल भी है, जहाँ पार्क में बच्चों के खेलने ने घास उड़ा दिया है और इस लम्बे युकलिप्टस की छरहरी शाखें अब भी थरथरा रही हैं।

मैं धीरे-धीरे चल रहा हूँ। चारों ओर कब्रिस्तान है। सड़क के नीचे, और ऊपर की हवा तक में बातों के टूटे-फूटे अस्थि-पंजर उभर आये हैं। मैं सिर्फ़ चुभन, टीस और प्रतारणा को चुन-चुनकर अपने तरकश में भरता जाता हूँ। एक विकलांग, विक्षिप्त योद्धा की तरफ मैं पसीने और गर्द से लथपथ हो रहा हूँ। हवा एकदम चुपचाप खड़ी है, मौलसरी की पत्तियाँ दम साधे हैं, युकलिप्टस की लम्बी शाखें मर गयी हैं और बच्चों के पार्क की बेघास की ज़मीन घिसी हुई, निर्जीव हड्डी की तरह चमक रही है। मैं चाहता हूँ, हवा फिर गोल-गोल चक्कर खाकर ऊपर उठे और फिर वही साल-भर पुराना सब-कुछ आज घट जाय, मौलसरी की पत्तियों, युकलिप्टस की डालों, पार्क की ज़मीन और मेरे साथ···

मैं थककर टूक-टूक हो रहा हूँ। पल भर कहीं बैठना चाहता हूँ और कुछ देर सब बाहर को ही देखना चाहता हूँ, जैसे कोई मकान का दरवाज़ा लगाकर बरामदे में आ जाय। लेकिन अब बहुत देर हो गयी है, लौटने में भी काफ़ी समय लगेगा।···लगता है, वह घर से निकल नहीं पायी···क्यों नहीं निकल पायी? उसे निकलना चाहिए था···उसे लोहे की जूतियाँ पहनकर काँटों को कुचलते हुए आना चाहिये था, लेकिन वह कहती है, मैं खून से लथपथ होना चाहती हूँ, मैं उन सारे दागों को अपने शरीर पर मुखर रखना चाहती हूँ, मैं सारे घावों की मवाद और गन्दगी को लोगों को दिखाना चाहती हूँ, देखो, सत्य यह है, तुम्हारी सच्चाइयों की तसवीर यह है! तुमने घर को इसलिए स्वर्ग बना रखा है कि तुम्हरी बीवी तुम्हारी कमाई खाती है और एक खरीदे हुए दास से भी बदतर ढंग से तुम्हारी सेवा करती है। तुम्हें अगर यह पता लग जाय कि वह तुम्हें नहीं किसी और से प्रेम करती है, तो तुम हवा से नजर आते हो, क्योंकि तुम्हें अपने

से ज़्यादा अपने पैसों पर भरोसा है। यही एक परानी टकौरी है तुम्हारे पास··· एक नन्हा-सा आक्सीजन बैलून हवा में उड़ता चला जाता है, उसमें तुम बैठी हो गरदन दर्द करने लगती है, देखते-देखते, लेकिन तुम किसी मायाविनी की तरह पीछे से हँसती हुई गोद में बैठ जाती हो—मुझे प्यार करो, मेरे जाने का समय हो गया, मैं चाहती हूँ, इसकी याद बनी रह जाय !—पर मुन्नी का बैलून तो मेरे कमरे की निचली छत ही में अटका रह जाता है। वह पैर पटकने लगती है—पापा ! उतालो इछे ! देखो यह छत चुला लही है मेला गुब्बाला, तुम्हीं ने छिपाया है !

—मैं कैसे पहुँचूँ इतनी ऊँचाई तक ?

—अच्छा, मुझे कंधे पल उठाओ !

—फिर भी तो नहीं पहुँचोगी।

—कुल्छी पल खले हो जाओ !

वह बिगड़ती हुई आती है—यह क्या तमाशा है ! अभी तो आँख ही गयी है, अब हाथ-पाँव भी तोड़कर बैठोगी ?

मैं चुपचाप खड़ा हूँ और वह मुन्नी के उतरने का इन्तजार करती है। लेकिन यह तो आक्सीजन ही निकल गयी गुब्बारे से !—मुन्नी !···मुन्नी !

—अब उसे जाने भी दो ! और हाँ, कल रात कुछ लिख रहे थे, वे कागज़ कहाँ गये ?

···मुन्नी की दवा और दूध···चुपके से मन में कुछ काँपता है—मैं ऐसी ही नन्हीं-नन्हीं बातों को लेकर परेशान होता हूँ।

वह कहती है—आखिर इसमें क्या ऐसा रखा है, जो तुम्हें विचलित कर देता है ? मैं रुकी नहीं, कुछ कहा नहीं, तो क्या ऐसा आसमान फट पड़ा ? मैं पूछती हूँ कि मुन्नी के दूध और दवाइयों का क्या हुआ ? तुम कुछ लिख कर मुझे देनेवाले थे न ?

और इतने ही समय में वह कुछ धीमी-सी हो गयी। मैं चुप जो रह गया।

—क्या सोच रहे हो ? मैंने तो समझा कोई कहानी लिख रहे थे। आज

किसी को देकर कुछ रुपये लाते तो अच्छा था। कल दो रुपये का सामान मँगाया था, आज-भर और चलेगा।

इस नन्हें-से अवसर से सँभल गया हूँ, इसलिए बात बनने में देर नहीं लगती —वह तो पत्र था तुम्हें गोदावरी ने लिखा था कि किताबें भेजवा दो, वही प्रकाशक को लिखा कि उसे भेज दें!...अरे रुको, देखो, वह क्या है?

—कहाँ

—रुको तो! अरे, यह तो वही तिल है!—अँगुलियाँ काँप जाती हैं। चेहरे पर चुनचुनाहट की तरह कुछ बहुत नन्हा-नन्हा उग आता है, एक अजीव-सी खुशी की लहर—

—हटो भी, खिड़की खुली है!

...मेरे सीने में एक ज्वालामुखी है, जो कभी नहीं भड़केगा, यह मैं जानती हूँ...मैं समझ नहीं पाता कि स्त्रियाँ और मजदूर मालिकों को क्यों ओढ़े हुए हैं, महज इतनी-सी बात के लिये या मुन्नी की आँखों के माँड़े की दवा या उसके दूध के लिये!

लाट

अमरकांत

हिन्दी के मूर्धन्य कथाकार श्री भैरव प्रसाद गुप्त जी का कहना है कि अमर कांत के जिक्र बिना हिन्दी कहानी की चर्चा अधूरी है।' यह सही भी है, क्योंकि उनकी कहानियाँ अपने कथ्य एवं शैली की दृष्टि से सवर्था अद्वितीय हैं। मध्यम् वर्गीय जीवन का जो सजीव चित्र हमें उनकी रचनाओं में मिलता है, वह अन्यत्र दुलर्भ है। 'ग्राम सेविका,' 'जिन्दगी और झोंक,' 'पराई डाल का पंछी' और 'सूखा पत्ता' उनकी कथा कृतियाँ हैं।

अमरकांत शक्ल से लेखक कम फिलासफी के प्रोफेसर अधिक नजर आते है। बातचीत और व्यवहार में 'ब्लयू नेचर' के हैं। अब तो वक्त ने आवाज को कुछ सख्त कर दिया है, मगर वचपन में जरुर वह लड़कियों की तरह बोलते होंगे—ऐसा अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है। आपकी पसन्द के बारे में तो अंतिम रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है, मगर जिन बातों से आपको सख्त नफरत है—उनमें से एक इन्तजार भी है। यही वजह है कि अकसर ऐसा मौका आने पर उनकी तबीयत खराब हो जाती है और घन्टों 'ग़मज़दा लड़की' की तरह उदास रहते हैं।

मोहन के लिए सुन्दर नारी सदा एक ऐसे खिलौने के समान रही थी, जिस को जब चाहा तोड़ दिया। वह शान और विश्वास के साथ डींग मारता था कि घोड़े और स्त्री पर क़ाबू पाने के लिये मज़बूत रान चाहिए। वस्तुतः पैसे और प्रभुता के अलावा उसने किसी चीज़ की परवाह ही नहीं की थी। अकड़कर चलता, कड़कर बोलता, बदमाशों और कैदियों की अन्धाधुन्ध पिटाई करता और घूस लेता था।

शहर में आने पर सबसे पहले उसकी ड्यूटी कोतवाली में लगी थी। दूसरे दिन ही वह अपने मित्र, प्रेम, के ससुर, डॉक्टर नीरज से मिलने गया था। उस ने यह नहीं सोचा था कि दोस्त की ससुराल में उसका इतना स्वागत होगा। उदारता और सहृदयता डॉक्टर नीरज की दुर्बलता थी। उन्होंने मोहन की अपने दामाद से भी अधिक ख़ातिर की। उन्होंने घर के सभी लोगों से उनका परिचय कराया, देर तक उसको अपनी गृहस्थी की महत्वपूर्ण बातें बताईं। बेबात की बात पर कह-कहे लगाये और दुनिया पर अन्य विषयों पर उत्साहपूर्वक गप्प लड़ाई। अन्त में उससे आग्रह किया कि उसको जब तक अलग थाना और क्वार्टर नहीं मिलता, वह उनके घर में ही आकर रहे, क्योंकि वह यह नहीं मानते कि प्रेम और उनमें कोई फ़र्क है।

मोहन ने उनके आग्रह को इस तरह स्वीकार किया, जैसे अपने मित्र के सम्बन्धी का मन रखना उसका सबसे प्रिय कर्तव्य हो। परन्तु वह मन-ही-मन बहुत खुश था। डॉक्टर नीरज की लड़की, लाट, उसके हृदय में एक अजीब ही उत्सुकता जगा गई थी। उसके कोमल लचकीले शरीर और बड़ी-बड़ी आँखों में न मालूम कुछ क्या छिपा था, जो उसकी नसों में लहरा गया। उम्र उसकी अठारह

या उन्नीस साल की होगी। वह लम्बी और पतली थी, उस पौधे की तरह जो सीधा बढ़कर पुष्ट होने लगता है। उसका कण्ठ बहुत कोमल और मीठा था, परन्तु वह बहुत कम बोलती थी। उसका साड़ी का आँचल उसकी कमर और छाती पर बहुत ही कायदे से लिपटा रहता था। वह चुप्प थी और हंसी-मजाक तथा गप-सड़ाके में भाग नहीं लेती थी। लेकिन इसके बावजूद उसका चेहरा ऐसी मृदुता से हसता प्रतीत होता कि प्रथम दर्शन में उसको गम्भीर लड़की कहने की इच्छा नहीं हो सकती थी। उसकी प्रकृति-विशेष के कारण ही उसके माँ-बाप उसका विमला नाम रखकर भी उसको लाट नाम से सम्बोधित करते थे।

परन्तु वहाँ आकर मोहन के हृदय में एक ऐसी पीड़ा सिमटकर घनी होती गई, जिससे वह स्तम्भित हो गया। लाट ने उसके जीवन को झकझोरकर रख दिया। उसने आरम्भ में उस प्यार को अपने दिल से उखाड़ फेंकने की चेष्टा की जिसके परिणामस्वरूप उसकी जड़ें और गहरी हो गईं। उसका मन सदा एक मिठास और कोमलता से भरा रहता। लेकिन लाट के सामने वह अपने को बहुत ही तुच्छ समझता, उसको अपने से घृणा हो आती। उसने अभी तक जो-जो ज्याद-तियाँ तथा दुष्कर्म किये थे, उनकी याद छाती पर बोझ की तरह बढ़ती जाती। लाट उसके वर्तमान जीवन को सफेद बादलों के समान इस तरह उठा देती कि उसका पुराना जीवन हीन और व्यर्थ लगने लगता। जहाँ वह यह सोचने लगता कि लाट-जैसी सरल, कोमल, सभ्य और सुसंस्कृत लड़की के लिए वह अयोग्य है, वहाँ उसमें यह कामना भी बलवती हो उठती कि वह अपने जीवन को नये आदर्शों में ढाल लेगा।

लाट के सामने जाते ही मोहन के पैर अशक्त हो जाते। वह निश्चय करके चलता कि वह आज लाट से देर तक बातें करेगा, परन्तु वहाँ पहुँचकर वह व्य-स्तता-पूर्वक कोई दूसरा काम करने लगता या किसी अन्य व्यक्ति से बातें करने लगता। उसके सामने वह अपने को निहायत बौना और घिनौना महसूस करता उसको यह असम्भव लगने लगता कि लाट उससे सम्बन्ध में कुछ सोच भी सकती है। वह अत्यधिक उदास और निराश हो उठता। उस का मुँह शर्म से लाल हो उठता और उसके अन्दर एक व्यर्थ क्रोध उमड़ने लगता। वह कमरे में वापस

आकर अपने को धिक्कारता । लाट से दूर रहकर उससे बात-चीत करना उसे बहुत ही आसान लगता । उसके दिल में पुन: आशाएँ मचलने लगतीं । परन्तु यह तो रोज का किस्सा था, सोचकर वह बहुत ही दुखित हो उठता और उसकी आँखें भर आतीं ।

एक दिन उसने एक विचित्र हिम्मत कर दी । शाम को कोतवाली से आने पर उसने बड़े हाल में प्रवेश किया ही था कि लाट को देखकर ठिठक गया । वह सोफ़े पर बैठी कुछ पढ़ रही थी । मोहन को देखकर वह उठ खड़ी हुई और धीरे-धीरे कमरे के बाहर जाने लगी ।

'जरा सुनिएगा," मोहन ने अत्यधिक लापरवाही और साहस के साथ कहा परन्तु उसका मुँह कान की जड़ों तक लाल हो गया ।

लाट रुक गई । फिर घूमकर उसने मोहन की ओर शान्त दृष्टि से देखा ।

"यह मनीबैग ज़रा अपने पास रख लीजिए । मैं बहुत ही भुलक्कड़ हूँ, इधर उधर रख देता हूँ ।"

लाट की आँखों में एक नासमझी का भाव उभर आया, परन्तु उसने बढ़कर उसके हाथ से मनीबैग ले लिया । फिर घूमकर धीरे-धीरे अपनी चाल से चली गई ।

मोहन परेशान सा उसको देखता रहा । उसके माथे पर पसीने की जो बूँदें छिटक आई थीं, उनको उसने रूमाल से पोंछा । उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि यह क्या और कैसे हो गया । परन्तु वह सहसा चौंक उठा और डर गया । वह कई दिनों से सोच रहा था कि किस तरह से लाट की समीपता वह प्राप्त करे । परन्तु उसको कोई उपाय समझ में नहीं आता था । आज तनखाह मिलने पर वह खुशी से उत्तेजित हो उठा था । वह सम्भावनाओं की कल्पना में उड़ने लगा था । उसको अचम्भा हुआ था कि घनिष्ठता का इतना सरल तरीका उस की समझ में पहले क्यों न आया । उसने मनीबैग में कुछ और कच्चा पैसा रख दिया था । पैसे का यह महत्व वह जानता था कि उसको देखकर किसी का भी हृदय मोम की तरह पिघलने लगता है, उपेक्षा और कठोरता गलकर बह जाती है । उसने मन में यह सोचा था कि लाट अवश्य ही मनीबैग खोलकर उन रुपयों

को देखेगी और उनसे प्रभावित होगी।

लेकिन अब वह सचमुच डर गया था। उसको लगा, जैसे उसने कोई चोरी की हो या किसी सीधे-सादे और पवित्र व्यक्ति का घोर अपमान किया हो। शायद लाट उसकी इस हरकत के छिपे उद्देश्य को समझ गई हो। शायद उसने आँगन में जाकर अपनी माँ के सामने वह मनीबैग पटक दिया हो और क्रोध तथा अपमान में रोने लगी हो। उसने कल्पना में देखा कि लाट की बात से उसकी माँ का मुँह तमतमा आया है। वह झनककर उठ खड़ी हुई हैं। वह अब शीघ्र ही आकर मोहन से कहेंगी कि मैं नहीं जानती थी कि तुम इतने तुच्छ और दुष्ट···

मोहन आगे कुछ न सोच सका और घूमकर बाहर निकल गया। उसके पाँव तेजी से पड़ रहे थे, जैसे वह कोई अपराध करके भाग रहा हो। घोर निराशा तथा कटुता से उसका हृदय परिपूर्ण हो गया था। उसको लगा कि उसका कोई पीछा कर रहा है। साँझ तेजी से गाढ़ी होती जा रही थी। बिजली के लट्टू अचानक जगमगा उठे थे। सामने तारकोल की वीरान सड़क थी, जो साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चाल से दूर निकल गई थी। अब उसने सोचना बन्द कर दिया था। असीम दुःख और व्यथा से उसमें एक अजीब जड़ता भर गई थी।

रात को वह देर से घर लौटा था। आते ही वह चुपचाप कपड़े निकालकर चारपाई पर सो गया था। डॉक्टर साहब के पूछने पर उसने बता दिया कि उसके सिर में दर्द है और वह खाना नहीं खायेगा। उसकी तबीयत ठीक न होने से डॉक्टर चिन्तित और व्यस्त हो गए। उन्होंने घर में सबको इसकी सूचना दे दी। सभी उसका हाल-चाल पूछ गए। अन्त में डाक्टर ने उसको दवा की एक टिकिया खाने को दी और उसको आराम करने की सलाह दी।

परन्तु मोहन को देर तक नींद नहीं आई। अब उसका दिल खुशी से नाच रहा था। लाट तथा उसके माँ-बाप की नाराजी की कल्पना करके उसने बीमारी का बहाना किया था कि वह इस उपाय से उनकी सहानुभूति प्राप्त कर लेगा। लेकिन उसकी आशंका निर्मूल सिद्ध हुई थी। वह लाट का कितना कृतज्ञ था। वह कितनी उदार तथा क्षमाशील है! अब वह अत्यधिक आशान्वित हो उठा।

उसको आज पहली बार ऐसा लगा कि लाट के दिल में उसके लिये कोमल स्थान है, नहीं तो वह उसकी भावना और कमज़ोरी को जानते हुए भी नज़-रन्दाज न करती।···रह-रहकर उसको ऐसा लगता कि लाट उसको छिपकर देख रही है। वह उठकर बैठ जाता, अँधेरे में चारों ओर देखता, फिर मुस्करा कर लेट जाता।

दूसरे दिन उसने ग़ौर किया कि लाट उसको कभी-कभी आश्चर्य से देखती है। मोहन का दिल उस दृष्टि से तेज़ी से धड़कने लगता। उसका मन झूम उठ-ता। वह जानता था कि आश्चर्य का भाव उत्सुकता से ही पैदा होता है। उसके अन्दर कुछ ऐसा है जो लाट जानना चाहती है। यह सोचकर उसको गर्व होता उसको भ्रम होने लगता कि वह अच्छे आचरण का व्यक्ति है और उसमें गुण-ही-गुण हैं। अपने मन की इस हालत में उसको विश्वास ही न होता की उसने अपने जीवन में बहुत-से पाप किये हैं। वह सोचता कि इन छोटी-छोटी बातों के वह बहुत ऊपर है।

एक दिन दफ़्तर जाते समय लाट उसके पास आयी और खड़ी हो गई। वह किसी से कुछ कहने के पूर्व इसी तरह आकर रुक जाती थी। एक क्षण वह अपनी भरी-भरी पलकों को उठाकर देखती थी। फिर उसका कोमल स्वर झरने की तरह फूट पड़ता था।

"मैनीबैग की ज़रूरत तो नहीं है?"

"कोई ख़ास तो नहीं—अच्छा, लेते आइए।" मोहन के स्वर में घबराहट उभर आई थी।

मनीबैग की ज़रूरत न होने पर भी उसने इसलिए ले लिया था कि शाम को वापस करते समय उसको लाट से बातचीत करने का फिर अवसर मिलेगा। फिर वह रोज़ ही ऐसा करने लगा। वह दफ़्तर जाते वक्त मनीबैग मांग लेता और शाम को वापस कर देता। लाट उसकी अभ्यस्त हो गई थी। वह कभी-कभी स्वयं आकर दे देती। मोहन को लगता कि लाट उसका बहुत ख़याल रखती है। इस विचार से ही उसका शरीर सितार के तार की तरह झन-झन कर उठता। वह तब सोचता कि लाट उसको प्यार करती है। इस प्यार का ख़याल

उसको हवा में ऊपर फेंक देता। वह उसको देर तक गुदगुदाता। इस ख़याल से वह मूर्ख की तरह मुस्कराता और दुर्बल हृदय की ख़ूबसूरत स्त्री की तरह रो पड़ता।

परन्तु अपने को काफ़ी रोकने पर भी मोहन अपने दिल से यह भाव न निकाल सका कि मनीबैग की वजह से ही लाट का दिल कोमल हो गया है। इसलिये लाट का दिल जीतने के लिए वह लापरवाही से पैसे खर्च करने लगा। वह शाम को आता तो कभी फल और कभी मिठाई लेता आता। घर के छोटे-छोटे लड़कों के लिए वह महँगे-महँगे खिलौने खरीद देता। उनके कपड़े बना देता। डाक्टर नीरज और उनकी पत्नी मना करते तो वह झूठमूठ नाराज़ हो जाता :

"आप लोग मुझ को बेगाना समझते हैं—"

उसके इस कथन का अनुकूल असर होता, और धीरे-धीरे अपनी इस शाह-ख़र्ची के कारण उसको विश्वास होता गया कि लाट अब उसको प्यार करने लगी होगी। लाट नाराज़ है, इसका कोई सबूत नहीं था। वह अब भी पहले ही की तरह निर्लिप्त लगती थी। वह उसी तरह परिश्रम से काम करती, उसी तरह चुप रहती और उसी तरह शान्त दृष्टि से देखती। लेकिन मोहन सोचता कि लाट अच्छी तरह समझ रही है कि वह क्यों इतना खर्च करता है, और चूँकि वह इस-सबको चुपचाप स्वीकार कर रही है, इसलिए वह अवश्य ही उसको प्यार करती है।

एक दिन वह दफ़्तर से जल्दी आया और घर में आकर कहा कि सभी जल्दी तैयार हो जायें, सिनेमा देखने जाना है।

"अरे बेटा," लाट की माँ ने कहा, "क्यों इतना परेशान होते हो? इतना खर्च करने से क्या फायदा? ये-सब तो सिनेमा देखते ही रहते हैं।"

"माताजी, इसमें परेशान होने की क्या बात है? कोई मैं अपनी जेब से ख़र्च करता हूँ? आप लोगों की दुआ से इतना असर है कि किसी बात की तकलीफ़ नहीं। शहर-भर के लोग मुँह बाए रखते हैं कि किस तरह दारोग़ाजी को

आराम पहुँचाया जाए। रुपये-पैसे की भी यही बात है। रुपया तो हाथ का मैल है, माताजी, आया और गया ! मैं उसकी परवाह नहीं करता। फिर यह तो मेरा घर है। मैं क्या करता हूँ किसी के लिए ? मेरा यह भी अधिकार नहीं कि मैं एक दिन सिनेमा दिखा सकूँ ? रुपया-पैसे मेरे लिए कुछ नहीं—मैं तो स्नेह का भूखा हूँ—" उसका स्वर भरभरा गया।

"अच्छा बेटा, ले जाओ सबको। मैं कुछ कह थोड़े रही हूँ। हम बूढ़ा-बुढ़िया तो नहीं जायेंगे। हाँ, तुम लोग देख आओ।"

लाट वहीं बैठी थी और बातचीत के बीच ही मे उठ कर चली गई थी। मोहन ने समझा कि वह घर के लोगों में यह सूचना फैलाने गई है। वह सभी लड़कों और लड़कियों को तैयार कराने लगा। घर मे खुशी की उत्तेजना का वातावरण फैल गया। मोहन स्वयं उत्साहपूर्वक तैयार हुआ। उसने चाकलेटी रंग का कार्डराय का पेंट और रेशमी क़मीज़ पहनी। जूते पर उसने चमाचम पालिश की। चेहरे पर क्रीम और पाउडर मला तथा कपड़ों में खुशबूदार सेंट लगाया।

वह भीतर आया तो उसको यह देखकर अचम्भा हुआ कि जहाँ सभी तैयार होकर इधर-उधर हिल-डुल रहे थे, लाट पुराने ही वस्त्रों में चारपाई पर चुपचाप बैठी थी। वह आशंकित हो उठा। उसके दिल में एक परेशानी और बेचैनी छा गई। उसने कुछ देर तक इन्तज़ार किया कि लाट शायद अब तैयार होती है। परन्तु वह उसी तरह चुपचाप बैठी रही। चलने का समय नज़दीक आ गया, तो मोहन का धैर्य समाप्त हो गया। निराशा की कटुता से उसकी आँखों में आँसू आ गए। जिसको ले जाने के लिए उसने यह उपाय किया था, वह क्या नहीं जाएगी ?

उसने लाट के छोटे भाई ज्ञान को अलग ले जाकर कहा कि वह जाकर दीदी से तैयार होने के लिए कहे। ज्ञान ने लौटकर बताया कि उसकी दीदी नहीं जाएगी। यह जानकर मोहन का दिल एक अनजान क्रोध और अपमान से भर गया। वह बाहर आकर चुपचाप कुरसी पर बैठ गया। उसके सामने सब-कुछ धुँधला नज़र आ रहा था। उसको लगा कि उसका शरीर उसका न होकर किसी दीन और दुखिया का हो।

"यह ले लीजिये।"

मोहन ने चौंककर देखा, लाट मनीबैग लिये खड़ी थी। आज सवेरे दफ़्तर जाते समय मोहन ने उससे मनीबैग नहीं लिया था। उसने ग़ौर से लाट के चेहरे को देखा। उस पर कहीं भी किसी किस्म का भाव नहीं था। वह सदा की तरह हँसता प्रतीत हो रहा था।

"आप क्यों नहीं चलतीं?" मनीबैग लेकर मोहन ने घबराई-सी, अशक्त वाणी में पूछा।

"तबीयत नहीं है," लाट का स्वर मृदु था।

"चलिए न! वहाँ किसी किस्म की तकलीफ़ नहीं होगी! बालकनी में बैठना है, भीड़-भम्भड़ नहीं रहेगी। सब चल रहे हैं..."

"नहीं, तबीयत नहीं है।"

इतना कहकर लाट घूमकर चली गई। मोहन का चेहरा फ़क़ पड़ गया। वह किसी ऐसे अपराधी की तरह लग रहा था, जिसकी भरी महफ़िल में लानत-मलामत हुई हो। वह लाट के आने पर जिस तरह खड़ा हुआ था, उसी तरह कुछ देर तक खड़ा रह गया।

लाट के इस व्यवहार ने उसको अकल्पित दुःख और निराशा में झोंक दिया। उसको अचम्भा हुआ कि कैसे उसने लाट को लेकर रंगीन सपनों के जाल बुने थे? लाट तो अब भी वैसी ही थी। उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ था। वह अब भी उससे उतनी ही दूर थी। इसका अर्थ है कि उसमें ऐसी कमियाँ हैं, जिनके कारण लाट उस पर विश्वास नहीं कर सकती। बल्कि वह उससे घृणा करती है। इसीलिए तो वह उसके साथ सिनेमा नहीं गई। वह खूब समझती है कि वह एक मामूली दारोग़ा है, जो लोगों के साथ अन्याय करता है और झूठ तथा फ़रेब के सहारे घूस खाकर अपने को शक्तिशाली और सम्पन्न घोषित करता है। उसके-जैसे ढोंगी को लाट-जैसी पवित्र लड़की कैसे प्यार कर सकती है?

मोहन को धीरे-धीरे अपने से घृणा होने लगी। लाट के लिए उसका प्यार ज्यों-ज्यों पुष्ट होता गया, उसकी यह घृणा बढ़ती गई। उसके व्यक्तित्व के दो टुकड़े स्पष्ट रूप से अलग हो गए और दोनों एक-दूसरे का पीछा करने लगे और

अन्त में प्यार करने वाला व्यक्तित्व उस पर हावी हो गया। फिर धीरे-धीरे मोहन ने पुराना जीवन त्याग दिया। अपने प्यार और दुःख और निराशा में डूबने के बाद उभर कर वह कुछ नया ही बाहर आया। उसने शराब पीना छोड़ दिया। कैदियों और बदमाशों के साथ अनुचित सख्ती से पेश आना उसने बन्द कर दिया। वह उनसे मीठा बोलता और अच्छा व्यवहार करता। गाली-गलौज से तो वह कोसों दूर रहने लगा। घूस लेना भी उसने छोड़ दिया। दुख ने उसमें एक सर-लता और पवित्रता भर दी। वह लाट की जैसी कल्पना करता था, वैसा ही वह स्वयं होना चाहता था। वह प्रसन्नतापूर्वक अपने दफ़्तर की ड्यूटी करता। उस के परिश्रम तथा परिवर्तनों को देखकर सभी अचम्भा करते। वह प्रसन्न रहता। और ज्यों-ज्यों उसकी प्रेम की व्यथा बढ़ती गई, उसकी यह प्रसन्नता भी बढ़ती गई, जो दुःख और निराशा को ही महान् उपलब्धि मानने से सम्भव होती है।

धीरे-धीरे उसमें एक अजीब साहस का उद्भव हुआ। यह साहस अपनी योग्यता के एहसास से ही आता है। वह अब लाट की ओर एकटक प्यार से देखता रह जाता। वह उससे विश्वासपूर्वक मृदु स्वर में बोलता। उसको अब घबराहट न महसूस होती। उसकी स्थिति एक समर्पित भक्त की तरह थी, जिसकी आशा और निराशा में कोई अन्तर नहीं होता। लाट उसके इस परिवर्तित व्यवहार से उसको हैरानी-परेशानी से देखती। अब उसके मुख पर कभी-कभी एक रूखाई-सी नज़र आती। वह डरी-डरी-सी लगती। पहले वह मोहन के सामने साहस के साथ आती थी। अब वह उससे बचती रहती। मोहन का प्यार जैसे उसका पीछा कर रहा था।

उस दिन आसमान में काले-काले बादल घिर आये थे। मोहन का दिल एक अकथनीय कोमलता और आकांक्षा से भर आया था। उसको लगा, जैसे आज उसके जीवन की प्रबलतम इच्छा पूरी हो जाएगी। ऐसा प्यारा दिन जैसे इसी-लिए आया हो।

"यह चिट्ठी छोड़ दीजियेगा।"

मोहन ने लाट की ओर मुस्कराती नजर से देखा। उस नज़र में आदर और आकांक्षा के मिले-जुले भाव झिलमिला आए थे। लाट उसकी आँखों में उस

बालक की तरह देखने लगी थी, जो डर कर जालिम और मरखने शिक्षक की ओर दृष्टिपात करता है।

"अच्छी बात है," चिट्ठी लेकर मोहन मुस्कराया।

लाट घूमकर जल्दी-जल्दी चली गई। मोहन लिफ़ाफ़ा लेकर जब बाहर आया तो वह बहुत खुश था। लाट ने विश्वास करके ही उसको पत्र छोड़ने को दिया था, यह सोचकर उसका मन और शरीर हलका हो गया था। उसने उत्सुकतापूर्वक लिफ़ाफ़े पर लिखे पते को देखा, परन्तु वह चौंक गया। उस पर 'श्री विनोद दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली' लिखा देखकर जैसे उसको विश्वास न हुआ कि लाट ने उसको यह चिट्ठी दी हो। परन्तु उसने जल्दी ही उस शंका को दिल से निकाल दिया। उसने सोचा कि विनोद उसके मामा या मौसा का लड़का होगा या कोई नवयुवक चाचा होगा या कोई भाई होगा, जिसको वह नहीं जानता। वह जल्दी ही आश्वस्त हो गया।

लेकिन चिट्ठी छोड़ना वह जैसे भूल गया। वह दफ्तर में पहुँचकर परिश्रमपूर्वक काम करने लगा, जैसे काम के अलावा उसके लिए कोई और चीज महत्वपूर्ण हो ही न। दिन-भर वह काम करता रहा। और जब काम का समय खतम होने को आया तो उसने झट जेब में से लाट का लिफ़ाफ़ा निकाला, उसको फाड़ा और उसमें की चिट्ठी निकालकर इस तरह पढ़ने लगा, गोया दफ्तर का कोई महत्वपूर्ण कागज़ हो।

मेरे...

मैं बहुत दुःखी होकर यह चिट्ठी लिख रही हूँ। मुझे इधर ऐसा लगता है कि मैं एकदम निस्सहाय हूँ। मैं जानती हूँ कि मेरे उस दिन के व्यवहार से ही नाराज़ होकर तुम एक साल से इधर नहीं आये हो। परन्तु तुम्हारी उपेक्षा करके ही मैं अपने को समझ सकी हूँ।...तुम जानते हो, मैं तुमको प्यार करती हूँ... इस दुनिया में केवल तुमको प्यार करती हूँ। क्या तुम एक बार नहीं आओगे? तुम्हारे जिस प्यार को मैं अस्वीकार करती रही, वही प्यार मुझे इधर झकझोरने लगा है...

मोहन की आँखों के सामने नीचे के अक्षर धुंधलाते गए। पत्र पढ़कर उसने

उसको मोड़ दिया और दराज में से नया लिफ़ाफ़ा निकाल कर उसमें डाल दिया। फिर उस पर लाट की लिखावट की नकल करके वहीं पता लिख दिया। अन्त में इस तरह बैठ गया, जैसे वह एक काम से निश्चिन्त हो गया। फिर शीघ्र ही वह उत्साहपूर्वक उठ खड़ा हुआ। बाहर जाकर रेस्तराँ में बैठ गया और चुपचाप चाय पीता रहा। फिर जब रात हो आई, वह देर तक सड़क की वीरान सड़कों पर निरुद्देश्य टहलता रहा।

वह लगभग दस बजे मकान पहुँचा। डाक्टर नीरज बरामदे में टहल रहे थे।

"अरे, तुम कहाँ रह गये थे, बेटा ?" उत्साहपूर्ण स्वर में पूछा।

"यूँ ही एक काम पड़ गया था। इधर काम बढ़ गया है। कोतवाल साहब कहते है कि मुझे कोतवाली में ही रहना पड़ेगा। मैं कल चला जाऊँगा।"

उसका स्वर शान्त और दृढ़ था। उसके होंठों पर एक हलकी मुस्कराहट ऐंठ गई थी। उसकी आँखें जल रही थीं।

नफरत की मौत

कुलभूषण

अगर यह कहा जाये कि लिखना आपका खानदानी पेशा है तो ग़लत नहीं होगा। आदरणीय सुदर्शन जी की साहित्यिक उपलब्धियों से कोई काफ़िर ही इन्कार कर सकता है। आप उनके सुपुत्र हैं। जन्म १६२१ को बटाला (पंजाब) में हुआ। शिक्षा लाहौर, कलकत्ता और बम्बई में हासिल की। अंग्रेजी में लिखना शुरू किया, मगर जल्दी ही हिन्दी की ओर उन्मुख हो गये। अनेक अफ्रो-ऐशयाई तथा योरूपी देशों का भ्रमण कर चुके हैं। 'यात्रा संस्मरण' पर एक वृहद पुस्तक 'अनेक देश : एक इन्सान' भी लिखी है। 'सपनों का टुकड़ा' तथा 'पगडंडी और परछाइयाँ' नामक दो कहानी संग्रह भी निकल चुके हैं।

कुल भूषण साहब का वहम करने में जवाब नहीं। हावी ? फोटोग्राफी है, मगर अपनी तस्वीर आज तक नहीं उतारी। गालिब के (अगर यह शेर गालिब का है) इस शेर की तफ़सीर नज़र आते हैं—

"एक हम हैं कि लिया अपनी ही सूरत को बिगाड़।
एक वह हैं जिन्हें तसवीर बना आती है ॥"

ग्रान की ग्रान में ख़बर चारों तरफ़ फैल गई। गली में, मुहल्ले में, पनवाड़ी की दुकान पर, मोदी की मसनद पर—सभी जगह केवल एक ही चर्चा थी। दबी ज़बान में, माथे पर बल लाकर, ग्राँखों में विषाद का एक हलका सा स्पर्श लिए, हाथों की उँगलियों में बेचैन सी हरकत के साथ।

"तुमने सुना ? चन्द्रप्रकाश ने—"

"हाँ भई, सुनकर सुन्न रह गया। सपने में भी ख़याल न था कि..."

"सपने की बात ग्रब कहाँ रही ? बीवी ग्रौर बिचारे छोटे-छोटे बच्चे..."

"बीमा कम्पनी में नौकर था वह—"

बम्बई के एक विशाल मार्ग पर ग्रशोक बीमा कम्पनी की ग्रालीशान इमारत की पाँचवीं मंजिल पर लिफ़्ट की उड़ान एकाएक रुक जाती, जैसे बादलों की ऊँचाइयों पर पहुँच कर पंछी रुक जाता है। ग्रौर लोगों की भीड़, क्लर्कों ग्रौर ग्रफ़सरों ग्रौर बीमा कराने वालों का जमघट पाँचवीं मंजिल पर लिफ़्ट में से ऐसे बह निकलता जैसे रुके बाँध के खुल जाने से पानी। दौड़ते हुए क्लर्क, हाथों में रोटी की पोटलियाँ थामे, सिर पर तेल से मैले हैट संभाले, टूटी जूतियों में लैस थके पाँव बढ़ाते ग्रपनी-ग्रपनी जगह पहुँच जाते। ग्रालीशान इमारत, उड़ती लिफ्ट, चौड़ा रोशन हाल ! ग्रौर फिर पुरानी फ़ाइलों से भरे छोटे से मेजों पर बैठ जाते। चुँधियाई ग्राँखों से सुबह की डाक देखते। कितना काम है ! ग्रौर फिर पाँच मिनट के लिए वे इकट्ठे होकर हँसी ठट्ठा करते, मज़ाक करते। पीले-काले दाँत पतले-लम्बे होटों से निकल कर ग्रपनी झलक दिखाते ग्रौर फिर दिन भर के लिए उदासीनता में खो जाते।

मगर ग्राज दफ़्तर में एक ग्रजीब सूनापन था। काम वैसे ही चल रहा था

जैसे रोज़ चलता है। कलमें वैसे ही तेज़ चल रही थीं जैसे घुड़दौड़ में हारने का डर लिए घोड़े दौड़ते हैं। एग्रर-कंडीशन की हवा वैसी ही सर्द थी जैसे बर्फ़ीली पहाड़ियों से आने वाले झोंके। घंटियाँ भी बज रही थीं और टाइपराइटर की खटखट भी बदस्तूर आ रही थी। मगर फिर भी दफ़्तर आज सूना-सा, ख़ामोश-सा था, जैसे दम साध रहा हो—जैसे ठंडी हवा एग्रर-कंडीशन के यन्त्र से नहीं, यमदूत के देश से आ रही हो!

चन्द्रप्रकाश अवस्थी की मेज़ आज ख़ाली थी। फ़ाइलें वहाँ वैसी ही पड़ी थीं जैसे रोज़। रोटी का बंडल और काले कवर की कापी भी वहीं धरी थी जहाँ आज सुबह उसने रखी थी। मगर डाक वहाँ नहीं थी। वे रजिस्टर भी नहीं थे जिनमें से देख कर वह बीमा कराने वालों को बीमा अदा करने के नोटिस भेजता था। रसीदों का पुलिंदा भी नहीं था जिसमें से एक निकाल कर, टिकट चिपका कर वह अफ़सर को दे आता था ताकि दस्तख़त करके रसीद डाक से रवाना कर दी जाए।

मगर फिर भी चन्द्रप्रकाश चारों तरफ़ था। पाँचवीं मंजिल के दफ़्तर का कोना-कोना चन्द्रप्रकाश अवस्थी का नाम पुकार रहा था। जोशी और घोरपड़े और कुलकर्णी और देसाई, सभी के दिल-दिमाग़ में चन्द्रप्रकाश था। उसकी शक्ल, उसकी आवाज, उसका अस्तित्व था—

...चन्द्रप्रकाश रोज़ सुबह वक़्त से दस मिनट पहले दफ़्तर पहुँच जाता था। रूमाल से झाड़ कर अपना मेज साफ़ करता, फ़ाइलें तरतीब से चुनता, स्याही की दवात भरता, कलम की निब साफ़ करता। सभी काम वह ऐसे नियम से करता था कि उसके साथी कभी-कभी उसे इस बात पर चिढ़ाते थे। मगर उत्तर में वह केवल मुस्करा देता और बस!

पतला पीला चेहरा था उसका। पतली नाक व पतले होंट। सुस्त सोई हुई आँखें। मगर कभी कभी कुलकर्णी और देसाई और घोरपड़े और जोशी ने इन्हीं सुस्त आँखों में एक ऐसी चमक देखी थी, जैसे अँगारों की दहक हो। और ऐसे समय वे उससे किनारा कर लेते थे, क्योंकि वे जानते थे इसका मतलब क्या है। आँखों की चमक का अर्थ था कि वह इस दुनिया में नहीं है, कहीं और है—

विचारों की दुनिया में बहुत दूर भटक रहा है जहाँ से वापस आकर वह चिड़-चिड़ा हो जाएगा, उन पर बिगड़ उठेगा, बरस पड़ेगा ।

दोपहर की छुट्टी के समय, एक और दो बजे के बीच, वह दूसरों की तरह सब में बैठ कर गप्पें नहीं लगाता था । एक प्याला चाय लेकर चुपचाप एक कोने में बैठ जाता और घर से लाई हुई रोटियों की पोटली खोलकर उन्हें धीरे-धीरे चबाने लगता । जब खा चुकता तो चाय पी लेता और फिर हाथ पोंछ कर, रूमाल से मुँह साफ़ करके वह अपनी काले कवर की कापी पर झुक जाता ।

चारों तरफ़ क्लर्कों की चीख़ पुकार होती, हँसी मज़ाक़ और चुगलियाँ होतीं । मगर इन सबकी उसे कुछ भी खबर न होती थी । वह कापी पर झुका कलम से उसमें लिखता रहता, जब तक कि सारी भीड़ छँट न जाती । अकेला बैठा वह लिखता रहता और तब तक कैन्टीन का रामा आकर अपनी सफ़ेद गंदी निकर पर हाथ पोंछता हुआ उससे कहता, "सेठ, टाइम हो गया सेठ !"

और तब चौंक कर चन्द्रप्रकाश उठ खड़ा होता । लंबे-लंबे डग भरता वह अपनी मेज़ पर जा पहुँचता और एक बार फिर काम में जुट जाता…

ऐसे आदमी से भी किसी को लगाव हो सकता है, यह समझ के बाहर की बात थी । मगर आज उसकी मेज़ खाली थी और घोरपड़े को ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे जीवन से कुछ उठ गया है । जोशी को लग रहा था जैसे किसी समय भी चन्द्रप्रकाश बाहर से लौट आएगा । देसाई सिर उठा कर देख रहा था कि काली कापी के पीछे चन्द्रप्रकाश तो नहीं बैठा है ।

और रह रह कर सभी के दिमाग़ में एक ही बात आ रही थी । नहीं, चन्द्रप्रकाश अवस्थी ऐसा काम नहीं कर सकता । वह तो बहुत सरल, बहुत शाँत, बहुत अच्छा आदमी था । उसे यहाँ एक सौ रुपया महीना मिलते थे और पचास रुपए वह फ़र्नीचर की दुकान का हिसाब लिख कर कमाता था । एक सौ पचास में आदमी चैन की बँशी बजा सकता है । फिर उसने यह क्यों किया ? क्यों ?

: २ :

यही बात उसके मित्र पूछ रहे थे । एक दूसरे से भी, अपने दिल से भी ।

जिस चन्द्रप्रकाश अवस्थी को वे जानते थे, वह बहुत खुशमिजाज आदमी था। जब वे इकट्ठे होते तो वह बिना मजाक के कोई बात न करता। किसी की टाई को लेकर, किसी के बोलने के ढंग को लेकर—वह हर एक की कोई न कोई विशेषता अवश्य ढूंढ़ निकालता और उसकी नक़ल उतारता।

एक बार वे चारों पिकनिक पर गए। अनन्त करमारकर जो गिरगाँव के एक प्रेस का मैनेजर था; अमूल्य दास जो एक फ़िल्म डायरेक्टर का सहायक था; रामचन्द्र जो प्रसिद्ध हिन्दी लेखकों व कवियों की कृतियों को टाइप करने का काम करता था; ये तीन और चौथा चन्द्रप्रकाश। पाँचवीं एक लड़की थी—अमूल्य दास की एक फ़िल्मी सहेली मिस मालती। लम्बा छरहरा बदन, चंचल आँखें, गोरा रंग। लाल चोली और नीली जार्जट की साड़ी—लाल होंठ और नीली आँखें!

अनन्त करमारकर की याद में वह दिन आज भी उतना ही स्पष्ट है जितना एक घण्टा पहले देखा चलचित्र। रह-रहकर चन्द्रप्रकाश की आँखें मिस मालती की तरफ़ उठ जातीं और मिस मालती मुस्करा कर उसकी तरफ़ देखती या बालों का गुच्छा उँगली पर लपेट कर उसे खोंसती हुई गुनगुनाने लगती, तो चन्द्रप्रकाश का चेहरा एकाएक शर्म से लाल हो उठता और वह रेल की खिड़की से बाहर देखने लगता।

बसीन के स्टेशन पर उतर कर जब वे किले के लिए बस में बैठे, तो करमारकर चन्द्रप्रकाश की बगल में बैठा। मिस मालती अमूल्य दास के साथ बहस में लगी थी कि टाइरन पावर अच्छा अभिनय करता है या गेरी कूपर? मौका खोजकर करमारकर चन्द्रप्रकाश से बोला, "क्यों यार, तुम्हें क्या हो गया है आज?"

"क्यों?" हैरान होकर चन्द्रप्रकाश ने पूछा, जैसे कुछ जानता ही न हो।

"वैसे ही। कुछ सिट्टी पिट्टी भूलते दिखाई दे रहे हो।"

चन्द्रप्रकाश ने हैरान होकर अपने चारों ओर देखा। बोला, "अरे हाँ यार, ठीक कह रहे हो। खाने के सामान के साथ जो सिट्टी पिट्टी थी, सो तो गाड़ी

ही में रह गई। पहले याद करा देते, तो तुम्हारा क्या बिगड़ जाता ? अब क्या होगा ?"

अंतिम वाक्य उसने इस गंभीरता से मुँह बनाकर कहा कि बरबस करमारकर को हँसी आ गई। देर तक दोनों मित्र एक दूसरे की आँखों में झाँकते हुए मुस्कराते रहे।

जंगल में से गुज़र कर अब उनकी बस एक गिरजे की ओर बढ़ रही थी—सफ़ेद पुता हुआ भव्य गिरजा।

"यह गिरजा देखते हो ?" करमारकर ने कहा। बस सर्र से गिरजा को पीछे छोड़ती हुई आगे बढ़ गई। गिरजे के फाटक पर एक पादरी खड़ा एक गोआनी लड़की से बातें कर रहा था। पादरी के हाथ में बाइबल था, जिस पर उसकी उँगलियाँ प्यार से फिर रही थीं।

"बाइबल का व्यापार !" करमारकर ने व्यंग्य कसा। "पादरी का हाथ बाइबल पर है—आँखें लड़की पर हैं—पाँव केले के बागों की उपजाऊ ज़मीन पर हैं !"

"क्या मतलब ?" चन्द्रप्रकाश ने पूछा।

"तुम नहीं समझोगे," कहकर करमारकर चुप हो गया।

बस छोड़कर वे पैदल चल पड़े। रामचन्द्र एक धुन गुनगुनाने में मस्त, फलों की टोकरी उठाए आगे आगे चल रहा था। अमूल्य दास करमारकर के साथ बातें कर रहा था। चन्द्रप्रकाश मिस मालती के साथ अकेला था।

पीले और हरे केलों के बाग उनके दोनों ओर थे। सड़क घूमती, चक्कर खाती, बागों को काटती चली जा रही थी। धूप तेज़ थी और हवा ठंडी और समुद्र के पानी से भरपूर ! मालती चन्द्रप्रकाश के साथ क़दम बढ़ा रही थी।

रास्ते में न जाने क्या बातें हुईं इन दोनों में। मगर बाद में रामचन्द्र ने पाया, मिस मालती और चन्दप्रकाश किले की पुरानी दीवार पर बैठे समुद्र की लहरों पर डूबती उतराती किश्तियों को देखते हुए पुर्तगाली साम्राज्य के आरम्भ और उत्थान की बातें कर रहे हैं। जब वह उनके पास पहुँचा, तो चन्दप्रकाश के कुछ वाक्य उसके कानों में पड़े। वह कह रहा था, "मैं जरूर खोज करूँगा।

हो सका तो इस विषय पर लिखूंगा भी। कितना अच्छा साथ है—बाइबल और पिस्तौल !"

खाने के बाद पाँचों साथ-साथ बैठ गए। किले के अन्दर टूटे हुए गिरजे की दीवारें मानो भगवान् की तरफ़ नंगे हाथ उठाए प्रार्थना कर रही थीं। चन्द्रप्रकाश ने कहा, "ज़रा सोचो, किसी समय यह गिरजा शान से खड़ा होगा और इसमें पुर्तगाली सिपाहियों का विवाह अपनी पुर्तगाली प्रेयसियों से हुआ होगा। अपने देश से बहुत दूर, मगर अपने बेड़े के बिल्कुल पास ! पुर्तगाल के सेवक और भारत दुश्मन इन सिपाहियों का जीवन भी कैसा रहा होगा !"

"हाँ !" अमूल्य दास ने गहरी साँस खींचकर कहा। "न जाने उन पुर्तगाली लड़कियों ने क्या-क्या नाज़-नख़रे किए होंगे अपने पतियों के साथ !"

एकाएक चन्द्रप्रकाश उठकर खड़ा हो गया। पीठ को अन्दर करके, सीना बाहर निकाल कर, एड़ियाँ उठाकर उसने एक-दो चक्कर लगाए, और फिर विदेशी ढंग से हाथ झटककर पतली आवाज़ में बोला, "ऐसा नहीं मैन ! ऐसा लव हम नहीं लाइक करता !"

मिस मालती ने ताली बजाकर बढ़ावा दिया और सभी दोस्तों ने दाद दी। फिर क्या था ? चन्द्रप्रकाश ने नकल उतारना आरम्भ कर दिया। बोला, "जानते हो, महाराष्ट्रियन आदमी कैसे प्रेम करते हैं ?"

"कैसे ? बताओ ? " एक स्वर में सब बोल उठे।

चन्द्रप्रकाश ने आगे बढ़कर मिस मालती का हाथ पकड़ लिया। सारे मित्र हैरान होकर देखते रह गए, मगर चन्द्रप्रकाश को ज़रा झेंप महसूस न हुई। उस ने चहलकदमी करते हुए कहा, "ऐ (इधर आना !)

सब खिलखिला कर हँस पड़े क्योंकि उसका हाथ अभी तक मिस मालती की कमर में ही था। तब कमर छोड़कर चन्द्रप्रकाश पीछे हटा और पाँव फैला-कर खड़ा हो गया। बोला, "तू फार सुन्दर चांगली पोरी आहेत !" (तू बहुत सुन्दर व अच्छी लड़की है !)

और फिर उसने कहा, "गुजराती लड़की शृङ्गार कैसे करती है, यह भी देखिए—"

घास पर पालथी मारकर चन्द्रप्रकाश बैठ गया। नज़ाकत से उसने नाखून काटने का अभिनय किया, बालों में कंघी करने का मूक नाटक किया और फिर शीशा देखने की बजाय हथेली को देखकर उसने आँखें नीची कर लीं, जैसे षोड़षी अपने रूप पर आप ही लजा रही हो।

कितना खुश-तबियत था चन्द्रप्रकाश! कोई उसका साथ पाकर भी उदास रहे, यह असंभव था। सब मित्र उससे मिलने को लालायित रहते थे। यह और बात थी कि वे सब के सब सावित्री से डरते थे और इसलिए चन्द्रप्रकाश के घर के पास भी न फटकते थे। चन्द्रप्रकाश बसंत था, सावित्री पतझड़; चन्द्रप्रकाश सूरज था, सावित्री तूफ़ान की बदली।

मगर फिर भी मित्रों को चन्द्रप्रकाश पर भरोसा था। उन्हें विश्वास था कि आख़िरी जीत चन्द्रप्रकाश की होगी, सावित्री की नहीं। चन्द्रप्रकाश क्लर्क था, मगर वह लेखक भी था, अभिनेता भी था, कलाकार भी था। फ़ाइलों से ऊब-कर वह अक्सर दोस्तों के बीच गपशप करते हुए कहता, "एक दिन मैं लेखक बनूँगा। कहानियाँ लिखूँगा। मेरी कहानियों पर फ़िल्मे बनेंगी। तब इन फाइलों से मुझे सदा के लिए मुक्ति मिल जाएगी।" और दोस्त उसकी दाद देते। एक दो प्लाट उसने एक दिन अमूल्य दास को सुनाए थे और उन्हें सुनकर अमूल्य दास ने कहा था 'जब मैं डायरेक्टर बनूँगा, तो मेरी पहली फिल्म की कहानी चन्द्रप्रकाश लिखेगा!"

तभी तो चन्द्रप्रकाश ने अपना उपनाम भी रख लिया था। चन्द्रप्रकाश अवस्थी 'शाँत'! जब भी उसे समय मिलता, अपनी कापी लेकर वह लिखने बैठ जाता और पन्ने पर पन्ने काले करता चला जाता। न जाने क्या-क्या उसने लिखा? काले कवर की कापी उसके एक मित्र ने भी पढ़ी थी। चन्द्रप्रकाश ने पढ़ने ही न दी थी। कहता था, "नहीं, जब प्रकाशित होगी, तभी तुम इसे पढ़ सकोगे। उससे पहले नहीं।"

और आज से एक ही महीना पहले तो उसने रामचन्द्र को बुलाकर एक पुलिंदा देते हुए कहा था, "यह मेरी पहली कहानी है। इसे टाइप कर दो।"

रामचन्द्र ने हाथ बढ़ाकर कहा था, "जरूर ! यह भी कोई कहने की बात है!"

मगर चन्द्रप्रकाश ने हाथ खींच लिया था, "पहले वादा करो, इसके बारे में किसी को भी न बताओगे ।"

रामचन्द्र ने हैरान होकर उसकी तरफ देखा । चन्द्रप्रकाश को ऐसी गम्भीर मुद्रा में उसने आज तक न देखा था । बोला, "कैसी बातें करते हो, चन्द्रप्रकाश ! क्या आज तक कभी मैंने तुम्हारे कहे को मोड़ा है ?"

और दो दिन बाद ही रामचन्द्र ने वह कहानी बढ़िया से बढ़िया हरे काग़ज़ पर टाईप करके उनके हवाले कर दी थी । यह देखकर रामचन्द्र का दिल पसीज उठा था कि काग़ज़ों को लेते समय चन्द्रप्रकाश के हाथ काँप रहे थे । बेचारा चन्द्रप्रकाश ! किस बुरी तरह जकड़ा पड़ा था वह, और कैसी तमन्ना थी उसे कि इस जाल को तोड़कर भाग खड़ा हो ! मगर भागने के लिए कलेजे की ज़रूरत होती है—और चन्द्रप्रकाश का कलेजा ऐसा मजबूत न था कि···

: ३ :

जिस मकान में चन्द्रप्रकाश रहता था, उसमें कुल मिलाकर बारह किराए-दार थे । हरएक के पास एक कमरा और एक रसोईघर था । दोमंजिला पुराना, लकड़ी और ईंट का मकान । छतें धुएँ से काली, दीवारों पर पलस्तर जगह-जगह से उखड़ा हुआ । तीसरी मंज़िल के आखिरी कोने में चौथा कमरा उसका था जिसमें वह खुद, सावित्री और उनके दो बच्चे सुरेखा और पवन रहते थे । उन के कमरे के पीछे रसोई थी, और बगल में गुसलखाना और टट्टी, जो चारों किराएदार साझे में इस्तेमाल करते थे ।

इन बारह किराएदारों में से पाँच किराएदार गुजराती थे—काठियावाड़ के बनिए जिनकी शहर में छोटी-छोटी दुकानें थीं । एक गुजराती हीरालाल सेठ की भजिए की दुकान थी, जहाँ वह मिठाई भी बेचता था और पारले का गोल्ड स्पाट भी । नगीनभाई झवेरी की कालबादेवी रोड पर एक अँधेरी-सी कोठरी थी, जहाँ वह चाँदी के गहने बनाता और बेचता था । बाकी तीन भाई थे, जो मिलकर ग्राँट रोड पर दवाइयों की एक दुकान चलाते थे ।

एक मारवाड़ी था, जो सट्टे का व्यापार करता था और दोपहर के बारह बजे से पहले घर से न निकलता था। एक अखबार में काम करने वाला झाँसी का रहने वाला नवयुवक था, जो रात को काम पर जाता था और दिन भर सोता था।

सबसे नीचे के चारों कमरों में चार दुकान थीं। एक लाण्ड्री थी, एक होटल, और बाकी दो में दूध के भैंडये रहते थे।

इन सब में से एक भी ऐसा न था जिसने कभी चन्द्रप्रकाश को नाराज़ या तेज होते देखा हो। सात बरस से यह भला आदमी इस मकान में रह रहा था। जब पहले पहल ब्याहकर सावित्री को यहाँ लाया, तो सबकी औरतें एक बार उसके यहाँ हो आईं। हीरालाल सेठ की मोटी सेठानी, नगीनभाई की सूखी काली सुनारिन, और दवाइयों की दुकान की मालिकन। तीन जवान बेटों की माँ नन्दीबाई अपनी तीनों बहुओं समेत। सभी नई बहू को देख आईं।

मगर सावित्री ने बहनापे का यह आमन्त्रण स्वीकार न किया। न उसने किसी की आवभगत की और न किसी के यहाँ कभी गई। बस अपने कमरे में बैठी वह सोचती रहती, काम करती रहती, कुढ़ती रहती। और जब आते-जाते कभी किसी से उसकी मुठभेड़ हो जाती, तो वह अभिवादन के जवाब में केवल सिर हिलाकर आगे बढ़ जाती।

दूध की दुकान के मालिक अंगरू ने जब यह खबर सुनी, तो उसने सिर हिलाकर मुँह से कुछ शब्द किया। उस समय वह दोपहर के दूध का डोल भर रहा था ताकि जाकर अपने गाहकों को दे आए। दूध के फेन को मिलाते हुये, अँगोछे से अपने नंगे काले बदन का पसीना पोंछते हुए उसने अपनी मूँछें ऊपर को उमेठ दीं।

बाबू तो अच्छा था। फिर क्यों उसने ऐसा काम किया? वही बात होगी। वही उसकी मेहरिया! कितनी तीखी थी वह, जैसे लाल मिर्च! दैया रे दैया! भगवान् ऐसी मेहरिया से बचाए। उसकी अपनी गंगो कितनी अच्छी है। कितनी सेवा करती है उसकी। जब भी वह गाँव जाता है, चारों पहर उसके पीछे घूमती रहती है। और एक यह भी मेहरिया है...

खैर, मगर बाबू तो अच्छा था। रोज सुबह घर से नीचे उतरकर वह अपनी रोटी की पोटली और काली कापी सँभालता। और आज भी जब वह नीचे उतरा था, तो उसकी दुकान के सामने आकर देर तक खड़ा आसमान की तरफ़ देखता रहता था। फिर जब कौवे काँव-काँव करते हुए बिजली के खम्भे से उड़े गए, तो बाबू ने ज़ोर से पत्थर को ठोकर मारी थी। और फिर गहरी साँस लेकर वह अपने रास्ते पर हो लिया था।

कभी किसी को उसने कष्ट नहीं दिया। किसी भी बच्चे को रोते देख कर उसने किनारा नहीं किया। कभी किसी की लड़ाई में उसने दखल नहीं दिया। बस, उसे तो अपने काम से काम था। सुबह चुपचाप घर से निकल कर अपने रास्ते हो लेता; और जब वापस आता तो बिना आहट किये चुपचाप घर के अन्दर चला जाता।

भलामानस था बिचारा।

मकान में रहनेवाले सभी किराएदारों का भी यह ख़याल था। उसका पतला बदन, उसकी शरीफ़ आँखें उसकी बच्चों से बोलचाल—सभी इसी तरफ़ संकेत करते थे कि वह भला आदमी है।

मकान में रहने वाली सभी औरतों का यही खयाल था। और उनका दूसरा खयाल यह था कि बाबू की औरत बड़ी तेज़ है। बल्कि वह औरत नहीं डायन है। अपने बच्चों को किस बुरी तरह मारती है! पति के साथ कितनी बदसलूकी करती है! बिचारे का जीना हराम कर रखा है! और कोई होता तो कभी का भाग खड़ा होता—मगर बाबू है कि—

: ४ :

अपने स्वभाव की कटुता का ज्ञान सावित्री को भी था। रात के तीसरे पहर कभी उसकी आँख खुल जाती, तो छत की कड़ियों की तरफ़ देखती हुई वह देर तक इस उधेड़बुन में लगी रहती कि कैसे वह अपने आपको बदल सकती है? क्यों वह इतनी कठोर है? क्यों वह हर समय रोती कलपती रहती है और दूसरों को भी कलपाती है।

और फिर अनायास वह उठकर बिस्तर पर बैठ जाती। धीरे से चारपाई

पर से उतरकर वह अपने पति के पास खड़ी उसके सोते हुए चेहरे को देखती रहती। लट माथे पर उलझी हुई, हाथ चादर पर कसे हुए, चेहरे की नसें तनी हुई — जैसे किसी से झगड़ रही हों। उन्हें ऐसे देखकर बरबस उसका दिल प्यार मे छलक उठता। और वह चाहती— कसकर उन्हें छाती से लगा ले। दुलार से उनकी तनी हुई नसों को ढीला कर दे। विषाद से भरे चेहरे को स्निग्धता में डुबो दे।

मगर वह चुपचाप खड़ी देखती रहती और उसका दिल अन्दर ही अन्दर चीत्कार करता रहता।

फिर वह अपने विचार झटक कर बच्चों के पास जाती। पवन, जिसे वह पप्पू कहकर पुकारती थी, दाहिनी तरफ़ करवट लिए सो रहा है। एक हाथ जाँघों के बीच, एक हाथ आँखों पर। कितना प्यारा लगता है उसके कलेजे का टुकड़ा ! कल वह खेलते-खेलते सीढ़ी से गिर पड़ा था। घुटनों पर घाव अब भी ताज़ा है। हाथ बढ़ाकर सावित्री उसके मुखड़े का स्पर्श करती। उसका घुटना सहलाती और फिर चादर उढ़ा देती।

पास ही जमीन पर सुरेखा सोई होती। कितनी बड़ी हो गई है यह ! छः वर्ष की है, मगर दस से कम की नहीं लगती। लम्बी और पतली, मुँह पर फुड़ियों के दाग़। न जाने क्यों, सावित्री हमेशा इस पर बिगड़ती रहती है। कल ही इसने खाना नहीं खाया, खेल में लगी रही। खाना ठण्डा हो गया, तब आई। सावित्री ने इसे बुरी तरह से पीटा कि इसकी चीखें सारे पड़ोस में गूँज उठीं। पड़ोस की एक-दो औरतें उनके कमरे के सामने से गुज़रीं, मगर किसी की हिम्मत नहीं पड़ी कि सावित्री का हाथ रोकले।

और बाद मे जब सावित्री ने सुरेखा से खाने को कहा, तो उसने नहीं खाया। वहीं ज़मीन पर पड़ी-पड़ी वह सो गई, तो सावित्री ने धीरे से उठा कर उसे बिस्तर पर लिटा दिया।

"तू कहना क्यों नहीं मानती, सुरेखा ? क्यों माँ की झिड़कियाँ सुनती है ? क्यों मार खाती है ?

मगर माँ के दिल की इस आधी रात की पुकार को सुरेखा न सुन पाती

और माँ व बेटी के बीच की खाई वैसी की वैसी बनी रहती।

लौटकर सावित्री फिर अपने बिस्तर पर लेट जाती। रात का सन्नाटा उसके चारों तरफ मँडराता रहता। और उसके पुराने दिन, उसके सात वर्ष पहले के जीवन की रेखाएँ उसके सामने उभरती जातीं और उभरकर मिटती जातीं

उसका शहर शिकोहाबाद, जहाँ वह पलकर जवान हुई। उसके पिताजी की वकालात, उसकी माँ का वात्सल्य, उसका लछमीदेवी का स्कूल ऊँची दीवारों से घिरा। शिकोहाबाद की गलियाँ, जहाँ वह खेली। नया बाजार और बड़ा बाजार की रौनक, जहाँ लाल अँगोछा ओढ़े, बाँस का डण्डा थामे लुटिया-डोरी लिए आस-पास के गाँवों के किसान चलते फिरते, कपड़ा और मिठाई और पाउडर क्रीम खरीदते नज़र आते।

और पक्के तालाब पर सावित्री का सहेलियों के साथ सैर करने जाना। झाड़ियों में पंछियों का कलरव और गन्दे खड़े पानी पर पीले पत्तों का हवा से थरथराना। और फिर स्कूल की दीवारों के बीच सावित्री के हृदय में कोमल भावों का प्रस्फुटन। हिन्दी के शिक्षक रमेशजी के दूध से सफेद दाँत, उलझे बाल, उजले कपड़े। तर्जनी उँगली पर सूरज की-सी चमक लिए हीरे की अँगूठी —या शायद हीरे की-सी अँगूठी !

फिर उसका पक्के तालाब पर अकेले आना, अकेले घूमना, अकेले इन्तजार करना। इन्तज़ार के दिनों के बाद मिलन की घड़ियों का आगमन, धड़कते हृदय की कसक—और उसकी सहेली चंचल द्वारा पत्र-वाहक का काम !

वह दिन जब रमेश और सावित्री सदा के लिए एक होने वाले थे। वह शीत की सुबह, कुहरे से भरी। कान ढके, शाल लिए, वह खड़ी तालाब के पास इन्तज़ार करती थी। और जब सूरज ऊपर आ गया, कुहरा भाग गया, सफेद आकाश नीला हो गया— तो थकी रुआँसी घर लौट गई। माँ ने बेटी का सफेद मुँह देखा और झट कम्बल उढ़ाकर लिटा दिया।

सावित्री को बुखार चढ़ आया। सफेद बालोंवाले मोटे डाक्टर दुर्गादास

उसे देखने आए और डाक्टर के जाते ही विमला ने आकर उसकी रही सही आशा को भी सदा के लिये समाप्त कर दिया।

"तुमने सुना, गली-मुहल्ले में सभी इसी विषय पर बातें कर रहे हैं ?"

"किस विषय पर ?" सावित्री ने धीरे से पूछा और कम्बल को खींचकर मुँह पर कर लिया।

"चचंल भाग गई है। स्कूल का मास्टर था न—वह रमेश—उसके साथ !"

"क्या कहा ?" सावित्री उठकर बैठ गई। उसकी बुखार से लाल आँखें फैल रही थीं।

"रमेश के साथ ! जानती नहीं ! हिन्दी का मास्टर रमेश !"

औंधे मुँह सावित्री तकिये पर गिर पड़ी और न जाने कितनी देर वह वैसे ही पड़ी रही। विमला न जाने कब उठकर चली गई। मां न जाने कब आकर उसे दवा पिला गई। पिताजी न जाने कब आकर उसका हाल पूछ गए। तकिया न जाने कब आँसुओं से भीगकर सूख गया। मगर जब शाम को उसे होश आई, उसने माँ को बुलाकर केवल इतना ही कहा, "माँ, अब मैं और ज्यादा नहीं पढ़ूँगी। अब मेरी शादी का इन्तजाम कर दो।"

माँ भौंचक्की देखती रह गई। यह लड़की जो पढ़ने की इतनी शौक़ीन थी, जो शादी के नाम पर भी भड़क उठती थी—वह इतनी मुँहफट होकर कह रही थी, माँ, मेरी शादी कर दो। मगर माँ को मालूम न था कि उसकी बेटी के अंतर में इसी क्षण घृणा की उत्पत्ति हो रही थी। मनुष्य मात्र के प्रति नफरत उसके शरीर के कण-कण में करवट ले रही थी—सिर उठा रही थी।...

और रात के अँधेरे में, म्यूनिसिपैलिटी के लैम्प के बाहर से आते हुए झीने प्रकाश में सावित्री अपने बिस्तर पर लेटी सोचती, काश, उसकी शादी रमेश से होती ! काश, रमेश इतना झूठा न होता तो वह यहाँ न आती जहाँ सिवाय नफ़रत और क्रोध के और कुछ भी देने में वह असमर्थ थी ! और सोचते-सोचते, छत की कड़ियों को देखते-देखते, न जाने कब उसकी आँख लग जाती।

उसकी आँख खुलती तो दिन चढ़ रहा होता। चारों तरफ चौका-बासन की खनक होती। बच्चों का रोना होता। उदासी खीज, नफ़रत होती।

: ५ :

सुरेखा की आयु छः वर्ष की थी, लेकिन समझ में वह इससे बहुत बड़ी थी। बचपन से ही जिन्हें शारीरिक व मानसिक यातना का सामना करना पड़ता है, वे अकसर उम्र से पहले ही बड़े हो जाते हैं। उसमें बचपन की वह कोमलता, वह भोलापन, वह अल्हड़पन और सौन्दर्य नहीं रहता, जिससे अनायास हमें भगवान की निर्मल पवित्रता के दर्शनों का आभास मिलता है।

सुरेखा को अनादर उसकी घुट्टी में ही मिला था। शायद एक दो दिन ही उसने माँ का दूध पिया हो। डिब्बे या गाय का दूध पीकर ही वह इतनी बड़ी हुई। माँ की सम्पूर्ण अवहेलना पाकर भी वह ज़िन्दा रही, यह आश्चर्य की बात लग सकती है; मगर जीवन का बुझना जितना आसान है, उतना ही कठिन भी है। तभी तो सुरेखा अब भी ज़िन्दा थी।

मगर सुरेखा के ज़िन्दा रहने का एक कारण था, उसका पापा। उसके पिता का स्नेह उसे सदा प्राप्त हुआ। सारा दिन खाट पर पड़े-पड़े रोने के बाद शाम को पिता की प्यार-भरी बाहों में सदा उसने अपार स्नेह पाया। और जब वह बड़ी हुई, धीरे-धीरे अपने पैरों पर खड़ी होकर डगमग कदम रखने लगी, तो भी पिता जी की प्रतीक्षा की अकुलाहट से उसे रातों को नींद नहीं आई। पापा के आने के बाद, उससे दो चार तोतली बातें करने के बाद, उसके नन्हे दिल का दिन-भर का क्लेश धुल जाता—और फिर वह गाढ़ी नींद सो जाती।

वह चार वर्ष की थी, जब उसके भाई पप्पू का घर में आगमन हुआ। मगर जहाँ सुरेखा को माँ की अवहेलना मिली थी, वहाँ पप्पू को माँ का पूरा प्यार मिला। उसकी छोटी से छोटी जरूरत का माँ खयाल रखती। हर समय उसे दुलराती, पुचकारती, उसका एक मिनट का रोना माँ को अखर जाता। और जब सुरेखा यह देखती, तो उसका दिल घबराहट से भर उठता और अवहेलना की कुण्ठा का बोझ उसके भीतर और भारी हो जाता।

और ऐसे समय जब माँ पापा से क्रोध करती, कुढ़ती, भुनभुनाती तो सुरेखा का दिल पिता के प्रति स्नेह से उमड़ पड़ता। उसका जी चाहता, वह जाकर पिता से लिपट जाए, उसकी गोद में सिर दे दे, उससे ऐसी बातें करे

जिससे उसका क्लेश धुल जाए। मगर माँ की कठोर छाया सदा उसके ऊपर रहती और वह सहमी-सहमी किसी कोने में खड़ी रहती, या सोने का बहाना किए, आँखें मूँदे बिस्तर पर लेटी रहती।

मगर कभी कभी ऐसा दिन भी आता, जब माँ की नफ़रत से भरे घर से बाप-बेटी दोनों निकल भागते। किसी बाग़ में जाकर, तारों भरे आकाश के नीचे, बत्तियों के प्रकाश से दूर, किसी बेंच पर, अथवा घास की मखमली फ़र्श पर दोनों बैठ जाते। और सुरेखा पापा की आँखों में झाँककर मुस्कराती, ताकि घर की बात कुछ देर के लिए वह भूल जाए। और सचमुच पापा के गंभीर मुख पर मुस्कराहट फूट पड़ती।

अपने फ्राक से पैरों को ढँकती हुई वह पूछती, "पापा ये तारे यहाँ से कितनी दूर हैं?"

"बहुत दूर हैं बेटी, इतनी दूर कि अगर कोई रेलगाड़ी साठ मील प्रति घण्टा की रफ़्तार से तारे की ओर चले, तो एक सौ वर्ष में शायद वहाँ पहुँच जाए।"

"अच्छा? पापा, क्या ही अच्छा होता अगर हम वहाँ जा सकते।"

"हाँ, बेटी।"

कुछ देर दोनों मौन बैठे रहते। फिर सुरेखा कहती, "पापा!"

"हाँ बेटी।"

"आज मेरी एक सहेली कह रही थी, हवाई जहाज में चढ़कर आदमी बहुत दूर बहुत जल्दी पहुँच जाता है। क्या यह सच है?"

"हाँ बेटी, हवाई जहाज एक घण्टे में डेढ़ दो सौ मील की दूरी तय कर लेता है।"

"और पापा, यह समुद्र में इतना सारा पानी कहाँ से आता है?"

"जब दुनिया बनी, तभी से समुद्र में पानी है।"

"दुनिया कब बनी, पापा?"

"बहुत देर पहले।"

"समुद्र में पानी खत्म नहीं होता?"

"नहीं बेटी। सूरज की गर्मी से पानी भाप बनता है, भाप से बादल बनते हैं, बादलों से बारिश होती है और पानी ज़मीन पर वापस आ जाता है। पहाड़ों पर वर्षा होती है, तो बर्फ़ बनकर जम जाती है। गर्मियों में यह बर्फ़ पिघलती है, तो नदियाँ पानी से भर जाती हैं—और नदियों का पानी बहकर फिर समुद्र में जा मिलता है।"

इसी तरह बाप बेटी बैठे बातें करते रहते और जब सुरेखा को नींद आने लगती, तो पापा की गोद में सिर रखकर, अपनी नन्ही बाहों में पापा की बाहें लिए, तारों भरे आकाश पर दृष्टि जमाए वह ऊँघ जाती······

: ६ :

न जाने क्यों, मगर दिन के प्रकाश में सावित्री के दिल की नफ़रत ऐसे भड़क उठती, जैसे झंडी देखकर बैल भड़क उठता है।

उदाहरण के लिए, कल दोपहर को जब डाकिये ने एक भारी सा पीले रंग का लिफ़ाफ़ा सावित्री के हाथ में दिया, तो उसका दिल खीझ और कड़वाहट से भर उठा। लिफ़ाफ़े में चद्रप्रकाश की कहानी थी, जिसपर एक छोटा-सा अस्वीकृति-पत्र टँका था—"आपकी रचना सधन्यवाद लौटाई जा रही है, क्योंकि हम इसका उपयोग करने में असमर्थ हैं।"

इस कहानी पर चँद्रप्रकाश ने महीनों परिश्रम किया था। बार-बार काटा था, जोड़ा, घटाया था, बढ़ाया था। भेजने से पहले उसने अपने मित्र रामचन्द्र से उसे मोटे हरे कागज़ पर टाइप कराया था। बड़ी आशा के साथ चंद्रप्रकाश ने उसे एक ऐसी पत्रिका के सम्पादक के पास भेजा था, जो उसे बेहद पसंद थी। सावित्री से भी उसने पूछा था, "कहानी ठीक है? क्या यह छप जाएगी?" और सावित्री ने अपने उस कमजोर क्षण में, चन्द्रप्रकाश की दृष्टि में जमी आशा को देखकर कहा था, "हाँ, ज़रूर छप जाएगी।"

पन्द्रह दिन बीत गए और पत्रिका से कोई जवाब न आया, तो चन्द्रप्रकाश ने एक दिन कहा था, "कहानी अभी तक वापस नहीं आई। शायद कहानी छप जाएगी। सचमुच मेरी कहानी छप जाएगी।"

और अब : "कहानी सधन्यवाद लौटाई जा रही है, क्योंकि हम इसका उपयोग करने में असमर्थ हैं।"

यह कहानी का अस्वीकृति-पत्र नहीं था, सावित्री की सारी अभिलाषाओं-आकाँक्षों का अस्वीकृति-पत्र था। उसके अभाव-भरे जीवन की कालिमा के धुलने की एकमात्र आशा का अस्वीकृति-पत्र था। उसके समस्त जीवन की सार्थकता का अस्वीकृति-पत्र था।

सावित्री के होंट सिमट गए, उसका दिल सिमट गया, उसका दिमाग़ सिमट गया और उसके अन्तर में सब कुछ नफ़रत के एक बिन्दु में केन्द्रित होकर रह गया। और ज्यों-ज्यों समय बीतता गया; सेकंड, मिनट और घंटे बीतते गये, यह बिन्दु उसके दिल में गहरा धंसता गया।

शाम के साढ़े आठ बजे जब चन्द्रप्रकाश घर आया, तो सावित्री शान्त थी। गहराई में उथलपुथल हो, तो बाहर जैसी शान्ति होती है, वही सावित्री के मुख पर थी। इससे आध घन्टा पहले पप्पू सो चुका था और सुरेखा बैठी सलेट पर अपना पाठ लिख रही थी—अ, आ, इ, ई, क, ख, ग। थूक से सलेट पोंछकर, पेन्सिल को अपनी अकुशल उंगलियों में पकड़कर वह बड़े ध्यान से लिख रही थी। मगर उसे नींद आ रही थी—आँखें मुँदी जा रही थीं। उसका मन कहीं और था, नहीं तो न जाने कब की वह सो गई होती।

'उठ, सो जा अब !' तीसरी बार सावित्री ने उससे कहा। मगर वह जानती थी, सुरेखा क्यों नहीं सो रही ? वह जाग रही है ताकि अपने पापा को देख सके, उससे बातें कर सके। तभी वह सो सकेगी।

अपने पर काबू करके, बड़े धैर्य के साथ सावित्री ने सुरेखा के सिर पर प्यार से हाथ फेरा। 'उठ बेटा, सो जा अब !' सलेट पकड़कर सावित्री ने एक तरफ़ रख दी और सुरेखा को गोद में ले लिया। कुछ देर थपकती रही, पप्पू को देखती हुई कमरे में टहलती रही—फिर बेटी को बिस्तर पर लिटाकर उसने चादर उढ़ा दी। सुरेखा सो रही थी।

और तब चन्द्रप्रकाश आ गया। कपड़े बदलकर, जूते खोलकर उसने हाथ मुँह धोया, बालों में कंघी की और कुर्सी पर बैठ गया। 'आज बच्चे बहुत जल्दी

सो गए ।'

सावित्री ने कोई जवाब न दिया । कुर्सी और दरवाज़े के बीच जहाँ खड़ी थी, वहीं खड़ी रही ।

चन्द्रप्रकाश ने एक पुस्तक उठा ली जो वह लाइब्रेरी से लाया था । देर तक वह पुस्तक पढ़ता रहा और सावित्री खड़ी रही—केवल सावित्री के हाथ हिलते रहे, उसके दिल का अनिश्चय काँपता रहा, खामोशी दोनों के बीच दीवार बनकर खड़ी रही ।

आखिर सावित्री हिली । 'खाना खा लो' कहकर वह रसोई की तरफ़ चली गई ।

चुपचाप दोनों ने खाना खाया । शब्द सावित्री के होंटों पर आ-आकर वापस चले गये और खाना खत्म हो गया ।

बत्ती बुझाकर दोनों सोने के लिए लेट गए । फिर एकाएक सावित्री हड़-बड़ाकर उठी । बत्ती फिर से जलाकर वह आले के पास गई और लौटकर उसने पीला लिफ़ाफ़ा चन्द्रप्रकाश के हाथ में रख दिया ।

चन्द्रप्रकाश ने अधीरता से लिफ़ाफ़ा खोला और फिर पढ़ते-पढ़ते उसका चेहरा पीला पड गया । उसकी आँखें शून्य में कुछ खोज निकालने का प्रयत्न करने लगीं और लिफ़ाफ़ा उसकी गोद में पड़ा रहा ।

बिजली बुझ गई । बाहर की रोशनी भीतर के अंधेरे में आ गई, मगर बाहर का हलका शोर बाहर ही जी-जी कर मरता रहा, अन्दर नहीं आ सका । सावित्री लेट गई । उसने अपना काम पूरा कर दिया था । वह बिगड़ी नहीं थी, चिल्लाई नहीं थी मगर फिर भी उसने अपना काम पूरा कर दिया था । केवल एक नजर चन्द्रप्रकाश ने उसकी तरफ़ देखा था—और जवाब में सावित्री की आँखों में वह सभी कुछ कौंध गया था, जो उसकी आत्मा में बिन्दु बनकर धंस चुका था । उसकी आँखों में समवेदना अथवा सहानुभूति नहीं थी, प्यार नहीं था, विश्वास नहीं था । वहाँ घोर अवहेलना थी, घृणा थी, क्रोध था, बेबसी थी, और थी एक विद्रोह भावना, जो अधिक से अधिक यातना देकर संतोष प्राप्त करती है और किसी भी क्षण अट्टहास की गूँज में बदल सकती है ।

शायद इसीलिए सावित्री ने अपनी आत्मा में एक अद्भुत शक्ति का अनुभव किया। उसका अंग-अंग ढीला हो गया और उसे पता न चला, कब रात बीत गई, कब सुबह हो गई।

जब वह जागी, तो एक मधुर-सा स्वप्न उसके मन-प्राण पर छा रहा था। उसके रोम-रोम में रमेश बस रहा था, रमेश का प्रेम बस रहा था, रमेश के उजले कपड़े और हीरे की अँगूठी की चमक बस रही थी। उसे ऐसा लग रहा था, जैसे वह हाथ बढ़ाएगी और रमेश का अँगूठीवाला हाथ उसके हाथ में आ जायगा। वह आँखें खोलेगी और रमेश को अपने पास बैठा पायेगी।

मगर वास्तविकता ने उसके सपनों को छिन्न-भिन्न कर दिया। सावित्री के पायताने रमेश के स्थान पर चन्द्रप्रकाश बैठा था। और रमेश की स्वच्छन्द मुस्कराहट के स्थान पर एक तिरस्कृत आत्मा की यातना छटपटा रही थी।

सावित्री का जी जल गया।

वह चादर परे करके उठ बैठी। बालों पर हाथ फेरकर बोली, 'मेरी तरफ़ ऐसे क्यों देख रहे हो? कौन-सी सौगात देने के लिए मेरे पायताने बैठे हो? दो घड़ी आराम भी कर लूँ, तो मौत पड़ जाती है!"

सावित्री का दाहिना हाथ घुटने को पकड़े था, और बाएँ हाथ की कुहनी तकिये पर टेके वह अधलेटी अवस्था में थी। उसने कल्पना की, अगर उसका रमेश होता, तो प्यार से उसे अपनी बांहों में कस लेता और सावित्री का सारा गुस्सा काफ़ूर हो जाता। एक पल में उसके शरीर की सारी कसमसाहट दूर हो जाती और वह मुस्करा उठती।

मगर चन्द्रप्रकाश ने ऐसा कुछ भी न किया। वह बैठा चुपचाप उसकी तरफ़ देखता रहा—यद्यपि उसकी नसें फटने के लिए फड़क रही थीं।

सावित्री के क्रोध को और ईंधन मिल गया, 'कुछ बोलोगे भी, या यूँ ही मुँह देखते रहोगे?'

चन्द्रप्रकाश का चेहरा एकाएक सफ़ेद पड़ गया। प्रेम की स्निग्धता में अपनी असफलता की मानसिक ग्लानि को गलाने की आशा, जो कुछ क्षण पहले उसके चेहरे पर मंडरा रही थी, अब विलीन हो गई। वह उठकर चुपके से वहाँ से

सरक गया, जैसे दुतकार पाकर कुत्ता सरक जाता है ।

मगर सावित्री का क्रोध अभी समाप्त नहीं हुआ था । एक गुमनाम-सी चाह उसके अंग-अंग में रम रही थी । काश कि चन्द्रप्रकाश उसपर बरस पड़े, उसको डाँट-फटकार कर बैठा दे ! उसका हाथ पकड़ कर मरोड़ दे, या गाल पर चाँटा ही जड़ दे ! मगर चन्द्रप्रकाश रमेश तो नहीं था । उसमें इतना साहस कहाँ था ? वह तो बस उसका क्रोध भड़काकर चुपके से सरक जाता था, और सावित्री सारा दिन उबलती-तड़पती रहती थी ।

नहीं, आज वह ऐसा न होने देगी । आज वह हरगिज ऐसा न होने देगी ।

सावित्री उठ खड़ी हुई । चादर को पाँव-तले रौंदती हुई वह खड़ी इधर उधर देखती रही । उसकी समझ में न आ रहा था, वह क्या करे ? उसके दिल में धँसा हुआ केन्द्र-बिन्दु अब फैल रहा था । क्रूरता, क्रोध और बदले की भावना उसके सारे शरीर में फैलती जा रही थी, जैसे साँप का जहर फैलता है ।

बहुत दिन हुए, प्यार के एक कमजोर क्षण में चन्द्रप्रकाश ने अपने जीवन की सबसे करुण, सबसे गहरी और झंझोड़ देनेवाली घटना सावित्री को कह सुनाई थी । चन्द्रप्रकाश उस समय सात बरस का नन्हा बच्चा था, मगर आज भी वह चित्र उसके मस्तिष्क में वैसा ही ताज़ा बना हुआ था, जैसा उस दिन । सुरमई आसमान से वर्षा की फुहार आँगन के अँधेरे में पड़ रही थी और काग़ज़ की नाव बनाकर चन्द्रप्रकाश से संसार के महान् नाविकों की तरह जल-देवता की भेंट कर रहा था । पानी-भरे आँगन में बैठकर उसने तीसरी नाव को सीधा किया ही था, कि उसकी माँ तेज़ी से उसके पास गुजर गई । उसके हाथ में कलछी थी और उसके होंट फड़क रहे थे । जिस कमरे की ओर वह जा रही थी, वहाँ उसके पिताजी बैठे थे । माँ को उधर जाते देखकर चन्द्रप्रकाश अपनी नाव को भूल गया । पिताजी, जो उसके नन्हें दिल के देवता थे और संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति, उनकी क़मीज़ को गले से पकड़कर माँ ने एक झटका दिया—और इसके साथ ही चन्द्रप्रकाश का सारा मातृप्रेम जमकर रह गया । चीखकर वह माँ की ओर भागा और अगले क्षण उसके दाँत माँ की जाँघ में गड़ गए ।

कलछी की चोटें उसके सिर पर पूरे जोर से पड़ीं, मगर वह चेतना से परे था। उसका पागल मस्तिष्क केवल एक ही चित्र देख रहा था और उसके दाँत माँ की जाँघ में गड़ते जा रहे थे। बहुत देर बाद जब उसे होश आई, तो वह बिस्तर में पड़ा बुखार से तप रहा था और उसका दिल माँ के प्रति घृणा से भर रहा था...

चन्द्रप्रकाश का एक पैर रसोई के दरवाजे के अन्दर था और एक पैर इधर, जब सावित्री ने उसे आ लिया। एक क्षण के लिए चन्द्रप्रकाश स्तब्ध खड़ा रहा। उसने मुड़कर सावित्री की तरफ़ देखा और शायद माँ की वह विकराल मूर्ति उसके मस्तिष्क में कौंध गई। आज तक सावित्री के जिस क्रोध को वह जानता था, वह बड़बड़ाने और बच्चों को मारने-पीटने तक ही सीमित था। सारे घर में एक ज़हरीले दमघुट वातावरण का भी वह आदि हो चुका था। मगर आज—सावित्री का सारा शरीर क्रोध से काँप रहा था। उसकी आँखें फैल रही थीं, उसके नथुने फड़क रहे थे, और उसका हाथ चन्द्रप्रकाश की गर्दन पर था।

तभी बाहर खटका हुआ, और खटके के साथ ही मानो एक बिजली-सी कमरे में दौड़ गई। चन्द्रप्रकाश की साँस धौंकनी की तरह तेज़ हो गई। उसकी टाँगें धरती में समा जाने के लिए काँप उठीं। उसकी आँखें छिपने के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में भटकने लगीं।

एक पल के लिए सावित्री भी अप्रतिभ खड़ी रह गई। मगर फिर उसकी पकड़ चन्द्रप्रकाश के कालर पर और भी सख्त हो गई, उसके दाँत और भी मजबूती से भिच गए।

बाहर छज्जे पर नंदीबाई गुसलखाने की ओर से आई, एक पल के लिए दरवाज़े पर ठिठकी, और फिर एक हलकी सी चीख के बाद यहाँ से ओझल हो गई।

मगर सावित्री के सिर पर न जाने कौनसा पागलपन सवार हो चुका था। वह और भी आगे बढ़ आई—यहाँ तक कि उसकी गर्म साँस चन्द्रप्रकाश की छाती को सहलाने लगी। क्रूरता-भरी आँखें उठाकर उसने चन्द्रप्रकाश की ओर देखा और फिर चीख उठी, "तुम! तुम जो सिवाय क्लर्की के और कुछ भी

नहीं कर सकते ! क्या हक था तुम्हें शादी करके घर बसाने का ? किस बूते पर बच्चे पैदा करने चले थे ? जवाब दो ? साँप क्यों सूँघ गया है तुम्हें ? कुछ कहोगे भी, या यूँ ही मेरी तरफ़ देखते खड़े रहोगे ?"

मगर चन्द्रप्रकाश ने कुछ नहीं कहा। उसे जैसे काठ मार गया हो। सावित्री ने अगर उसका कालर न पकड़ा होता, तो वह कभी का भाग खड़ा होता। कभी का अपने अपमान की ग्लानि को मिटाने समुद्र में डूब मरा होता। मगर अभी उसे कुछ और भी देखना था—और वह था अमूल्य दास—

सफ़ेद कमीज और लाल कार्डूराय की पतलून पहने, हाथ में फ़ाइलें पकड़े, दरवाजे के बाहर छज्जे के पास अमूल्य दास खड़ा था। सूर्य की एक किरण उसके बालों के गुच्छे से उलझ रही थी और उसका हाथ पतलून की जेब में अपना रूमाल खोज रहा था।

"चन्द्रप्रकाश, मैं कहने आया था, आज तुम शूटिंग देखने चल सकते हो। मौका मिलने पर अपनी कहानी भी डायरेक्टर साहब को—"

और तभी एकाएक अमूल्य दास पर सारी स्थिति स्पष्ट हो गई। वह वापस जाने के लिये घूम पड़ा और सीधा बर्तन धोने वाली बूढ़ी नौकरानी गंगाबाई से टकरा गया। मगर फिर भी वह रुका नहीं, भागता चला गया।

सावित्री के हाथ से कालर छूट गया और वहीं फ़र्श पर वह ढेर हो गई। उसका गला रुँध रहा था, मगर आँसू थे, हिचकियाँ थीं कि थमने का नाम न लेती थीं।

वह उठना चाहती थी, चन्द्रप्रकाश के पाँव पकड़ कर उससे क्षमा माँगना चाहती थी। गिड़गिड़ाकर, नाक रगड़कर कहना चाहती थी, "अब नहीं ! अब नहीं ! अब नहीं ! मुझे माफ़ कर दो। मुझे माफ़ कर दो। मुझे माफ़ कर दो।"

मगर जब उसने अपना आँसुओं से तर चेहरा उठाया, तो चन्द्रप्रकाश वहाँ नहीं था। दोनों बच्चे सोए पड़े थे, और चारों ओर मौत का-सा सन्नाटा था।

अन्दर रसोई में भी चन्द्रप्रकाश नहीं था। बाहर छज्जे पर भी नहीं था गुसलखाने में भी नहीं था।

लेकिन वह जरूर आएगा। दफ़्तर जाने से पहले खाना खाने वह जरूर

आएगा ।

उसने आग जलाई, सब्जी काटी, दाल चढ़ाई । और फिर आत्म-ग्लानि से उसकी आँखें छलक आयीं । उसका रमेश काम का होता, तो उसे यह दिन क्यों देखना पड़ता ।

तभी बाहर कमरे से पप्पू के रोने की आवाज उसके कानों में पड़ी । सावित्री मशाला रगड़ रही थी, बाट लिये ही बाहर निकल आई । ज़मीन पर बिछे विस्तर पर पप्पू आँखें बन्द किए बैठा रो रहा था और पास ही सुरेखा वेखबर सोई पड़ी थी ।

सावित्री को ज़हर चढ़ गया । सुरेखा को पैरों से ठोकर मारकर बोली, "उठ हरामज़ादी ! देखती नहीं तेरा भाई तेरी जान को रो रहा है ?"

सुरेखा ने करवट बदलकर अपने बालों में उँगलियाँ फिरायीं और पाँव समेट कर फिर सो गई । सावित्री का धीरज छूट गया । कान पकड़कर इस जोर से खींचा कि सुरेखा बिलबिला उठी । हाथ में पकड़ा हुआ बाट पीठ पर जोर से दे मारा, "कुत्ती ! उठती है कि मरेगी ?"

सुरेखा उठकर बैठ गई ।

'चल उठा अपने भाई को !"

बच्ची के पतले होठों पर रुलाई फैल गई । उसने एक नज़र माँ को देखा और फिर भाई को गोद में समेटकर हिलाने-डुलाने लगी जैसे सारी उम्र वह बच्चे खिलाने का काम ही करती आई हो ।

बहुत देर बाद एक युग के बाद—जब सावित्री खाना बना चुकी पप्पू को दूध का गिलास पिला चुकी—तो सावित्री को विचार आया चन्द्रप्रकाश अभी तक नहीं आया । मगर यह विचार अभी उसके दिमाग ही में था कि बाहर पैरों की चाप सुनाई दी ।

बाहर छज्जे पर चन्द्रप्रकाश खड़ा था ।

सावित्री की जान में जान आई । उसने चाहा, आगे बढ़कर पूछे, क्या बात कहना चाहते थे तुम ? अब कहो, मैं सुनूँगी । मगर चन्द्रप्रकाश की भावभंगिमा देखकर वह खड़ी की खड़ी रह गई ।

चन्द्रप्रकाश के बाल बिखरे थे। उसका दुबला-पतला शरीर और भी दुबला-पतला लग रहा था और उसकी सोई-सी आँखें सामने देखते हुए भी कुछ न देख रही थीं।

चन्द्रप्रकाश सीधा अन्दर के कमरे में गया और कपड़े निकाल कर नहाने चला गया। सावित्री खड़ी सोचती रही, अब चन्द्रप्रकाश बोलेगा तो वह क्रोध नहीं करेगी, लाँछना नहीं देगी।

रोज़ वह बनियान और जाँघिया पहने खाने के लिए बैठ जाता था और कपड़े बाद में पहनता था। मगर आज वह नहाकर आया, तो उसने कपड़े बदल लिए थे। सफ़ेद कमीज़, हलकी लाल पतलून; स्वच्छ चेहरा, भीगे बाल।

सावित्री से उसने कोई बात नहीं की। बालों में कंघी करके चुपचाप रसोई में आकर पटरे पर बैठ गया। रोटी के कुछ ग्रास निगले और फिर दफ़्तर के लिए तैयार किया हुआ रोटी का पैकट लेकर वह चला गया।

सावित्री आग के सामने बैठी रही। बच्चे बाहर छज्जे पर चुपचाप खेलते रहे।

कितना भला लगता था चन्द्रप्रकाश ! गीले बालों की लटें माथे पर परेशान ! काश ! वह उससे कुछ बात कर सकती। मगर कोई परवाह नहीं। आज दफ्तर में खाना खाने के समय जब वह पैकट खोलेगा, तो उसे वह चीज़ मिलेगी जिसकी उसने कभी आशा न की होगी। सामने वह क्षमा नहीं माँग सकी, सो लिख कर माँग ली। आज चन्द्रप्रकाश घर आएगा, तो सावित्री को वैसा न पाएगा जैसी वह आज तक थी।

खाना खाकर, बच्चों को सुलाकर, रसोई का काम निबटाकर उसने घड़ी देखी तो एक बज रहा था। बस, अभी चन्द्रप्रकाश खाना खाने के लिए पैकट खोलेगा और···

सुस्ताने के लिए लेटी सावित्री ने करवट बदली। घड़ी में तीन बज रहे थे। आठ बजे वह घर आएगा, केवल पाँच घंटे बाद।

मगर अभी चार भी न बजने पाये थे कि चन्द्रप्रकाश आ गया।

उसके आने से एक मिनट पहले एक अजनबी उसके दरवाजे पर आ कर रुका। खद्दर की कमीज-पतलून किश्तीनुमा काली टोपी, और नाक के नीचे

मक्खी जैसी छोटी-सी मूँछें। उसके गोल चेहरे पर पसीना चमक रहा था और वह हाँप रहा था। रुक रुककर बोला, "अवस्थी साहब का घर यही है ?"

सावित्री बिस्तर से उठकर खड़ी हो गई, "हाँ कहिए ?'

अजनवी ने अपने बाईं ओर के छज्जे की तरफ देखकर कुछ इशारा किया और खुद परे हो गया। दो आदमी एक स्टेचर उठाये कमरे में दाखिल हुए।

सावित्री की समझ में कुछ नहीं आया। वह खड़ी फटी-फटी आँखों से देखती रही। दीवार के साथ स्ट्रेचर रखकर वे आदमी चले गए। काली टोपी वाले अजनबी ने उसके पास आकर बहुत दबी आवाज में कुछ कहा, मगर सावित्री के मस्तिष्क में केवल कुछ शब्द ही पहुँच सके—

"पाँचवीं मंजिल की खिड़की...डाक्टर...भगवान की मरजी...पुलिस...प्रबन्ध हो जाएगा...छः बजे सब आएँगा...फिकर नहीं...भगवान की मरजी..."

सावित्री खड़ी रही। बाहर छज्जे पर बहुओं समेत नन्दीबाई, नगीनभाई की सूखी काली पत्नी और हीरालाल सेठ की मोटी सेठानी सब आकर खड़ी हो गई—तो सावित्री ने आगे बढ़कर दरवाजे के पट बन्द कर दिए। उसके और चन्द्रप्रकाश के बीच इन सब को आने का क्या अधिकार था ? वह अपने पति के साथ लड़ती है तो इनका क्या जाता है ? और अगर सुलह करती है तो ये क्यों दखल देती हैं ? क्यों ? आखिर क्यों ?

बन्द दरवाजे के पीछे खड़ी वह देर तक शून्य में देखती रही। वह चन्द्र प्रकाश से सुलह कर लेगी। सावित्री ने लिखकर माफ़ी माँग ली है, चन्द्रप्रकाश उसे जरूर माफ कर देगा।

सफेद चादर से ढके स्ट्रेचर की तरफ़ उसने नहीं देखा। उसे केवल एक विचार आ रहा था। चन्द्रप्रकाश जो उसका सब कुछ था, उससे वह लड़ती क्यों रही है ? रमेश के लिए ? हुँह, रमेश उसका क्या लगता है ? कुछ भी नहीं। और चन्द्रप्रकाश ? वह तो उसका पति है, उसका साथी है, उसका सखा है। उसी के साथ तो उसे सारी जिन्दगी काटनी है।

आज वह चन्द्रप्रकाश के साथ सुलह कर लेगी। आज वह अपना जीवन

बदल देगी। आज उसका सारा परिवार सैर के लिए बाहर जायेगा। चन्द्र प्रकाश के आने से पहले बच्चों समेत वह तैयार हो जाएगी।

धीमे कदमों से वह चारपाई के पास आयी। सुरेखा का मुँह इधर था, पप्पू का दीवार की तरफ। धीरे से बालों में उँगलियाँ फिराकर सावित्री ने सुरेखा को जगाया, "उठ बेटा, जल्दी से हाथ मुँह धोकर तैयार हो जा। बाहर चलेंगे।" और फिर पप्पू को उठाकर रसोई की तरफ़ चली गई।

पप्पू को तैयार करके, छोटा-सा बुशर्ट और नेकर पहनाकर वह कंघी लेने के लिए लौटी, तो सुरेखा अभी तक बिस्तर पर बैठी आँखें मल रही थी। आले से कंघी लेकर सावित्री वापस जाने लगी तो पैर किसी चीज से टकरा गया। बैठ कर उसने उस चीज को उठा लिया और उसे देखकर कंघी आप ही आप फर्श पर गिर पड़ी। हड़बड़ाकर सावित्री ने पैकट खोल डाला। रोटियो में लिपटी उसकी लिखी चिट्ठी निकल आई।

उसकी आँखें भीग आई। चन्द्रप्रकाश ने उसकी चिट्ठी नहीं पढ़ी। क्यों नहीं पढ़ी? क्यों नहीं पढ़ी?

पेट से शूल-सा उठ कर उसके कलेजे में अटक गया। दम घुटने लगा, जैसे हवा खत्म हो गई हो। पेट का शूल अब गले में पहुंच गया था।

दहाड़ मारकर सावित्री स्ट्रेचर की सफेद चादर पर गिर पड़ी।

: ७ :

रोज की तरह पिछली रात भी सुरेखा पापा की प्रतीक्षा करती रही थी। यद्यपि नींद से उसकी आँखें मुंदी जा रही थीं, वह जागती रही थी, नींद से लड़ती रही थी। मगर माँ ने कई बार उससे कहा था, "उठ, सो जा अब।" यहाँ तक कि एक बार उसके सिर पर माँ ने हाथ भी फेरा था। उस हाथ का प्यार पाकर, यद्यपि वह प्यार बनावटी ही क्यों न हो, सुरेखा के मन में एक अद्भुत संतोष भर रहा था कि एकाएक माँ ने उसकी स्लेट एक तरफ रख दी और प्यार के अधिकार से उसे गोद में उठा लिया था।

माँ की गोद की स्निग्धता पाकर सुरेखा का दिल आशंका से भर उठा था। कुछ देर के लिए उसके शरीर का कण-कण सजग हो गया, कुछ क्षण

तक उसे विश्वास न हुआ कि यह सच है, माँ सचमुच उसे गोद में उठाए थपक रही है। फिर धीरे-धीरे अनजाने ही उसका बदन ढीला हो गया था। और नींद की एक गहरी लहर ने सुरेखा के थके अलसाए शरीर को ढक दिया था···

एकाएक उसकी आँख खुली तो चारों ओर सन्नाटा था और अँधेरा था। केवल हलका-सा प्रकाश बाहर सड़क की बत्ती से अंदर आ रहा था। सुरेखा उठकर बिस्तर पर बैठ गई। आज वह पापा को नहीं मिली। पापा आ गए होंगे और सो रहे होंगे। पापा को मिले बिना वह कैसे सो गई ?

वह उठकर खड़ी हो गई। कुछ देर खड़ी वह आँखें मलती रही, फिर चारपाई के पास जाकर उसने पापा को खोजा। मगर पापा वहाँ नहीं थे, केवल माँ सोई पड़ी थी।

बाहर का दरवाजा बन्द था।

सुरेखा बिस्तर पर लौट आई। पापा नहीं आए। क्यों नहीं आए? कहाँ गये हैं पापा ?

तभी अंदर से पैरों की आवाज आई। धीरे-धीरे से वह आवाज पास आती गई। और फिर एक छाया आकर चारपाई पर बैठ गई।

"पापा !"

"हाँ बेटी।" पापा की आवाज में घुटन थी, निराशा थी, असहाय की तड़प थी। सुरेखा के नन्हें दिल में सोने से पहले माँ के प्रति जो प्यार पैदा हुआ था इस समय पापा की आवाज सुनकर लोप हो गया। उसकी मुट्ठियाँ आप ही आप बंद हो गई। माँ के प्रति घृणा उसकी नस-नस में समा गई। माँ क्यों हमेशा पापा से लड़ती रहती है ? मेरे अच्छे पापा !

वह उठकर पापा के पास आ गई। कुछ कहे बिना उसने अपना नन्हा हाथ पापा के हाथ में दे दिया।

कुछ देर दोनों इसी तरह मौन खड़े रहे। फिर पापा ने सुरेखा को खींच कर बाहों में भर लिया।

"अब सो जा बेटा !" पीठ को थपककर पापा ने उसे बिस्तर पर लिटा

दिया और चादर उढ़ा दी।

सुरेखा आज्ञाकारिणी बेटी की तरह लेटी रही और प्रतीक्षा करती रही कि पापा सो जाए तो वह भी सो जाए। मगर पापा नहीं सोए। देर तक सुरेखा पापा को कमरे का चक्कर लगाते देखती रही और रात का सन्नाटा उस के चारों ओर गजता रहा ··

अगला दिन वैसा ही था जैसा लड़ाई के बाद अक्सर हुआ करता था। चारों ओर खिन्नता थी, क्रोध था, घृणा थी। और इस असहाय परवशता में नन्ही बच्ची का दिल हो रहा था, कहीं भाग जाए। पापा को लेकर कहीं दूर चली जाए, जहाँ माँ न हो, पप्पू न हो, यह गुस्सा और नफरत न हो। मगर पप्पू खेल रहा था, हँस रहा था, चिल्ला रहा था।

पापा कहीं बाहर से आये और खाना खा कर चले गये। जाते समय छज्जे पर एक क्षण खड़े होकर उन्होंने सुरेखा के सिर पर हाथ फेरा—और फिर वह चले गये। सुरेखा ने पापा की पीठ की तरफ देखकर चाहा दौड़ कर उनके पैरों से लिपट जाए। कहे मुझे भी साथ ले चलो, मैं भी तुम्हारे साथ दफ्तर जाऊँगी। मगर वह जानती थी, माँ सुन लेगी तो मार पड़ेगी। दो घण्टे तक उसे माँ की झिड़कियाँ सुननी पड़ेंगी। सो वह पप्पू के पास बैठी पापा को जाते देखती रही।

दोपहर की नींद से जब वह जगी, तो माँ कह रही थी, "उठ बेटा, जल्दी से हाथ मुँह धोकर तैयार हो जा, बाहर चलेंगे।" सुरेखा ने आँखें मलते हुए सोचा, आज पापा जल्दी आ जाएंगे; तभी तो माँ बाहर जाने की तैयारी कर रही है।

मगर अभी वह यह सोच ही रही थी कि दीवार के साथ रखी चादर से ढकी किसी चीज पर माँ गिर पड़ी और इतनी जोर से चीख उठी कि सुरेखा का दिल दहल उठा।

वह उठकर खड़ी हो गई। अन्दर पप्पू जोर से रो उठा, मगर सुरेखा वहीं जमी खड़ी रही। उसे सूझ न रहा था कि वह क्या करे, क्या न करे? तभी बाहर से किसी ने दरवाजा खटखटाया, और सुरेखा की जान में जान आई।

वह भागकर गई और दरवाजा खोल दिया।

पास-पड़ौस की सारी औरतें अन्दर आ गई। उन्होंने माँ को पकड़कर चादर से अलग किया, मगर माँ थी कि चादर की तरफ हाथ बढ़ाती जा रही थी और चीख़ती जा रही थी।

सुरेखा की समझ में न आया कि यह सब क्या हो रहा है? माँ क्यों रो रही है? ये औरतें उसे क्यों चादर से परे कर रही हैं?

औरतें माँ को अन्दर के कमरे में ले जाने लगीं, तो माँ ने सुरेखा को पकड़ कर जोर से बाहों में भींच लिया। वह चीत्कार कर उठी, "मेरी बच्ची! तेरे पापाजी अब कभी नहीं आएँगे। वह सदा के लिए चले गए। तुझे छोड़कर चले गए।" और फिर माँ की हिचकियाँ बँध गई...

...और सचमुच उस रात सुरेखा देर तक जागती रही, मगर पापाजी नहीं आए। अन्दर माँ के साथ तीन पड़ोसनें बैठी थीं—चुपचाप। और रह-रहकर माँ चीख़ उठती थी और फिर थककर चुप हो जाती थी।

पप्पू पड़ोस के घर में सोया था, और बिस्तर पर सुरेखा अकेली लेटी सोच रही थी, पापाजी क्यों नहीं आए? वह कब आएँगे? माँ ने क्यों कहा था कि वह कभी नहीं आएँगे?

और तब, दिन की एक बात उसे याद आ गई। उसे एक पड़ोसन अपने घर ले गई थी। मौका पाकर वह वहाँ से भाग आई, तो देखा, सारा घर अजनबियों से भरा हुआ था। वह माँ के पास जाना चाहती थी, मगर इतने सारे आदमियों के बीच से गुजरना आसान काम नहीं था।

फिर भी भीड़ में से गुजरने की कोशिश करते हुए उसने सुना, एक आदमी किसी से कह रहा था, "औरत की नफ़रत ने इसे मार डाला!"

औरत की नफ़रत! नफ़रत!! नफ़रत!!!

और उस बात की याद करके सुरेखा कह रही थी, "पापाजी, आ जाओ। मैं कभी नफ़रत नहीं करूँगी पापाजी। सच, कभी नफ़रत नहीं करूँगी। माँ से भी नहीं जो मुझे हमेशा पीटती झिड़कती रहती है। आओगे न पापाजी? आओगे न?

●●

फैसला

●

यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

चन्द्र हिन्दी की नयी पीढ़ी के सशक्त कथाकार हैं। वह उन लेखकों में से हैं जो अपनी मेहनत, साहस तथा सृजनशीलता के आधार पर समस्त गुटबन्दियों को चीरकर उभरे हैं। तीस बरस की इस आयु में उन्होंने हिन्दी साहित्य को लगभग बीस उपन्यास और सैंकड़ों कहानियों से समृद्ध किया है। 'नेत्रदान' 'विश्वामित्र की खोज', 'बरफ की समाधि' 'एक इन्सान की मौत : एक इन्सान का जन्म' (कहानी संग्रह) 'धरती की पीर' 'सन्यासी और सुन्दरी', 'युगदेवता', 'बड़ा आदमी', 'सपना' 'आँचल में दुध : आँखों में पानी' 'नयना नीर भरे' 'अनावृत' 'खम्मा अन्नदाता' 'खून का टीका' 'ईश्वर' 'सावित्री', 'एक कमरे की कहानी' 'मिट्टी का कलंक' 'पंथ की बंशी' (उपन्यास) आदि उनकी लोकप्रिय रचनायें हैं। खम्भा अन्नदाता को राजस्थान साहित्य अकादमी ने पुरस्कृत भी किया है। आपके अनेक उपन्यास उर्दू, हिन्दी, गुजराती, तेलगु, मराठी में अनुवादित हो चुके हैं।

हसीन चेहरे इनकी कमजोरी भी हैं और प्रेरणा स्रोत भी।

रंगोली उस दिन बड़ी चिन्तित और परेशान हो उठी। उसके सामने जीवन का अहम् प्रश्न अनावृत होकर खड़ा हो गया। ऐसा प्रश्न जो बहुत ही साफ था। तीखा और कठोर। उसके मन में उस प्रश्न को लेकर दिन भर विचित्र आन्दोलन होता रहा। खारी-मीठी यादें और जीवन का उत्थान-पतन उसके सन्मुख नाच उठे। वह एक घटना को अच्छी तरह याद करती रही और अन्त में उसका मन व्यथा से बोझिल हो गया।

रंगोली ढलते दिन को देखने लगी। सूर्य सृष्टि का सौन्दर्य समेट कर भाग रहा था। बीकानेर में कोलाहल उमड़ कर शान्त हो रहा था। मजदूर लोग मजदूरी से लौटते हुए रंगोली के घर के पास एक बनिए की दूकान से सदैव की तरह भोजन की सामग्री खरीद रहे थे। रंगोली उन सबको देख रही थी—निरुद्देश्य थी।

धीरे-धीरे अन्धेरा संसार को अपने अंक में दबोचने लगा। देखते-देखते आसमान तारों से भर आया। रंगोली अब भी भारी मन लिए तारों भरे नीलाम्बर को निहार रही थी। वह मन-ही-मन बड़बड़ाई, "उसने आज ऐसा क्यों कहा? वर्षों के बाद इस सवाल को उसने इतने गभीर रूप में खड़ा किया है? आखिर वह चाहता क्या है?"

रंगोली के ललाट की नसें तन गईं। उसके चेहरे की रेखाएँ उत्तेजित हो गईं। उसका कंठवरोध भी हो गया। हवा का एक झोंका आया और उसकी बिखरी हुई लट को हिलाता हुआ उसे सुख का पल दे गया। उसने लम्बा साँस लिया और सवेरे की घटना के बारे में सोचने लगी।

उसका पति रामेश्वर आज सवेरे-सबेरे लड़ने की ठान बैठा। किस्सा ऐसा छिड़ गया था जिसका अन्त दुखद ही हो सकता था। अपनी बड़ी-बड़ी बलदार

मूँछों पर ताव देकर वह बोला, "रंगोली, आज मैं तुझसे फैसला करूँगा। अब मैंने नौकरी कर ली है।"

रंगोली चकित रह गई। आज किस बात का यह फैसला करेगा। वह समझ न सकी। उसने बड़े आहिस्ते से अपनी पलकें उठा कर रामेश्वर की ओर देखा। उसकी दृष्टि में तीखापन था। अपने स्वर में विष घोल कर बोली, "क्या फैसला करेगा?"

रामेश्वर उसके क्रोध को देख कर हड़बड़ा गया। अपनी दृष्टि को इधर-उधर भटकाते हुए बोला, "यही कि तुझे बिलकुल मेरी बन कर रहना पड़ेगा। अब यह गड़बड़ी नहीं चलेगी।"

रंगोली निम्न जाति की ठहरी। अपने लहंगे के ऊपर लहराते आँचल को कसती हुई बोली, 'कैसी गड़बड़ी? अरे, तू साफ-साफ बात क्यों नहीं करता; पहेलियाँ क्यों बुझाता है?'

रामेश्वर रुक-रुक कर बोला, "लो, साफ-साफ कहता हूँ कि अब मैं यह कभी पसन्द नहीं करूँगा कि तू सदासुख के घर आए जाए।"

रंगोली पर पहाड़ टूट पड़ा। वह विस्फारित आँखों से रामेश्वर को देखती रही। उसकी आँखों में खून सा उतर आया। वह पति के सामने आती हुई गरज कर बोली, 'क्या बकता है रे? मुझे नहीं पहचानता,—सौदा करके मुकरता है? जानता नहीं, वचन को भंग करने वाला महापापी होता है।'

रामेश्वर के ललाट पर पसीने की बूँदें चमक उठीं। रंगोली का उग्र रूप वह नहीं देख सका। आकुल स्वर में बोला, "और तू क्या करती है?"

"मैं?"

"हाँ, तू?"

"मैं क्या करती हूँ?" उसने वाक्य पर जोर दिया।

"तू पाप पर पाप और महापाप पर महापाप करती है।"

"रामू!" वह उत्तेजित हो उठी। उत्तेजित होने से उसकी गर्दन की नसें तन-सी गईं। चेहरे पर गुस्से की रेखाएँ दौड़ पड़ीं।

"क्या है?" उसने भय के साथ गर्जना की।

"झूठ बोलते शर्म नहीं आती।" उसने फटकारा।

"शर्म काहे की ?"

"अरे! अपना भला करने वाले के साथ ऐसा बरताव करते लाज नहीं आती।"

"लाज तुम्हें आनी चाहिए जो अपने बाजू का जेवर मुझे देती हो, और हाथों की चूड़ियाँ अपने यार को!"

रंगोली की आँखों में अब सचमुच खून उतर आया। उसका सारा बदन कठोर पत्थर की तरह जड़ हो गया। उसकी खून-भरी आँखें अपने पति को घृणापूर्वक देखने लगीं। वह दृढ़ता से बोली, "उसे तू यार कहता है ? अरे, वह देवता है, हमारे दुख संताप को हरने वाला। वह न होता तो क्या तू वच जाता ? तुझे उसने जिन्दगी दी है।"

"इससे तो मैं नहीं बचता तभी अच्छा था।"

"रंगोली निःशब्द अर्थभरी दृष्टि से उसे देखती रही।"

रामेश्वर अपने शब्दों पर जोर देते हुए बोला, 'बस मैं चाहता हूँ कि तू या तो उसे छोड़ दे या मुझे। हमारे समाज में कितनी ही अपने पतियों को छोड़ती हैं, और नये पति करती हैं। तू केवल सदासुख की क्यों नहीं हो जाती ? वह मालदार भी है।

"यह तू कहता है···और मुझसे कहता है···जिस औरत ने तेरे जीवन की खातिर साधू की तरह धूनी रमा दी, उसे आज तू पराई होने को कहता है। रामू मैंने तुझे इतना निर्मोही नहीं समझा था।" कहते-कहते रंगोली की आँखें भर आईं। उसके श्याम कपोलों पर आँसुओं की धाराएँ बह उठीं।

"यह तिरिया चरित्र मैं समझ गया हूँ। अब मैं तुझसे फैसला ही करूँगा। सुन रंगोली!"

"कह!"

"मेरे सवाल का जवाब ठीक-ठीक देना।"

"दूँगी।"

"तू सदासुख को चाहती है ?"

"हाँ !"

"क्यों ?"

"क्योंकि उसने तेरा और मेरा पाँच साल का खर्चा उठाया है। वह न होता तो हम भूखों मर जाते। तूने न कमाने की कसम जो खा रखी थी।"

"लेकिन यह कितना बुरा है ? तू सच्चे मन से एक की क्यों नहीं हो जाती।"

"यह नहीं हो सकता, क्योंकि मैं सच्चे मन से दोनों की हूँ।"

"सो कैसे ?" उसका स्वर बदल गया।

"तेरी बुद्धि मोटी है।"

"फिर तू ही समझा दे।"

"दो जून तुझे चोखा खाना खिला देती हूँ और रात को तेरे पाँव दबा देती हूँ। इससे बेसी तू और क्या चाहता है ?"

"मैं चाहता हूँ कि तू केवल मेरी होकर रह।"

"ऐसा कैसे हो सकता है ?"

"यह करना ही पड़ेगा।"

अन्तिम निर्णय के रूप में रामेश्वर ने अपनी बात कही।

●

"रंगोली !"

वह चुप रही।

"तू बोलती क्यों नहीं ?"

"आज मेरा जी अच्छा नहीं है।"

"उदास क्यों हो ?"

"कह दिया न मेरा जी अच्छा नहीं है।"

"बताएगी नहीं ?"

"नहीं नहीं-नहीं !" उसने क्रोध से काँप कर सदासुख को उत्तर दिया। सदासुख सहम-सा गया। उससे रंगोली की कातर दृष्टि नहीं देखी गई। वह अपने अन्तर में शंकाओं को दबाए उसके पास आया। उसके बाजू पर धीरे-धीरे हाथ

फेरता हुआ बोला, 'रंगोली तू मुझे नहीं बताएगी कि तुझे क्या दुख है ? मैंने तो तेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया है।'

"तू बहुत अच्छा है न इसीलिए आज मुझे इतनी बातें सुननी पड़ीं। मैंने तेरी खातिर लोक-लाज की परवाह नहीं की पर आज रामू मुझे फैसला करने पर मजबूर करने लगा है।"

"फैसला ?"

"हाँ !"

"किस बात का ?"

रंगोली की रग-रग से कंपकंपी सी दौड़ पड़ी। वह सावधान होती हुई बोली, 'एक बात बताएगा ?' उसने विषय को बदलते हुए कहा।

"हां !"

"सच-सच कहेगा ?"

"तू जानती है कि मैं झूठ नहीं बोलता।"

"फिर बता।"

"पूछ ?"

"क्या तू मुझे अपनी लुगाई (बीवी) से बेसी चाहता है ?"

"नहीं !"

"फिर मुझे इतनी मदद क्यों देता है ? फिर अपनी बहू के साथ छल क्यों करता है ? फिर मेरे लिए तू अपनी बदनामी क्यों कराता है ?' वह एक साथ इतने प्रश्न कर गई।

"क्योंकि तू मन को सच्ची शान्ति देती है। बहू तो मेरे बच्चों की माँ है' घरवाली है। रंगोली तू अपने बीच में उसे न ला।"

रंगोली भारी मन लिए वहाँ से चल पड़ी।

●

अतीत साकार हो गया। रंगोली स्मृति की एक-एक पर्त को खोलने लगी। उसे याद आया...

रामेश्वर बीमार पड़ा था। बड़ी भारी बीमारी हुई थी—धनुष टंकार।

दवा के लिए बहुत पैसों की जरूरत थी। उसने सभी के सामने हाथ फैलाए। किसी ने उसकी मदद नहीं की। उसने जीवन-भर गुलामी करनी चाही पर उस श्याम वर्णा दुबली के शरीर की कीमत भी अधिक नहीं आंकी गई। तब सदासुख ने उससे एक सौदा किया—वह सदा उसकी होकर रहेगी तो वह अपनी थैली का मुँह उसके लिए खोल देगा। शर्त मंजूर हो तो सदासुख तैयार है।'

रंगोली ने मजबूरी में सौदा मान लिया। निर्भीक निडर रंगोली ने इस बात को अपने पति के सामने भी रख दिया। रामेश्वर कुछ नहीं बोला। छोटी जाति में ऐसी बातों को लेकर अधिक हो-हल्ला नहीं होता। फिर सदासुख हजारों रुपयों का स्वामी था। उसकी अपनी हवेली थी हवेली में बड़े-बड़े लोग आते थे। वह जुआरियों को रुपया उधार दिया करता था। दस प्रतिशत ब्याज पर।

उसकी बीवी थी तीन बच्चे थे और एक वृद्धा माँ थी। सुखी परिवार आनन्द ही आनन्द।

और सदासुख रंगोली पर जान देता था। रंगोली की खुली तबीयत और चंचल स्वभाव उसे बहुत पसंद था। रंगोली सुन्दर न हो तो भी उसका नाक नक्शा बड़ा ही आकर्षक था। आवाज में शहद सी मधुरता थी। सौदा तय हो गया और रंगोली उसके पास आने जाने लगी।

रामेश्वर पूर्ण स्वस्थ हो गया। रंगोली ने एक दिन कहा अब मजूरी पर क्यों नहीं जाता ?'

"चला जाऊँगा।"

"कब ?"

"बस एक दो दिन में।"

और रामेश्वर के वे एक दो दिन तीन वर्षों में बदल गए। बाद में जोरू की कमाई पर रामेश्वर शराब पीता' रात के काले आंचल में आता और रंगोली को भली बुरी सुनाकर सो जाता।

"रंगोली का मन रामेश्वर की आदतों से खिन्न हो गया। एक दिन उसने जटिल स्वर में कह दिया जोरू की कमाई पर कितने दिन चलेगा ? आखिर कमाना ही होगा।"

रामेश्वर ने तड़ाक से उत्तर दिया, "तूने उससे सौदा करके मेरी नाक कटवा दी। जब नाक ही नहीं तब क्या अच्छा और क्या बुरा ?"

"मैंने सौदा तेरे लिये ही तो किया था।"

"तभी तो · ।"

हर रोज रामेश्वर एक रुपया लेता और नशा पानी करता। धीरे-धीरे रंगोली का जीवन दोनों के साथ शाँति से गुजरने लगा। उसका अन्तर, उसके बन्धन, उसकी प्रीति दोनों के प्रति एक सी थी।

इसी बीच एक घटना और घटी, रंगोली को हैजा हो गया। हैजे की मार से वह जलहीन मछली की भाँति तड़प रही थी। इसी हालत में रामेश्वर उसे छोड़कर किसी नटनी के साथ भाग गया।

रंगोली बिस्तरे पर असहाय-सी पड़ी थी। उसके हाथ-पांवों की नसें ऐंठ रही थीं। बार-बार पेट की अन्तड़ियाँ टूट जाने को होतीं और दस्तों के कारण उसके चारों ओर गंदगी फैल गयी। वह रामू-रामू चीख रही थी, पर रामू की जगह सदासुख ने उसकी सेवा की। उसे अस्पताल ले गया। पानी चढ़वाया और रात-भर परेशान-सा उसके बिस्तरे के पास बैठा रहा। उसने नींद की एक झपकी तक भी न ली। ओह ! श्रांत और क्लांत उसे होश आने पर उत्साह से बोला, "रंगोली, अब तू नहीं मरेगी, नहीं मरेगी।"

रंगोली ने पूछा, "मेरा रामू कहाँ है ?"

रंगोली का हृदय भर आया। जिसकी खातिर अपना सर्वस्व विसर्जन किया, सतीत्व बेचकर जिसका वह पोषण करती रही, उसका वह रामू इतना हृदयहीन होगा, ऐसा उसने सपने में भी नहीं सोचा था।

गहरे दुख से उसने सदासुख की ओर देखा। सदासुख ने घृणा में मुँह बिचकाकर कहा, "उसकी फिक्र तू क्यों करती है ? वह बिगड़ैल नटनी उसके होश तीन दिन में ठिकाने पर ला देगी।"

रंगोली अस्पताल से घर आ गई।

दूसरे दिन सदासुख के घर लड़का हुआ। वह मिठाई लेकर रंगोली के पास

आया रंगोली ने खुशी जाहिर की। अशीष भी दी, "तेरा वंश बढ़े। तू दिन-दिन मालदार हो।"

सदासुख का कहना ठीक निकला, आठ दिन के बाद रामू लौट आया। रंगोली ने उससे कुछ नहीं कहा। उसका कुछ न कहना उल्टा रामू के गुस्से का कारण बना। पागलों की तरह चीखकर बोला, "तू मुझे गालियाँ क्यों नहीं देती? मुझे भला-बुरा क्यों नहीं कहती?"

"मैं तुझे कुछ नहीं कहूंगी।"

"क्यों?"

"तू इसके काबिल नहीं है।"

रामेश्वर का मन फन-फना उठा। तड़प कर बोला, "काबिल तो तू है न, कुलटा कहीं की! नीच, बदजात, लफंगी। पूछती क्यों नहीं कि उस नटनी को लेकर क्यों भागा था?"

"मैंने कह दिया न, मैं तुझे कुछ नहीं कहूँगी।"

"क्यों?"

"मैं कुलटा हूं न इसलिये।"

इसके बाद जैसे-तैसे रामेश्वर ने एक नौकरी प्राप्त कर ली। चार दिन वह काम पर गया। पांचवें दिन वह सदा की भाँति नशा करके आ धमका। छटे दिन उसने नौकरी से सदा के लिए छुट्टी कर ली। सातवें दिन रंगोली ने पूछा, सुनो रामू, अब हम क्या करेंगे?

"क्यों, क्या हुआ?"

"सदासुख से मेरा झगड़ा हो गया।" रंगोली ने झूठ-मूठ कहा।

रामेश्वर की आँखें विस्मय से फट गईं। रंगोली ने फिर कहा—

"अब तुझे कहीं काम करना ही होगा।"

कुत्ते की तरह गर्दन हिलाता रामेश्वर चुपचाप घर से बाहर चला गया।

●

अब वही रामेश्वर उससे फैसला करेगा कि वह दोनों में से एक को चुन कर रहे। पति और प्रेमी? मजबूरी और दया?

जलते-प्रश्न ?

रंगोली इन प्रश्नों में उलझी थी कि अचानक सदासुख ने घर में प्रवेश किया। गहरा अन्धकार ! गहरा मौन !

"रंगोली।" सदासुख ने पुकारा।

रंगोली चौंकी। "अब मैं क्या करूँ ?"

सदासुख हतप्रभ-सा उसे देखने लगा।

"वह फैसला चाहता है।" वह स्वप्नाविष्ट सी बोली।

"कौन ?"

"रामू !"

"किस बात का ?"

"मेरा।"

"तेरा ?"

"हाँ, उसका कहना है कि वह केवल उसकी बन कर रहे ! अब वह तेरे-मेरे सम्बन्ध को नहीं सह सकता !"

सदासुख की मुट्ठियाँ बंध गई। रंगोली का भयमिश्रित आवेग उसकी आँखों में तैरता गया। सदासुख ने कठोर स्वर में पूछा, 'तू किसे चाहती है ?'

"मैं शान्ति चाहती हूँ, बस।"

"फिर तू चिन्ता न कर, मैं रामू को ठीक कर दूंगा।" कह कर वह पवन वेग से चला गया।

रंगोली का मन संघर्ष करता रहा। उसके मानसपटल पर सदासुख और रामू के चेहरे बार-बार आते थे। वह दोनों का मूल्यांकन करने बैठ गई। उसकी हालत उस बालक की तरह थी जो परीक्षा के लिए बार-बार सबक याद करता है, फिर भी उसे संतोष नहीं होता। वह पाठों को दोहराता है, और रंगोली सैकड़ों घटनाओं को दोहरा रही है।

अन्त में उसने फैसला किया कि यदि रामू अधिक हठ करेगा, दबाव डालेगा, तो वह अपना फैसला सदासुख के पक्ष में कर देगी।

वह निर्णय-सा करके बैठ गई।

रात का अन्धेरा शून्यता के अंक में भयावह होकर सायं-सायं कर रहा था। तारे झिलमिलाने लगे थे। हवा थम गई थी। वातावरण में उमस भी छा गई थी। रंगोली अभी भी पूर्ववत बैठी थी। निद्रा उसकी आँखों से कोसों दूर थी।

तभी रामेश्वर की चीख उसके कानों में पड़ी। वह तड़ाक से उठी और नीचे की ओर भागी। रामेश्वर को देखते ही वह सकते में आ गई। उसके सिर से खून बह रहा था। वह बुरी तरह चिल्ला रहा था। मोहल्ले के कुछ आदमी इकट्ठा होकर तमाशा देखने लगे।

रंगोली ने झपट कर रामू को सहारा दिया। अपनी ओढ़नी फाड़कर उसने पट्टी बाँधी। पूछा, "यह किसने किया ?;'

"सदासुख ने, वह मुझे अपने बीच से हटाना चाहता है।"

"इस तरह, खून बहाकर, तेरी जान लेकर ?" रंगोली उठ खड़ी हुई—"बदमाश की यह मजाल। ठहर रामू।" कह कर रंगोली शेरनी की तरह भागी।

सदासुख उसे देखते ही बोला, "तू आ गई।"

"मुझे न छूना, तूने रामू को क्यों मारा ?"

"वह गाली··· "

'देख सदासुख, मैंने तुझसे फकत अपना सौदा किया था। उस बेचारे पर हाथ उठाने का तुझे क्या अधिकार है ? उसने तेरा खून नहीं बहाया। उसने तुझे मारने की कभी कोशिश नहीं की। कान खोलकर सुन ले, "मैं रामू की रहूँगी।"

"रंगोली !" सदासुख जोर से चिल्लाया।

"हाँ मेरा यही फैसला है !"

"पर क्यों ?"

"क्योंकि रामू किसी का खून नहीं बहा सकता। वह किसी को कत्ल नहीं कर सकता। रामू ने सदा मेरी इच्छा को ऊपर रखा। उसने तेरी तरह खून बहाने की कभी धमकी नहीं दी। वह गरीब है, कमजोर है, पर बहुत सीधा है। वह सिर्फ फैसला चाहता है।"

घायल सांपिन-सी फुफकारती हुई रंगोली वहाँ से वापस आ गई। सदासुख को जैसे लकवा मार गया—वह आँख फाड़े देखता रहा।

बंटवारा

—

●

गुरुदत्त

गुरुदत्त जी का जन्म १८६१ में पश्चिमी पाकिस्तान के एक गाँव में हुआ। एम० एम० इतिहास में किया और एक साथ राजनीति और लेखन-कार्य में रुचि लेनी शुरू की। आपने कहानियाँ बहुत कम लिखी हैं, मगर उपन्यासों की संख्या लगभग पचास तक जा पहुँची है। 'स्नेह का मूल्य', 'विकृत छाया', 'भग्ना', 'माया जाल', 'सहस्त्रबाहु', 'भगवान भरोसे', 'सभ्यता की ओर' आदि आपकी ख्यातिप्राप्त रचनायें हैं। आप साहित्य को विचारों के फैलाव तथा प्रचार का एक सबल साधन मानते हैं। इनकी राजनैतिक कल्पना जनसंघ के सिद्धान्तों से प्लावित है। आजकल अखिल भारतीय जनसंघ की कार्यकारिणी के सदस्य हैं। कांग्रेस का विरोध इस उम्र में भी इन्हें जवान बनाये है। उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी आदि भाषायें वयक वक्त इस्तेमाल करते हैं (सिर्फ़ बोलने में। लिखने में करें तो शायद जनसंघ का घोषणा पत्र बन जाए जो पढ़ा तो जा सकता है, मगर समझा नहीं)

'बँटवारा' कहानी नये शिल्प की दृष्टि से कमजोर होने पर भी अपने सम्पूर्ण प्रभाव तथा सांकेतिकता के नुकता-नजर से अत्यन्त प्रभावशाली हैं।

कर्मसिंह बहुत वृद्ध हो चुका था। उसकी आँखों की बरौनियाँ सफेद हो गई थीं। कमर टेढ़ी, गर्दन झूलती हुई, टाँगें लड़खड़ाती हुई और दांत न होने से बोलने में शब्द अस्पष्ट निकलते थे।

"बाबा! कितनी उमर होगी तुम्हारी?" कर्मसिंह के पोते का लड़का खाट के पास बैठा पूछ रहा था। लड़का दस साल का था। उसका नाम था सोहनसिंह।

"कौन पूछ रहा है?" कर्मसिंह ने विचारों, जिनमें वह अब कभी-कभी मगन हो जाया करता था और अपनी वर्तमान अवस्था को भूल जाया करता था, से निकलते हुये पूछा।

"सोहन हूं बाबा!" कर्मसिंह के घर के सब प्राणी जानते कि उसकी आँखों की ज्योति समाप्त हो चुकी थी। सुनाई भी बहुत कम देने लगा था। इससे वे उसको अपना नाम, और वह भी ऊंची आवाज में, बताया करते थे। सोहन ने भी ऐसे ही कहा।

"अच्छा सोहन हो? कहाँ गया है तुम्हारा बाप?"

"खेत में गया है बाबा!"

"और तुम्हारी दादी तथा माँ?"

"पड़ोसियों के घर गाने पर गई हैं।"

"वहाँ पर क्या है?"

"नानक का विवाह है।"

"तो जाओ उनको कहो ज़ल्दी घर में आ जायें। यहाँ भी आज गाना होने वाला है।"

"गाना? क्यों क्या है यहाँ?"

"मेरा विवाह होने वाला है।"

"विवाह !" सोहन खिलखिला कर हंस पड़ा, "बाबा ! किससे विवाह कराओगे ?"

"तुम्हारी परदादी से । कभी देखा है उसको ?"

सोहन को इन बे-सिर पैर की बातों से भय लग गया। उसकी परदादी की मृत्यु तो उसके बाप के पैदा होने से पहले हो चुकी थी । इससे वह भागा हुआ पड़ोसियों के घर माँ और दादी को बुलाने चला गया ।

कर्मसिंह की आयु पचानव्वे से ऊपर हो चुकी थी । उसके तीन लड़के और एक लड़की थी । लड़की सबसे छोटी थी और उसका विवाह अमृतसर में एक तहसीलदार के लड़के से हुआ था । कर्मसिंह के लड़कों में से सबसे छोटे लड़के मदनसिंह का देहान्त हो गया था और दूसरे दो लड़के बाप से लड़कर पृथक् हो चुके थे । उन्होंने बूढ़े बाप में अपनी विधवा पतोहू और उसके एक लड़के बिहारीसिंह के प्रति अधिक स्नेह देख पृथक् हो जाना ही ठीक समझा था । लड़के के देहान्त के समय कर्मसिंह की आयु ६० वर्ष की थी ।

जब दूसरे लड़के, सखनसिंह और मक्खनसिंह जिन के घर भी लड़के-लड़कियाँ उत्पन्न हो चुके थे, पृथक् होने लगे तो बाप से जायदाद में हिस्सा-पत्ती माँगने लगे । तब कर्मसिंह ने साफ कह दिया, "कुछ भी नहीं मिलेगा । अपना कमाओ और खाओ ।" लड़के अपने पिता के स्वभाव और विचारों को जानते थे । इस कारण दोनों ने अपने पृथक्-पृथक् खेत ले लिए थे और बाप के इनकार करने पर बिना कुछ लिये ही अलग-अलग खेती बाड़ी करने लगे और अपने पृथक्-पृथक् मकान बनाकर रहने लगे ।

सखनसिंह और मक्खनसिंह की औरतें बँटवारे के लिए झगड़ा करने की राय देतीं परन्तु दोनों भाइयों ने वृद्ध बाप को तंग करने का विचार छोड़ अपनी पत्नियों को ही समझा दिया कि आखिर बूढ़ा मरेगा । ज़मीन छाती पर रखकर ले जा नहीं सकेगा । उनका विचार था कि अधिक-से-अधिक दस वर्ष तक और जीयेगा ।

कर्मसिंह को कोई ऐब तो था नहीं । न तो वह शराब पीता था और न ही किसी अन्य प्रकार की फिजूल खर्ची । वह अक्ल का धनी और गाँठ का पक्का

था। सौ एकड़ भूमि पर लाठी लिए घूमता था और तीन हजार मन गेहूँ तथा अन्य अनाज उत्पन्न कर लिया करता था। घर पर गाय-भैंस पलती थी और घर के कुएँ के पास साग-सब्जी पैदा होती थी। केवल कपड़ा और नमक-मिर्च बाजार से लेनी पड़ती थी।

इस कारण धन एकत्रित हो रहा था। परमात्मा ने सखनसिंह और मक्खनसिंह का भाग्य भी उज्ज्वल कर दिया था। धीरे-धीरे वे दोनों भी अमीर हो रहे थे।

कर्मसिंह का अपने दोनों लड़कों से द्वेष नहीं था। वह उनकी सहायता के लिये भी सदैव तत्पर रहता था। केवल वह अपनी जायदाद को अपने जीवन काल में बाँटना नहीं चाहता था। उसका यह विचार था कि जब तक वह भूमि और धन का मालिक है तब तक पोते, पोतियाँ सब उसकी सेवा करेंगे, कहा मानेंगे और मरने पर भी उसकी आत्मा के लिए प्रार्थना करेंगे। यदि उसने सब कुछ बाँट दिया तो उसको पानी पिलाने वाला भी कोई नहीं रहेगा।

यह बात बहुत सीमा तक ठीक थी। सायंकाल जब वह खेत से लौटकर आता तो उसके स्वर्गवासी पुत्र की बहू और लड़का तो उसकी सेवा करते ही थे। साथ ही अब उसके बड़े लड़कों की बहुएँ और पुत्र भी आते और उसके पाँव दबा जाते थे। कर्मसिंह भी ऋतु के अनुसार कभी पिन्नियाँ, कभी बूंदी के लड्डू, कभी पेड़े और कभी बर्फी बनवा रखता था और जो उसके पास आता उसको खाने के लिए देता था। कभी उसके पुत्र और पोते कहते भी, "बाबा, अपने जीते जी सब बाँट जाओ, नहीं तो पीछे झगड़ा होगा ?"

"सखन !" वह कह दिया करता, "अपनी भावज पर विश्वास रखो। वह देवी है।"

इस पर भी जब किसी पोते अथवा पोती का विवाह होना होता, वह सब खर्चा अपने पास से करता था। इस प्रकार परिवार का कार्य चलता जाता था। मदनसिंह की मृत्यु के समय उसका लड़का बिहारीसिंह, पाँच वर्ष का था और कर्मसिंह अपने लड़के की बहू के शोक को कम करने के लिये बिहारीसिंह से विशेष प्यार करता था। उसकी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता था। मदनसिंह

की बहू भी कर्मसिंह की ऐसी सेवा करती थी मानो उसकी लड़की ही हो।

: २ :

बिहारीसिंह जब बड़ा हुआ तो उसका विवाह कर दिया गया। बहुत ही सुन्दर और सुघड़ वहू घर में आई। वह जालन्धर शहर के रहने वाले एक दुकानदर की लडकी थी। नाम था जसवीर कौर। इससे पहले घर की सब बहुएं गाँवों अथवा किसानों की लड़कियाँ ही थीं। जसवीर कौर पहली बहू थी जो नगर की रहने वाली थी और साथ ही स्कूल की नौवीं श्रेणी तक पढ़ी भी थी।

उसने आते ही अपने कपड़े, आभूषण और जिस पर भी उसका हाथ जाता अपने अधिकार में करने आरम्भ कर दिये। कर्मसिंह को उसपर सन्देह हुआ तो उसने अपने स्वर्गवासी लड़के की बहू, सुन्दरी को बुलाकर कहा, "बेटा सुन्दरी! मेरी जेब में से रेज़गारी गायब होने लगी है। कल मैं दस का नोट लेकर एक धोती का दाम देने के लिये गया था। उसमें से चौदह आने मेरी जेब में थे। आज एक पैसा भी नहीं।"

"भापा! मैंने नहीं लिये।"

"यह मैं जानता हूँ। तुमको इस घर में आये अढ़ाई वर्ष हो चुके हैं। एक पैसे का हेर-फेर नहीं हुआ। अब यह नगर की छोकरी आई है। इससे सावधान रहना चाहिये।"

बात बिहारीसिंह के कान मे पहुँची तो वह अगले दिन भापा के पास चौदह आने लेकर आ गया। उसने बाबा के पाँव पकड़े और अपनी बहू के लिये क्षमा माँगी। उसने कहा, "बाबा! वह शहर की रहने वाली देहातियों के चलन को नहीं जानती। मैंने उसको समझा दिया है और अब वह ऐसा नहीं करेगी।"

"देखो बिहारी! अगर फिर तुम्हारी बहू ने ऐसा किया तो तुमको भी तुम्हारी बीवी के साथ नगर में भेज दूँगा। वहाँ पर जाकर कमाना और खाना।"

"बाबा! वह कहती है कि आपके दोनों पुत्रों ने पृथक्-पृथक् होने से पहले ही अपने-अपने खेत खरीद लिये थे। वे कहाँ से लेकर खरीदे थे? वह भी अपने लिये पृथक् खेत खरीदने के लिये रुपया इकट्ठा करने लगी थी।"

"तो उसको कह दो कि वे दोनों अपने ससुराल से रुपया लाये थे। ससुराल का रुपया उन्होंने खेत खरीदने में लगा दिया था। उन खेतों पर वे मेहनत-मजदूरी करते थे और वहाँ की कमाई फिर खेतों पर लगाते जाते थे। चार-पाँच सौ रुपये से आरम्भ कर अब वे पचास-पचास एकड़ भूमि के मालिक हो गये हैं। जसवीर भी अपने भूषण बेचकर भूमि खरीद सकती है। साथ ही तुम भूमि पर मेहनत कर धन पैदा कर सकते हो।"

"पर बाबा ! तब बीस से तीस रुपये में एक बीघा भूमि मिल जाती थी, पर अब तो एक बीघा का मूल्य भी पाँच सौ रुपया से ऊपर हो गया है।"

"ठीक है। तब सोने का मूल्य बारह से पन्द्रह रुपये तोला होता था, अब उसका मूल्य अस्सी रुपये तोला है ! बिहारी तुम्हारे श्वसुर ने जो दिया है सब मुझको मालूम है और उसमें से सब कुछ तुम्हारी बहू ने सन्दूक में बन्द कर रखा है।"

जसवीर कौर समझ गई कि बूढ़ा इस प्रकार काबू में नहीं आयेगा। उसने दूसरा ढंग रचा। उसने उस ताले की दुहरी चाबी बनवाई जो उस कोठरी में लगा था, जिसमें पूर्ण घर की सम्पत्ति रखी जाती थी। ताली की मोम पर छाप लगा, उसने अपने छोटे भाई के हाथ शहर भेज दी और वहाँ से चाबी बनकर आ गई।

गरमी की ऋतु में जब घर के सभी प्राणी घर की छत पर सोते थे, एक रात जसवीर नीचे आई और ताला खोल तोपखाने की तलाशी लेने लगी। एक लोहे का सन्दूक था। उसको भी ताला लगा था। उस ताले की चाबी उसने कभी नहीं देखी थी। उसे कर्मसिंह सदा अपनी कमर से बाँधकर सोता था। अतः सब परिश्रम व्यर्थ गया।

इस पर भी जसवीर कौर ने अपने श्वसुर की पूर्ण चल-संपति उड़ाने का विचार छोड़ा नहीं। वह उस चाबी पर अधिकार पाने का अवसर ढूँढने लगी। वह अवसर तब मिला जब जसवीर के एक लड़की और फिर एक लड़का भी होकर आठ वर्ष का हो गया था। तब तक कर्मसिंह की दृष्टि दुर्बल हो चुकी थी और हाथ-पाँव भी शिथिल पड़ने लगे थे। अब वह खाट के साथ लग गया

था। केवल टट्टी-पानी के लिए ही उठता-बैठता था।

अभी भी पोते परपोते आते थे और कर्मसिंह के पाँव दबा जाते थे। कोई आकर उसके कपड़े धो देता और कोई उसको नहला जाता तो कोई खाना आदि खिला जाता था। इसी सेवा के लोभ में वह संपत्ति को बाँटता नहीं था।

एक दिन अवसर मिला और चाबी जसवीर कौर के हाथ लग गई। बूढ़ा जब सोने के लिए बाहर गया तो उसकी कमर से चाबी गिर पड़ी। उसे पता नहीं चल सका। जसवीर कौर ने चाबी उठा ली। किसी ने देखा भी नहीं। उसने कोठरी खोली और फिर सन्दूक भी खोल लिया। सोना, चाँदी, नोट देखे तो जसवीर कौर कितनी देर तक मुग्ध हो देखती रह गयी। फिर उसने अपनी चादर का आँचल बिछा दिया—और जितना उसमें बाँध सकती थी, बाँधकर कमरे में ले गई। तदुपरान्त उसने सन्दूक और कोठरी को बन्दकर सन्दूक की ताली वहीं भापा की खाट पर रख दी, जहाँ वह गिरी थी।

चाबी रख वह अपने कमरे में चोरी का सामान सन्दूक में बन्द कर रही थी कि बिहारीसिंह की नींद खुल गई और वह अपने कमरे में दीपक का प्रकाश देख, झाँककर सब कुछ समझ गया। उसके मन में आया कि बीवी को पकड़कर और धक्के देकर घर से निकाल दे, परन्तु उसको अपने बच्चों की माँ पर दया आ गई। उसने कमरे के बाहर खड़े-खड़े ही योजना बना ली और लौट गया। उसके मकान की छत पर सोने के लिए जाने के आधा घन्टा पश्चात् जसवीर कौर ऊपर आई।

अगले दिन बिहारीसिंह ने, जब जसवीर कौर सो रही थी, उसके सन्दूक की, जिसमें सोना चाँदी और नोट छिपाकर रखे थे, चाबी ली। उसने सब वस्तुएँ निकाल लीं और लगभग उतने ही वजन के ईंट के कंकड़ आदि सन्दूक में भर दिए।

वह सब सामान बिहारीसिंह ने एक गठरी में बन्दकर अपनी माँ के सन्दूक में रख दिया। माँ के सन्दूक को ताला नहीं लगता था। उसकी माँ को अपने चार कपड़ों को ताला लगाने की आवश्यकता भी अनुभव नहीं होती थी।

अगले दिन जसवीर कौर का भाई आया तो जसवीर कौर ने अपना सन्दूक

उठवा कर जालन्धर भेज दिया और कहला भेजा कि जब वह आयेगी तो स्वयं ही उसे खोलेगी । उसकी अनुपस्थिति में उस सन्दूक की रक्षा की जाए ।

जसवीर कौर के भाई ने सन्दूक के भारीपन का अनुभव कर पूछ लिया, "बहिन ! क्या है इसमें ?"

"इसमें मेरे आभूषण हैं । ध्यान रखना ।"

: ३ :

सुन्दरी ने अपना सन्दूक खोला तो उसमें आभूषण, सोना-चांदी और नोटों के बण्डल देख वह घबरा गई । उसने कभी इतना धन देखा नहीं था । वह कितनी ही देर तक तो उस सब को देख-देख समझने का यत्न करती रही कि वह सब कहाँ से आ गया । जब कुछ समझ नहीं सकी तो अपने लड़के बिहारी-सिंह के, खेतों से लौटने की प्रतीक्षा करने लगी । जसवीर रोटी बना रही थी । सोहन और गुरनामकौर रसोईघर में बैठे खाना खा रहे थे । बाहर कर्मसिंह से मिलने के लिए सखनसिंह और उसकी पत्नी आये हुए थे । कुछ बच्चे भी अपने बाबा के पास बैठे उसकी बातें सुन रहे थे ।

सुन्दरी ने बिहारी को जब वह वापस घर आ गया, इशारे से भीतर बुला-कर अपने सन्दूक में रखी हुई वस्तुएँ दिखाईं तो बिहारीसिंह ने सब बात अपनी माँ को बता दी । उसने यह भी बताया, 'माँ ! सोहन की माँ ने किसी भांति ताला खोला है और यह सब बाबा की कोठरी से निकाल लिया है ।"

"तुम कैसे जानते हो यह ?"

"जब से बाबा की नजर दुर्बल हुई है, मैं ही सन्दूक में रखता निकालता हूँ । इन आभूषणों को मैं भली-भाँति पहचानता हूँ । यह सोने की डली मैं पिछले वर्ष गेहूँ बेचकर अमृतसर से लाया था ।"

"तो इसका मैं क्या करूँ, तुमने मेरे सन्दूक में क्यों रख दिया है यह सब ?"

"माँ ! मैं विचार कर रहा था कि जिस दिन बाबा कुछ भीतर रखने को अथवा भीतर से निकालने को चाबी देंगे तब मैं यह सब कुछ चुप-चाप भीतर रख दूंगा । मुझे जसवीरकौर से झगड़ा करना ठीक प्रतीत नहीं हुआ । वह मूर्ख है, परन्तु मुझसे अधिक पढ़ी है । मैं जब उसको कुछ समझाने लगता हूं तो

समझा नहीं पाता।"

"अच्छा तो मैं इस ट्रंक को ताला लगा दूँ। मुझको भय है कि कहीं तुम्हारी बहू को संदेह हो गया तो वह यहाँ से भी चुरा लेगी।"

"माँ ! यदि ताला लगाया तो वह सन्देह करने लगेगी। मेरा विचार है कि तुम तनिक सतर्क रहना। बनिया सौ मन मकई के दाम देने के लिए आयेगा, तब मैं बाबा से चाबी मागूँगा। उसी समय यह सब भी वहीं पर रख दूँगा।"

अवसर मिलते ही सारा सामान रख दिया गया। कर्मसिंह कुछ दिन से कह रहा था कि उसके पाँव ठण्डे रहने लगे हैं। आज मध्याह्नोत्तर उसने एकाएक सोहन को कहा, "जाओ, माँ दादी को बुला लाओ।"

सोहन भागा-भागा गया और माँ और दादा को बुला लाया। सुन्दरी ने आते ही पूछा "भापा ! क्या बात है ?"

कर्मसिंह हँसा और बोला, "अपने देवरों को बुलवा लो। बिहारी को भी बुला लो। मैं समझता हूँ कि चलने का समय आ गया है।"

"नहीं बाबा !" जसवीर ने कहा, "अभी तो वाहे गुरु की कृपा है। वैसे ही आपको कुछ भरम हो गया है।"

"नहीं। जसवीर ! बैठे जाओ और जापजी साहब का पाठ करो।"

जसवीर कौर भीतर चली गई। हाथ मुँह धो, चटाई ले आई और चटाई को बाबा की खाट के पास बिछा जापजी साहब की पुस्तक निकाल कर पाठ करने लगी।

"एक ओंकार। सत नाम। कर्ता पुरुष निभौं निर्भर। अकालमूर्त अजूनीसई भंग गुरु प्रसाद जप आदि सच गुरादि सच।"

जसवीर कौर पढ़ ही रही थी कि सोहन अपने बाबा के भाइयों और अपने भाई के पिता को बुला लाया।

जब तक जसवीर कौर पढ़ती रही, सब चुप-चाप बाबा की खाट के चारों ओर बैठे रहे। कर्मसिंह को उठाकर खाट पर बैठा दिया गया था। सखनसिंह अपने पिता की पीठ के पीछे उसको आश्रय देकर बैठा था। कर्मसिंह शांत-

भावसे सुन रहा था। जसवीर कौर आगे पढ़ रही थी—

"जात पहारा धीरज सुनार अमरन पुत्त वेद हथियार
भय खला अगां जप ताओ भायां भाओ अमृत तिहि ढाल
घड़िया शब्द सभी टकसाल। जान को जानदार कर्म तिन कार
नानक नादरी नादर निहाल ॥

अब सब वाहे गुरु, वाहे गुरु कहने लगे। इस समय कर्मसिंह ने कुछ कहा। जब उसके होंठ फड़के तो सब चुप हो गये। सखनसिंह, जो उसके पीछे उसको ढासना देकर बैठा था, कान के समीप झुक कर बोला, "भापा !"

कर्मसिंह ने कहा, "सखन।"

"हाँ भापा ?"

"मक्खन को बुलाओ।"

"यह बैठा है।"

"बिहारी ?"

"बैठा हूँ भापा ?"

"सुनो मेरी जेब से चाबी निकाल लो। देखो ! धर्म पर अड़े रहना।"

एक क्षण तक चुप रहने के बाद कर्मसिंह ने कहा, "जसवीर कौर !"

"हाँ बाबा !"

"इस समय सब कुछ यहाँ ही रह गया है। सुन रही हो ?"

"हाँ बाबा !"

"दया, धर्म, दान और क्षमा ही साथ जा रहे हैं। समझी हो ?"

"हाँ बाबा !" उसके मुख का रंग पीला पड़ रहा था।

कर्मसिंह ने कहा, "देखो ! लड़ना नहीं। वाहे गुरु तुम सबको बुद्धि दे।" इसके साथ ही कर्मसिंह की गर्दन लुढ़क गई

: ४ :

सखन ने बाबा की जेब से चाबी ले सुन्दरी को दे दी। वह नहीं चाहता था कि बँटवारे से पहले चाबी उसके पास रहे।

बाबा की अर्थी बड़ी धूम-धाम से उठी, बाजे बजे, अर्थी पर झंडियाँ और

गोले लगाये गए। फूल-मखाने और छुहारे निछावर किये गए। आगे-आगे कीर्तनमंडली थी। पीछे-पीछे औरतें शब्द गा रही थीं। सारा गाँव बूढ़े की अर्थी के साथ था। गाँव में सिक्खों के अतिरिक्त हिन्दू भी रहते थे। अर्थी श्मशान के बाहर पहुँची तो एक हिन्दू ने कह दिया, "शोर न मचाओ, कीर्तन सुनो।"

संस्कार हुआ। कड़ाह-प्रसाद बाँटा गया। सब ने खाया और सत श्री अकाल के अभिवादन के पश्चात् सब घर लौटे। घर पर ग्रन्थ साहब का पाठ रखाया गया और तेरहवें दिन पाठ का भोग पड़ा। उस दिन भोज हुआ। सारे परिवार और गाँव के सब लोगों को भोज खिलाया गया।

उस दिन सायंकाल परिवार के सब लोग घर में एकत्रित हुए। कर्मसिंह की लड़की कुलवन्ती अपने घर वाले सरदार समुन्दरसिंह और अपने लड़के, उसकी बहू और पोतों के साथ आई हुई थी।

सखनसिंह सबसे बड़ा था। उसने सबके सामने अपनी छोटी भाभी को संबोधित कर पूछा, "भाभी! हम सब अपनी जायदाद में हिस्सा लेने आये हैं। क्या है भापा के पास?"

"भैया!" सुन्दरी ने कहा, "मैं सौगन्धपूर्वक कहती हूँ कि मैंने आज तक नहीं देखा कि उनके पास क्या है और कितना है। हाँ! बिहारी जरूर उसमें रखने और निकालने जाता है। भापा की चाबी आपने मुझको दी थी। वह यह है। अब आप ही देख लो।"

"क्यों बिहारी! क्या है और कहाँ है?"

"ताया जी! सब कुछ ठीक है। आप सब कुछ पहले विचार कर लें कि किस किस को क्या-क्या और कितना-कितना लेना है।"

"हाँ! बिहारी ठीक कहता है। कुछ तो है ही। भूमि भी है। किस प्रकार बँटवारा होगा, यह लिख-पढ़ लो। तब जो कुछ नकद निकले और जो कुछ भूमि का दाम लगे सब जमा कर लो। फिर लिखे अनुसार सबको मिल जाये।"

इस पर हिस्सेदारों के नाम लिखे जाने लगे। समुन्दरसिंह ने पूर्ण जायदाद के चार हिस्से करने चाहे।

"चौथा किसका?" मक्खनसिंह ने पूछ लिया।

"तुम्हारी बहिन का ?"

सब चुप रहे। कुलवन्ती ने जब से उसका विवाह हुआ था, एक दिन भी अपना मुख गाँव में आकर नहीं दिखाया था। सोहन ने शान्ति को भंग करते हुए कह दिया, "बाबा ! मैं बताऊँ ?"

"क्या बताओगे ?"

"घर के बच्चे-बूढ़े, मर्द-औरतें सब मिलाकर हम पैंतीस बंदे हैं। जो कुछ नकद हो उसके पैंतीस हिस्से कर दिये जायें।"

"ओ सोहनू ! यह धर्म-शास्त्र तुझको किसने सिखाया है ?" सरदार समुन्दर सिंह का विचार था कि जसबीर कौर ने ही उसको सिखाया होगा, इससे उसने पूछ लिया।

सोहनसिंह ने कह दिया, "एक दिन बाबा मुझको यह सब बता रहे थे। वे सब की गिनती करके बोले कि हम सब पैंतीस बन्दे हैं। सबको बराबर-बराबर मिलना चाहिए। सब ने ही उसकी बराबर सेवा की है। नकदी सब उनकी कमाई है। वह सब में बांट दी जाए। भूमि उनके पिताजी की है, इसके तीन हिस्से किये जायें।"

इस बात को सुन तो सबने कह दिया, "बाबा की इच्छा पूर्ण की जाये।" इस प्रकार सबसे कम भाग मिलने वाला था मदनसिंह के परिवार को। वे वल्न पाँच प्राणी थे। इनकी तुलना में सखनसिंह के घर के चौदह प्राणी थे और मक्खनसिंह के घर के सोलह थे। इस पर सखनसिंह ने अपनी भाभी सुन्दरी से पूछ लिया, "भाभी ! क्या कहती हो तुम ?"

सुन्दरी ने दीर्घ निःविश्वास छोड़कर कहा, "जब भापा की यह इच्छा है तो मैं कैसे अस्वीकार कर सकती हूँ ? तुम सब जो कुछ भी दोगे मैं बड़ों का आशीर्वाद समझकर ले लूँगी।"

सखनसिंह को उसके पिता ने एक बार कहा था, 'अपनी भाभी पर विश्वास रखो। वह देवी है।' आज उसकी समझ में आया कि भापा सत्य कहता था। उसने कह दिया, "भाभी ! मैं जानता हूँ कि तुमको हानि हो रही है। इस पर भी यह विश्वास रखो कि वाहे गुरु सब ठीक करेगा। भापा की इच्छा का

पालन होने दो।"

"कैसे पालन होने दें। इन पैंतीस में मेरी और मेरे बच्चों की गिनती नहीं है।"

"परन्तु तुम हो कौन ?" सोहन ने कह दिया, "तुमको कभी देखा नहीं। कभी तुम्हरी बात तक सुनी नहीं।"

"मैं तुम्हारे बाबा का बहनोई हूँ। जानते हो ? सरकार ने कानून बना दिया है कि लड़की का लड़कों के बराबर हिस्सा होता है।"

इस पर मक्खनसिंह की पत्नी ने कह दिया, "बहिन कुलवन्ती अपने पति के ही बुजुर्गों की जायदाद में से लेगी। हमको अपनी जायदाद में से लेने दो।"

समुन्दरसिंह ने खड़े होकर कह दिया, "देखो ! मैं अभी थाने में रपट लिखाने जाता हूँ। किसी ने मेरी अनुपस्थिति में तोप खाना खोला तो हथकड़ी लगवा दूँगा। कुलवन्ती ! तुम यहीं बैठना, मैं जा रहा हूँ।"

सखनसिंह इस झगड़े से बाप की और परिवार की बदनामी समझता था। इसलिए उसने हाथ जोड़कर समुन्दरसिंह की मिन्नत खुशामद करनी आरम्भ कर दी। उसने कहा, "जीजा ! आप बैठिए। बताइए आप क्या चाहते हैं ?"

"मैंने बताया है कि जायदाद के चार भाग होने चाहिएँ। उसके पश्चात् अपने हिस्से में से अपने लड़के-लड़कियों को दिया जाये। बच्चे तो जने तुम्हारी बीवी और हिस्सा जाये मेरा ? ऐसा नहीं हो सकता।"

मक्खनसिंह की पत्नी को इस कटाक्ष पर क्रोध चढ़ आया। उसने कह दिया, "मैं सब फूँककर स्वाहा कर दूंगी, पर इस हमारे बच्चों की गिनती करने वाले को एक पाई भी नहीं लेने दूँगी। भापा के जीवन काल में तो एक दिन भी नहीं आए और अब आये हैं जायदाद के मालिक बनकर।"

"जाओ बहिन। अब चुपचाप चली जाओ, नहीं तो फौजदारी हो जायेगी।"

समुन्दरसिंह उठकर घर से निकल गया। सब यह समझते थे कि वह थानेदार को बुलाने गया है। इस पर सब सुन्दरी का मुख देखने लगे। चाबी अभी भी सुन्दरी के पास थी। सुन्दरी ने अपने जेठ से कह दिया, "भैया ! आज यह बटवारा नहीं होगा। इससे आज सब आराम करो। कल किसी को बीच में सरपन्च डाल लेना और उसके कहे मुताबिक बँटवारा कर लेना।"

मक्खन सिंह ने पूछा, "भाभी ! तुम जायदाद में समुन्दरसिंह का हिस्सा समझती हो ?"

"भैया ! यह मेरे समझने की बात नहीं। बात आपकी और आपकी बहिन तथा बहनोई के समझने की है। उसको समझाने का एक ही तरीका है। किसी को पंच बनाकर उसके फैसले पर फूल चढ़ाओ।"

"मेरी तो राय है कि सन्दूक खोलकर सब को निकाल कर उसके आने से पहिले ही बाँट लिया जाए।"

"यह तो पाप हो जाएगा। ऐसा आप नहीं कर सकोगे। पहले मेरी हत्या करनी होगी तब कोठरी का ताला खुलेगा।"

सखनसिंह ने बात सम्हाली। उसने मक्खनसिंह से कहा, "भाभी ठीक कहती है। झगड़ा कर कचहरी मे वक्त और रुपया बरबाद करने की क्या जरूरत है ?"

"पर भाभी ! जमीन भी बाँटी जाएगी क्या ?"

"हाँ। नहीं तो सरकार तीस एकड़ से अधिक लेने का कानून बना रही है।"

इस पर दोनों भाई उठकर बाहर चले गए। परिवार की स्त्रियाँ और शेष मर्द कोठरी के बाहर लेटे रहे। सुन्दरी उठकर अपने कमरे में चली गयी। उस समय जसवीर कौर अपनी सास के पास आ पहुंची और बोली, "माता जी ! आप क्यों झगड़ा मोल लेती हैं। चाबी अपने जेठ के सामने रख दें। भगवान जाने बीच में कुछ है भी या नहीं ?"

सुन्दरी की समझ में आ गया कि जसवीर कौर क्यों ऐसा कह रही है। वह सोचती थी कि जसवीर को अभी भी विश्वास है कि भीतर कुछ नहीं और सब कुछ वह निकाल कर ले जा चुकी है। इससे वह मुस्करा दी और बोली, "बहू ! भगवान और धर्म कुछ है भी या नहीं ? सारे परिवार की अमानत मैं किस को दे दूं ?"

जसवीर कौर यह सुन कर उठी और बाहर चली गई। बिहारीसिंह आया तो उसने माँ को एक दूसरी ही बात कह दी। उसने कहा, 'यह सोहन ने सब गड़बड़ कर दी है। अब उसके यह कहने पर कि बाबा की यही इच्छा थी,

हमको सबसे अधिक हानि रहेगी।"

"बेटा मैं तो कुछ जानती नहीं। मेरे लिए तो वे पूज्य थे। इससे मैं उनकी बात पर फूल चढ़ाये बिना नहीं रह सकती। रही हानि-लाभ की बात। धन प्रभु की माया है। सब के पास एक समान नहीं होता। न ही यह सदा रहता है। जितना अपने इन दो हाथों से कमाया जा सकता है उस पर ही सन्तोष करना चाहिए।"

"मैं तो समझता हूँ कि मैंने सब कुछ फिर बीच में ही रखकर भूल की है।"

"पर मैं समझती हूँ कि तुमने अमानत को ठीक जगह पर पहुंचाकर धर्म का काम किया है"

जसवीर कौर पहले तो अपने सब कुछ ले जाने पर बहुत प्रसन्न थी। परन्तु फिर अपनी करतूत का भेद खुल जाने के भय से खाट पर लेट रही। वह कभी सोचती थी कि उसने ठीक ही किया है जो सब कुछ पहले ही से निकालकर ले गई है। फिर सोचती कि जब घर वालों को पता चलेगा कि अन्दर तो कुछ भी नहीं, तो खूब हो-हल्ला होगा। यह भी सम्भव है कि हत्याएँ भी हो जायें। इसी सम्भावना पर भयभीत हो वह अपने किए पर पाश्चात्ताप करने लगी।

: ५ :

समुन्दरसिंह थानेदार के पास गया तो वह गाँव के सरपंच को लेकर उसके साथ चल पड़ा। घर पर पहुँचा तो देखा कि परिवार के सब प्राणी कोठरी के बाहर बैठे थे। कोठरी का ताला लगा था। सरपंच ने एक ऊँची चौकी पर बैठकर पूछा, "क्या झगड़ा है ?"

सखनसिंह ने अपनी बात कह दी। इस पर समुन्दर सिंह ने कह दिया, "कर्मसिंह ने मरने के समय सखनसिंह को चाबी देते हुए कहा था, 'धर्म पर खड़े रहना।' परन्तु अब ये लोग धर्म से बदल रहे हैं।"

सरपंच ने पूछा, 'क्यों मक्खनसिंह ! क्या यह सरदार ठीक कहता है ?'

"जी हाँ ! यह ठीक कहता है।"

"तो फिर बात क्या है ? तुम सब समझदार हो। धर्म पर खड़े रहो और

अपना-अपना हिस्सा ले लो।"

समुन्दर सिंह ने कह दिया, "ये जायदाद के पेंतीस हिस्से करना चाहते हैं। और बालवृद्ध सबको बराबर बराबर हिस्सा देना चाहते हैं।"

"क्यों ?"

"इसलिए," सोहन ने फिर आगे बढ़कर कह दिया, "कि बाबा ने एक दिन कहा था कि नगदी सब मेरी कमाई है। यह मैं उन सबको देता हूँ जिन्होंने मेरी सेवा की है। बाबा ने पैंतीस की गिनती करके कहा था कि सब ने मेरी सेवा की है, सबको ही बराबर-बराबर हिस्सा मिलना चाहिए। भूमि के विषय में कहा था कि यह उनके पिता की है। इसलिए इसके तीन हिस्से कर उनके तीन बेटों को दी जायेगी।"

"यह तुम सत्य कहते हो ?"

"हाँ चौधरी जी ! मैं गुरुमहाराज की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि बाबा ने यही कहा था।"

"तुम किसके बेटे हो ?"

"बिहारी सिंह का।"

"कितने भाई-बहिन हो ?"

"हम दो ही हैं। मेरी एक बहिन है।"

"तो तुम को तो कुछ भी नहीं मिलेगा ?"

"पर चौधरी यह धर्म की बात हो रही है, मिलने मिलाने की नहीं।"

जसवीर इस समय सब से पीछे खड़ी रो रही थी। चौधरी ने उसको देखा तो पूछ लिया, "तुम क्यों रोती हो ?"

उत्तर समुन्दरसिंह ने कह दिया, "यह सोहन इसी का बेटा है और इसके कहने से इस बेचारी को सबसे कम मिलेगा। सखन के घर के चौदह प्राणी हैं। मक्खन के सौलह हैं और इसके घर के केवल पाँच। इसलिए यह रोती है।"

"और तुम कौन हो ?"

"मैं कर्मसिंह का दामाद हूँ। मेरी पत्नी कुलवन्ती का इस बँटवारे में कहीं ज़िकर ही नहीं।"

"अच्छा ! कल पंचायत होगी और फैसला होगा। चाबी किसके पास है ?"

"भाभी सुन्दरी के पास।"

"चाबी मुझको दे दो। कल सब पंचों के सामने कोठरी खोली जाएगी।"

सुन्दरी ने कोठरी और सन्दूक की दोनों चाबियाँ सरपंच को दे दीं। थानेदार ने एक सिपाही को वहाँ बैठा दिया, जिससे फौजदारी न हो जाए।

अगले दिन गाँव की पंचायत बैठी। सबसे पहले सुन्दरी के बयान हुए, फिर समुन्दरसिंह ने अपनी माँग उपस्थित कर दी। उसने कहा कि सब चल और अचल सम्पत्ति के चार भाग होने चाहिए। तीन तो कर्मसिंह के पुत्रों के लिए और एक उनकी पुत्री के लिए।

इसके पश्चात् सखनसिंह और मक्खनसिंह के बयान हुए। बिहारीसिंह के बयान हुए। बिहारीसिंह ने केवल इतना कह दिया, "धर्म जो कहता है, वह मुझको मंजूर है।"

इसके बाद पंचायत ने सबको बाहर निकाल दिया और पंचायत में बहुत वाद-विवाद के बाद फैसला हुआ। फैसला सुनाते हुए सरपंच ने कहा—

"पंचों ने सोहन के बयान को सच्चा माना है। इसलिए धर्म यह है कि चल सम्पति के पैंतीस भाग किए जायें। मर्द-औरतें बाल-वृद्ध सबको एक-एक हिस्सा दिया जाये। स्वर्गवासी जीव का कहना था कि ये पैंतीस हो उसकी सेवा करते रहे हैं और इनको ही उसकी जायदाद का हिस्सा दिया जाये। इनमें कुलवन्ती अथवा उसके बच्चों का कोई हक नहीं है।

"शेष रही ज़मीन की बात। धर्म से तो तीन हिस्से बनते हैं। कानून से चार। हम कानून से धर्म ऊँचा मानते हैं। इस कारण हमारा फ़ैसला है कि तीन हिस्से ही तीनों भाइयों को मिलें। धर्म से लड़की का कोई हिस्सा नहीं बनता।

"इस पर भी यदि कुलवन्ती धर्म पर फूल नहीं चढ़ाती तो वह अदालत में जा सकती है।"

इसके बाद समुन्दरसिंह ने कह दिया, "मैं पंचायत के फ़ैसले की जजी में अपील करूँगा। इसके लिए कुछ खुर्द-मुर्द न की जाय।"

इस पर सरपंच ने आज्ञा दे दी कि पंचों के सामने सब वस्तुओं की सूची

बन जाये और उन वस्तुओं को किसी के पास अमानत रूप में रख दिया जाये।

ऐसा ही किया गया। पूर्ण सम्पत्ति सोना चाँदी और नकदी तोली और गिनी गई। साथ ही उसकी सूची बनाकर सबके हस्ताक्षर करा लिये गये। सब सामान सुन्दरी के हवाले कर उससे रसीद बनवा ली गई। सरपंच ने पंचायत का फैसला लिखकर नीचे लिख दिया कि तीन महीने में जिसे अपील करनी हो कर दे अथवा यही फैसला पक्का होगा।

जब सब विदा हो गये तो जसवीरकौर ने अपने पति से कहा, "आपने ज़मीन पर जो मेहनत की और खून पसीना एक किया आपको उसका क्या मिला?"

"मुझको धर्म का फल मिलेगा।"

"मैं यह धर्म-कर्म व्यर्थ की बात मानती हूँ। मुझको पहले ही इस बात की आशा थी कि हमें कुछ भी नहीं मिलेगा। हमारी मेहनत और सेवा सब हराम में जायगी। इसलिए मैंने भी अपना धर्म पालन किया है। अपनी मेहनत का फल मैंने पहले ही निकाल लिया है।"

जसवीर कौर का विचार था कि उस दिन जल्दी-जल्दी में उसने बहुत कुछ पीछे भी छोड़ दिया है। इस पर भी उसके मनमें सन्तोष था कि उसने बहुत कुछ, अपने भाग का, पहले ही निकाल लिया है। अब उसने अपनी कार-गुज़ारी अपने पति को भी बता दी।

बिहारी ने पहले तो यह उचित समझा कि वह भी अपनी कार-गुज़ारी बता दे, परन्तु फिर कुछ विचार कर उसने पूछा, "सत्य है?"

"जी हाँ! मैं आपकी तरह बुद्धू नहीं हूँ।"

"एक दिन चलकर दिखाओ तो सही कि कितना ले गई थीं"

समय पाकर जसवीर कौर अपने पति को लेकर अपने बाप के घर गई और संदूक निकालकर ताली खोल देखने लगी तो भौंचक्की हो देखती रह गई। बिहारीसिंह उसके पीछे खड़ा था। उसने अपने मन की बात छिपाते हुए पूछ लिया, "जसवीर! क्यों, क्या हुआ है?"

"किसी ने सोना-चाँदी सब निकाल लिया है और कंकड़ आदि भर दिये हैं।"

"किस ने भर दिये हैं?"

"मेरे पिताजी ने ही ऐसा किया होगा ?"

"मेरा मन कुछ और ही कहता है ।"

"क्या ?"

"यही कि परमात्मा ने तुम्हारे इस काम को अधर्म समझा और सोने-चाँदी के स्थान पर ये कंकर पत्थर भर दिये हैं ।"

"यह सब बक्वास है । कहाँ है परमात्मा जो ऐसा कर सकता है । यह तो निश्चय ही मेरे माँ-बाप की करतूत है ।"

"नहीं जसवीर ! यह परमात्मा की ही बात है ।"

इस पर जसवीर और उसके पिता बलवन्तसिंह में बहुत झगड़ा हुआ और बाप-बेटी में सदा के लिए लड़ाई हो गई ।

बिहारीसिंह के मन में एक बार तो आया कि वह सब कुछ बता दे, परन्तु उसे बेईमान बेटी का बाप के साथ झगड़ा ठीक ही प्रतीत हुआ और वह चुप रहा ।

वे दोनों उल्टे पाँव अपने गाँव को लौट आये । बिहारीसिंह ने मार्ग में जसवीर को बता दिया था कि माल चुराने के विषय में वह किसी को भी न बतावे ।

घर पहुँच उसने अपनी बुआ को घरमें बैठी माँ से बातें करते देखा तो पूछा, "बूआ ! क्या हुआ है, किसलिए आई हो ?"

उत्तर सुन्दरी ने दिया, "बूआ कहती है कि इनको घर से निकाल दिया है ।"

"क्यों !"

कुलवन्ती ने कह दिया, "वे अपील लिखवा कर लाये थे और कहने लगे कि मैं हस्ताक्षर कर दूँ । मैंने इन्कार किया तो मार-मारकर घर से निकाल दिया है ।"

"पर बूआ ! तुमने इन्कार क्यों किया ?"

"सरपंच कहता था कि धर्म से लड़की का भाग नहीं होता । मैंने यही सोचा कि अब इस बूढ़ी अवस्था में भला धर्म की बात को क्यों छोड़ूँ ? इसलिए मैंने हस्ताक्षर नहीं किये ।"

बिहारीसिंह भौंचक्का हो बूआ का मुख देखता रह गया ।

तीन महीने बाद जब अपील की मियाद बीत गई तो बंटवारा होने लगा ।

सखनसिंह ने कह दिया, "भाई ! धर्म से तो ठीक हो रहा है परन्तु बहिन की बलि धर्म पर चढ़ानी अच्छी प्रतीत नहीं होती । इसलिये मेरा विचार है कि समुन्दरसिंह के कहे के अनुसार बंटबारा कर उसका हिस्सा उसको दे दिया जाये।"

सुन्दरी ने कहा, "भैया ! सोच लो, बहुत हानि हो जायगी तुम दोनों को ?"

"मैंने सब विचार कर लिया है भाभी ! क्यों मक्खन ! क्या कहते हो ?"

"भापा ! बहिन का सुहाग कायम रहे मैं यही चाहता हूँ ।"

"परन्तु भापा !" बिहारी ने कह दिया—"मुझको अकारण लाभ होगा।"

"तो हो जाये । समुन्दरसिंह तो प्रसन्न हो जायेगा ।"

"परन्तु धर्म कहाँ गया ?"

"बहिन की अपने पति से सुलह होगी । यह क्या कम धर्म की बात है ?"

ईडियट

●

रामानन्द दोषी

आप हिन्दी के यशस्वी लेखक हैं। कविता, कहानी, नाटक और व्यंग्य सभी कुछ लिखा है। 'गीले पंख' कविता संग्रह प्रकाशित हो चुका है। 'माडर्न तोता मैना" लिखना शुरु किया, मगर अधूरा ही छोड़ दिया। पहले "सप्ताहिक हिन्दुस्तान" के सम्पादकीय विभाग में थे, आजकल हिन्दी मासिक "कादम्बिनी" के सम्पादक हैं। सम्पादकीय लिखने में आपका जवाब नहीं।

यद्यपि कुछ अर्सा फ़ौज में रह चुके हैं, मगर बात-चीत और रखरखाओं में लखनवी अंदाज के कायल हैं। जोश मलीहाबादी की तरह हर इश्क भरपूर और खतरनाक हद तक कामयाब रहा। आप चाहें तो उनके मासूम लबों पर यह शेर पढ़ सकते हैं—

जवां हुए, मरने लगे हसीनों पर।
हमें तो मौत ही आयी शबाब के बदले॥

आश्चर्य होता है कि कभी-कभी कोई न कुछ-सी बात बढ़ते-बढ़ते कहाँ से कहाँ जा पहुँचती है। अब इस एक बात को ही ले लीजिये—असग़र की मौत के साथ इसका क़िस्सा इस प्रकार नत्थी हो गया है कि न जुदा किये जुदा हुआ है और न होता दीखता है। सुनकर आपको भी शायद अफसोस हो, असग़र कल अस्पताल से दवा लाते हुए रास्ते में ही मर गया।

असग़र को, ख़ैर, आपतो जानते ही क्या होंगे, जबकि मैं, जो उसे एक अर्से से देखता रहा था, उसके बारे में इससे अधिक और कुछ नहीं जानता कि कोई नौ-दस साल पहले वह, न जाने कहाँ से, स्टेशन के इस चौपले पर आ गया था और तब से अन्त तक यहीं बना रहा। स्टेशन के चौपले पर बने रहने का मतलब भी शायद आप नहीं समझेंगे, क्योंकि इस वाक्य के पीछे एक इतिहास है—संघर्ष का इतिहास। भीख मांगने में यहाँ कंपिटीशन है, मजूरी पाने में यहाँ कंपिटीशन है, ड्यूटी वाले कांस्टेबल और लाल वर्दी वाले कुलियों के पेट को खुश रखने में यहाँ कंपिटीशन है और रात को आखिरी गाड़ी के जाने के बाद प्लेटफार्म पर पड़ी बेंचों पर सोने की जगह हासिल करने में यहाँ कंपिटीशन है। ग़र्ज़े की यहाँ की जिन्दगी—मेरा मतलब है भिखमंगों और रेलवे-कुलियों से बच रहने वाले सामान को ढोकर लौंडे लवारों की जिन्दगी एक अन्तहीन कंपिटीशन है। कंपिटीशन यानि संघर्ष।

मैंने नौ-दस वर्षों में असगर को यह संघर्ष करते देखा था। देखा औरों को भी है, देखना पड़ता जो है—मेरी दुकान हुई न इस चौपले पर।

असगर, ख़ैर, अब तो जवान हो चला था, मगर जब वह पहले दिन यहाँ दिखाई दिया था, तब तो यही रहा होगा कोई आठ-नौ साल का। कई गाड़ियाँ उस समय स्टेशन पर आई हुयीं थी। जाने किस से उतर कर वह टिकट-चेकर, पुलिस के सिपाही और टिकट-कलक्टर को झांसा दे बाहर चौपले पर आ गया। गाड़ियों के जाने पर जब शोर-शराबा और भाग दौड़ खत्म होकर नहूसत छा गयी, तो वह जाने किस कोने से निकल कर सहमा-सहमा-सा मेरी दुकान के आगे आ खड़ा हुआ। इस 'टाइप' के उखड़े-उखड़े चेहरों, गीली-गीली सी आँखों और खोये-खोये से लगने वाले लड़कों को मैं खूब पहचानता हूं। वे आगे

जाकर अधिकतर तो भिखमंगे निकलते हैं, और अगर कोई खास तरक्की करता है तो उठाईगीरा, चोर या उच्चका बन जाता है। ऐसे लड़कों को मुँह न लगाने का मैंने अपने लिए करीब-करीब नियम-सा बना लिया है। इसलिए असगर को दुकान के सामने खड़ा देख मैंने यथासम्भव रुखाई से कहा, "क्या चाहिए ?"

"चने"।

और शायद वह कई दिन का भूखा था इसलिए उसने साथ ही अपनी चीथड़ा कमीज़ का पल्ला भी आगे फैला दिया।

'चल, भाग यहाँ से, भाग ! पोल का माल है कि आ गये माँगने !'

इन भिखमंगों को इस तरह न दुत्कारें तो चौपले के हम दुकानदारों का दीवाला दो ही दिन में निकल जाये।

पर उस दिन मेरी पहचान गलत निकली असगर आगे जाकर न तो भिखमंगा बना और न चोर-उच्चका। उस वक्त मेरे दुरदुराने पर शायद चला भी जाता, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं था। चौपले की दूसरी दुकानों पर जहाँ केवल चाय-लेमन, बीड़ी-सिगरट, केक-बिस्कुट आदि ही मिलते हैं, वहाँ मैं इनके अतिरिक्त भुने चने, तले दाल-सेब और पगी खीलें भी रखता हूँ। चने की बात असगर ने बहुत सोच-समझकर तय की होगी क्योंकि उस समय उसकी जेब में केवल एक ही पैसा था। और पैसे में चने छोड़ दूसरा पेट भराऊ सौदा भी है क्या ? गाड़ी के अन्दर या स्टेशनों पर एक पैसे के चने मिलते होते तो शायद पैसा भी उसके पास न होता। भूख से त्राण पाने का और कोई मार्ग न होने से वह वहाँ दुकान के सामने जमा रहा। मेरी फटकार से खिसियाना-सा होकर जेब से पैसा निकालते हुए बोला, "पैसा है।"

झेंप मिटाने के लिए मेरे मुँह से केवल इतना निकला—हाँ-हाँ आया बड़ा पैसे वाला। एक पैसे के चनों के लिए दिमाग चाट गया। हूँ...ले...।

मतलब यह है कि इस चौपले पर असग़र की सबसे पहली मुलाकात मुझ से हुई। शुरू से ही वह कुछ बुद्धू-सा था कुछ ऐसा जिसे आसानी से घोंघा-बसन्त कहा जा सके। कुछ तो उसका जिस्म बेडौल, कुछ उसके मुँह पर मूर्खता

की स्थाई झलक और कुछ उसके लीर-लत्ते—सब मिलाकर असग़र की शख्सियत कुछ ऐसी कि सब उसे अपना ज़र-खरीद ग़ुलाम समझते। जब चाहते उससे बेगार लेते और जब जी में आता उसकी टाट पर टीप जड़कर अपने हाथों की खुजलाहट मिटा लेते। वह 'मूड' में होता तो हँसता रहता और सब कुछ सह लेता, और अगर बिगड़ता तो गालियाँ देता और गालियाँ खाता, मारता और पिटता। मौज में आता तो गन्दी से गन्दी गालियाँ हँस-हँस कर पीता रहता और बिगड़ता तो 'साला' कहने पर ही मारने-मरने पर आमादा हो जाता, हालांकि न उसकी कोई बहन थी, न मां और बाप। मां-बाप के मरने पर मामा ने उसे अपने पास बुला लिया पर मामी को उसकी रोटियाँ अखर गयीं और वह घर से भाग आया। जिस दिन गाड़ियों से उतरने वाली सवारियों की मजूरी उसे न मिलती वह नुक्कड़ वाले नब्बन नानबाई के पतीले—पिर्चे मांज-धो कर अपनी रोटियों की जुगाड़ कर लेता। जहाँ तक बन पड़ता मैं भी उससे महीने में रुपये-धेली की मज़दूरी कराता रहता।

और अब तो वह इस चौपले की ज़िन्दगी का एक अंग ही हो गया था। जब तक वह जिन्दा रहा, यह बात हमें महसूस न हुई, पर आज जब वह हमारे बीच में नहीं है, तो अभाव-सा खलता है—यह बात अलग है कि हम उसे जल्द ही भूल जायेंगे।

मतलब यह कि असग़र था साधारण से भी साधारण–नितान्त महत्वहीन। और अगर ऐसे असग़र की मौत के साथ एक रुपये का किस्सा जुड़ जाय और इस ज़बान से उस कान तक और उस ज़बान से उस कान तक फैल जाय और फैलता रहे—तो है न बात आश्चर्य की। यों कहने के लिए अभी उसकी उमर मरने की न थी। अट्ठारह-उन्नीस साल की उमर भी कोई उमर है। हालांकि चढ़ती जवानी में मरने वालों की कमी नहीं है हमारे मुल्क में।

लेकिन सब की मौत के साथ किस्से थोड़े ही जुड़ते हैं।

हुआ यह कि उस दिन एक अप-टू-डेट देसी मेमसाहिबा गाड़ी से उतरीं। उनके साथ कई अदद ट्रंक-बिस्तर और एक अदद उनके 'बिन्नी डियर' थे। वह 'बिन्नी डियर' बिंद्रावन थे या बेंजमिन यह तो पता न चला, पर थे, वह

उनके मूक और गौपा सहचर—यह सब ने भांप लिया। मेमसाहिबा के ट्रंक-बिस्तरों का बोझ उठाये थे कुली और उनके सौ-सौ नखरों का बोझ उठाये थे 'बिन्नी डियर'। क़दम-क़दम बल खाय कमरिया गोरी की…

अब, जैसा आप जानते हैं, ऐसे नादिर मौक़ों पर बोझा ढोने के लिए मजूर छोकरों में खूब छीना-झपटी और चिल्ल-पौं मचती ही है।

'मेमसाहिबा, कहाँ जाना है ?'

'हट बे, मुझ से उन्होंने पहले ही कह दिया है।'

'वह झाँपड़ मारूँगा कि मुँह का मुज़फ्फरपुर बन जाएगा—देखता नहीं, मेरी सवारी है ?'

'अबे खैरू, कहाँ मर गया। चुक ले सामान।'

वह हड़बोंग मचा, वह हड़बोंग मचा कि न पूछिए। मेमसाहिबा इस सबसे कुछ परेशान-सी, कुछ अपने आगमन से मचे इस वावैले का रस लेती-सी कभी चिढ़ने का अभिनय करतीं और कभी 'बिन्नी डियर' को एक अजीब लचीले अन्दाज़ से देख मुस्करा देतीं, आखिर जब यह 'इनडिसिप्लिन' बढ़ता ही गया और बात किसी किनारे नहीं लगी, तो उन्होंने चुप रहो, बदतमीज़ की एक करारी डांट से सबकी सिट्टी-पिट्टी भुला दी। सुल्ताना रज़िया बेगम ने भी अपने बलवाई सरदारों को इतने जोरों से न डांटा होगा और न ही उसकी डांट से दरबार में खामोशी का ऐसा आलम छाया होगा जैसा उस समय वहाँ जारी था।

चीथड़े लपेटे मजूरों के बीच वह ऐसी दिख रही थीं मानों बेडौल मंसूरी टकों के ढेर में झमझमाती हुई गिन्नी।

अपनी डपट से पैदा हुई खामोशी का पूरे एक मिनट तक लुत्फ उठाकर उन्होंने गरदन के एक हल्के झटके से असग़र को इशारा करते हुए कहा, 'चलो, तुम उठाओ हमारा सामान।'

असग़र हैरत में आ गया। और सब भी आ गये। ताज्जुब यही था कि मेमसाहिबा की निगाह उस पर जा कर टिकी। क्योंकि असग़र सामान की इस छीना-झपटी में क़तई शामिल नहीं था। वह तो मज़दूरों की उस भीड़ में खोया-खोया-सा एक किनारे खड़ा मेमसाहिबा को बस टुकुर-टुकुर देखे जा रहा

था—आँखें फाड़-फाड़ कर, भूखा-सा नदीदा-सा।

...या खुदा, हँसती हैं कैसे कि जैसे पहाड़ी चश्मा अठखेलियाँ करे, चलती हैं कैसे कि जैसे किसी ने सुरबहार का तार टिकोर दिया हो, रंग है कि जैसे गुलाब की पंखुड़ी का अक्स, बाल हैं कि जैसे मावस की बेपनाह अंधेरी रैन; आंखें हैं कि जाल में ताज़ा फंसी मछली, जो रह-रह के छिटक उठे...

मैंने कहा न कि असग़र अब जवान हो चला था।

"चलो, तुम उठाओ हमारा सामान"—मेमसाहिबा की आवाज़ से तन्द्रा भंग हुई तो वह एकदम सकपका गया, मानो चोर को ठीक उस वक़्त पकड़ लिया गया हो, जब वह सेंध लगाकर अन्दर घुस रहा था। फिर सहसा प्रसन्नता से उसका मुँह खिल उठा, मैले-मैले दांत दिखाई पड़ गये। बन्दर की तरह कुलांच भर कर आगे आ गया। किसी महान विजेता की तरह उसने शेष मजूर छोकरों पर एक अर्थभरी दृष्टि डाली। उनके कलेजों में शूल गड़ गये। लतियाए कुत्तों की तरह वे पीछे हट गए। और जिस सामान को प्लेटफार्म से बाहर चौपले तक लाने में दो कुलियों की ज़रूरत पड़ी थी, उसे असग़र डेढ़-फर्लांग दूर रीजेन्ट होटल तक अकेला ढो ले गया।

यों असग़र में कुछ ज्यादा जान नहीं थी, मगर मेमसाहिबा के रोब-दाब, रूप-सिंगार के जादू से वह सामान उसे फूलों की टोकरी से ज़्यादा वज़नी न मालूम दिया। मेमसाहिबा ने सब को छोड़कर उसे ही बुलाया यह बात उसे निहाल किये दे रही थी। काश, उनका सामान ढोता वह अनन्तकाल तक यों ही चलता जाय और उसके कानों में उनके मिसरी-से बोल और नाक में उनके कपड़ों से उड़ती सेन्ट की महक बराबर आती रहे।

मगर यह सब न हुआ। जाने कैसे पलक झपकते ही रीजेन्ट होटल आ गया। 'बिन्ने डियर' ने मजूरी देने के लिए जेब से रेज़गारी निकाली तो मेम-साहिबा ने 'नो प्लीज़' कह कर उन्हें रोक दिया। और अपना पर्स खोलकर उसे एक रुपया थमाते हुए बोलीं, क्यों, खुश है न तुम ?'

खुश ?

खुश होने के ऐसे मौके क्या ज़िन्दगी में दो चार आते हैं ?

मजूरी के पैसे न मिलते तो ही क्या वह खुश न था ?

फिर यह रुपया, पूरा का पूरा रुपया। निशानी के बतौर इसे रखने का लोभ न होता तो वह उसे लौटा देता। उस पर मेमसाहिबा मुसकराकर पूछ रही हैं, 'क्यों खुश है न तुम ?'

असग़र के मन में हुआ कि वह धरती पर लोटकर जन्नत की इस देवी के क़दम चूम ले। खैर, यह हरकत तो वह कैसे करता, उससे केवल इतना बना कि आँखों में ज़मानेभर की कृतज्ञता भर कर अपने पीले-पीले दाँत दिखाकर जरा-सा मुस्करा दिया, फिर फ़ौजी ढंग से सलाम करके एकदम वापस मुड़ा और दुलकी चाल से कुलांच मारता हुआ सीधा चौपले पर आ कर रुका।

पीछे से खिल खिल-हँसी के बीच मेममाहिबा के मुँह से निकला एक शब्द उसे ज़रूर सुनायी पड़ा—"ई-डि-य-ट !"

जाने क्या होता है यह 'इडियट' !

वह रुपया उसके लिए दुनिया की सब से बेशक़ीमत चीज़ था। वह आखिरी दिन तक उसे अपने कलेजे में लगाये रहा। सारे मजूर छोकरों को, नब्बन नानबाई को मुझे, औरों को भी वह जाने कितनी-कितनी बार उस दिन की घटना सुनाता फिरा। मेमसाहिबा के नाक-नक्श, बोलचाल, पहनाव-ओढ़ाव का वह इस संजीदगी से वर्णन करता मानो कोई भक्त, भाव-विभोर होकर अपने इष्ट का गुणानुवाद कर रहा हो। मेमसाहिबा ने सब के बीच से उसको, सिर्फ उसी को, असग़र को, बुलाया—यह बताते-बताते उसकी छाती गर्व से फूल उठती। "बिन्नी डियर" किस तरह रेज़गारी गिनते ही रह गये और मेमसाहिबा ने चट से उसे पूरा का पूरा रुपया थमा दिया—यह बताते-बताते वह हँसी से लोट-पोट हो जाता। और अन्त में खूब सावधानी से छिपा कर रखे उस रुपये को मुट्ठी में भींच कर, जब वह कहता, "यही है वह रुपया"—तो लगता संसार के आठवें आश्चर्य का राज़ वह पा गया है, जिसे किसी उपयुक्त अवसर पर प्रकट करने की जिम्मेदारी उसके मासूम कन्धों पर आ पड़ी है।

यह हालत दो-चार दिन नहीं, दो-चार हफ्ते नहीं, बल्कि महीनों इसी प्रकार चलती रही। इस बीच हर प्रकार की सम्भव-असम्भव कल्पनाओं के योग से

बड़े रोमांटिक लहजे में वह उस घटना को इतनी बार हरेक से कह फिरा था कि लोग खुलकर उसका मज़ाक उड़ाते थे—

"असग़र, ये बसीकरन तूने कहाँ साधा ? एक ही नज़र में मेमसाहिबा को लट्टू कर लिया, प्यारे !"

"छिपे रुस्तम हो उस्ताद। तिरियाजात ने तुम से ही पनाह माँगी है।"

"अजी, वह तो, जो वह चपरमट्टू न होता मेमसाहिबा के साथ—क्या नाम था उसका—हाँ, बिन्नी डियर, तो यहीं धरना देकर बैठ जातीं कि असग़र, कहीं दो गज़ का छप्पर डाल ले। मार चाहे छोड़, रहूँगी तेरे साथ !"

और असग़र कल्पना के रंगीन हिंडोले में ऊपर—और ऊपर चढ़ता जाता। इन सब बातों पर वह मन से विश्वास करता, पर ऊपर से विनम्र होकर केवल इतना कहता, "नहीं, ये सब नहीं। तुम लोग ख़ामख़ाह बढ़ा रहे हो। बात थी कुछ ज़रूर, मगर इतनी नहीं।"

मजाक को वह पहचान नहीं पाता था, इसलिए मज़ाक उसे छूता नहीं था।

उस रुपये की वह तिलिस्मी तावीज़ की तरह रक्षा करता, उसे कलेजे से लगाये रहता, उसकी झलक भी किसी को न दिखाता।

और तब वह एक दिन बीमार पड़ गया। बीमार क्या, यही बुख़ार-बुखार रहा होगा किसी किस्म का। बुखार उतर जाता तो हल्का मोटा बोझ ढो लेता, चढ़ आता तो खैराती दवाखानों से दवा ले आता। पर खैराती दवा-खानों की खुराक कड़वी तक तो होती नहीं, असर क्या खाक करती।

फिर उसमें चलने-फिरने की भी हिम्मत न रही, कई दिन भूखा-प्यासा बुख़ार में तड़पता रहा। तब किसी ने सुझाया कि असग़र, मौत के मुँह में पड़ा है तू, मेमसाहिब वाला रुपया किस दिन काम आयेगा ? उन्होंने इसलिए तो दिया था कि तेरी ज़रूरत में काम आये। जा उस रुपये की दवा ले आ। क्यों मेमसाहिबा की रूह को तकलीफ़ पहुँचा रहा है।"

बात लग गयी। भला मेमसाहिबा की रूह को तकलीफ़ वह कैसे पहुँचाये। घिसटते-घिसटते डा० चौरसिया के शफ़ाखाने पहुँचा। यह बात है कल की, क्योंकि कल ही डाक्टर चौरसिया के शफ़ाख़ाने से वापस आते हुए रास्ते में

वह मर गया ।

डा० चौरसिया ने नाक-भौं सिकोड़ कर उसके गन्दे और बदबूदार हाथ की नब्ज टटोली, दो-चार सवाल किये, खाने को फल, दूध बताया और नुस्खा उसे थमा दिया । दूसरे मरीजों पर उनके व्यवहार का बुरा प्रभाव पड़ने का डर न होता तो वह उसे मतब में घुसने भी न देते ।

पर कम्पाउन्डर को ऐसी लोग दिखावे की बन्दिश न थी । उसने असग़र को एक नज़र देखा और फैसला दे दिया, "यहाँ मुफ्त दवा नहीं मिलती," जिसके जवाब में असग़र ने आज भी उसी तरह 'रुपया है' कहा जिस तरह मुझे पहले दिन 'पैसा है' कहा था ।

दवा की शीशी हाथ में थाम कर उसने देने के लिए रुपया निकाला तो लगा कि वह अपनी जान निकाल कर कम्पाउन्डर को सौंपने जा रहा है । मेमसाहिबा की निशानी को आखिरी बार ऊँगलियों से सहला कर उसने काँपता हुआ हाथ काउंटर पर बढ़ा दिया । आँखें छलछला आयी थीं, दृष्टि धुँधला गयी थी । हाय, कैसा निर्मम होकर वह अपने कलेजे के टुकड़े को जुदा किये दे रहा था !

तभी जाने क्या हुआ कि पहले से ही झुँझलाया हुआ कम्पाउन्डर बुरी तरह बिगड़ उठा । चीख-चीख कर उसने सारा दवाख़ाना सिर पर उठा लिया था । वह अन्धाधुन्ध गालियाँ बके जा रहा था, "सुअर, पाजी, हरामख़ोर, बेई-मान, ईडियट ।"

फिर दवा की शीशी वहीं काउंटर पर छोड़ वह डगमगाते पाँवों लौट पड़ा चौपले की ओर, जहाँ वह कभी न पहुँच सका ।

ईडियट ! जाने क्या होता यह ईडियट । असग़र समझ नहीं पा रहा था ।

बहुत सारी बातों के बीच से वह केवल इतना ही समझ सका था कि मेमसाहिबा वाला रुपया खोटा था !

शव यात्रा

राजकमल चौधरी

राजकमल चौधरी का जन्म १९३१ में मसूरी में हुआ। एम०ए० अंग्रेजी साहित्य में पटना विश्व विद्यालय से किया। सन् १९५८ में पहली बार 'कहानी' में छपे। तब से बराबर आज तक लिख रहे हैं। 'नदी बहती थी' नामक उपन्यास छप कर लोकप्रिय हो चुका है। कहानी के अतिरिक्त नाटक, कविता और आलोचना में इनकी विशेष रुचि है। 'शव यात्रा' में वर्तमान जीवन के एक विशिष्ट पहलू की क्रूरता अपनी पूरी शिद्दत के साथ उभरी है। लगता है कि जिस स्थिति विशेष को लेकर "शव यात्रा" का सृजन किया गया है, उसको कहानीकार ने जिया है। आज के समाज में जिन्दगी औरत के लिये कितनी संगीन है—इसी को लेखक ने प्रभावशाली ढंग से कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। राज कमल चौधरी के रहस्यमय व्यक्तित्व की छाप उनकी रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है। प्रस्तुत कहानी इसका खुला सबूत है।

गाना सुनना और सुनाना उनकी हाबीज में शामिल है और मार्क्सवाद से शदीद नफ़रत उनका लक्ष्य है।

जब मकान की खिड़कियों पर शाम उतरने लगती है और लगता है कि धीरे-धीरे अंधेरा और गहरा होता जाएगा तो घर में बैठे रहने की इच्छा नहीं होती है। सारा दिन तो घर में ही बीत गया। कपड़े धोने में और इस्त्री करने में, बगल के कमरे की नन्दिता भाभी से बातें करने में और रेडियो सुनने में। रेडियो का लोकल सेट है, एक ही स्टेशन बजता है—कलकत्ता। मगर उमारानी को बंगाली गाने पसन्द नहीं आते हैं। पसन्द नहीं आती है मिठास। पसंद नहीं आती है स्वरों की कोमलता और हल्के चढ़ाव उतार, और नस-नस में प्यारी सी गुदगुदी अच्छी नहीं लगती है। जो अच्छा लगता है, उसे पाने का उपाय भी नहीं है। उपाय नहीं है क्योंकि सुकुमार को कुल सत्तर रुपये मिलते हैं। वह मैट्रिक फेल है। बार-बार इम्तिहान देकर भी पास नहीं कर सका। अब कई बरसों से एक दफ्तर में पियन है। चालीस में काम पर लगा था अब सत्तर हो गये हैं।

और सत्तर होने के बाद ही वह बेहाला कैम्प की उमारानी को ब्याह कर अपने घर ले आया है। अपना घर नहीं, शंकरदास गली में ग्वालों के खटाल के पीछे लगातार कई कमरे बने हैं। लगभग पन्दरह कमरे। बड़े कमरों का किराया है बीस रुपया। सुकुमार ने बारह रुपये का छोटा कमरा लिया है। बिजली-बत्ती नहीं है। सामने नल है और पीछे टूटी दीवार वाला बाथरूम। बरसात में पनाले का पानी गली में भर आता है। कमरों की फर्श भीग जाती है। मगर, सुकुमार कहीं से रेडियो उठा लाया है और उमारानी खुश हो गयी। बैटरी पर चलने वाला लोकल-सेट। अक्सर नयी बेटरी लगाने के पैसे नहीं होते हैं।

अक्सर सुकुमार देर से घर लौटता है। पीकर लौटता है, तो रात में खाता भी नहीं। चुपचाप सो जाता है। शोर-गुल नहीं मचाता। शराब पीकर और

भी खामोश, और भी डरा-डरा दीखता है। उमारानी को शराब से नहीं, खामोशी से एतराज है। वह तूफान चाहती है। जैसे तूफ़ान बेहाला कैम्प में आते रहते थे। पुलिस गाड़ी आती थी, और नरसिंह पानवाले को दूकान से उठा ले जाती थी। सभी लोग जानते हैं, नरसिंह पान नहीं बेचता, नाजायज़ शराब बेचता है। और रात ढलते ही श्रीपति कुम्हार के मकान में तूफान शुरू होता था। कभी-कभी तो टैक्सी पर चढ़ कर ताजा धुले कपड़े पहनने वाले बाबू लोग भी आते थे। आते थे और रात-रात भर जमे रहते थे। केवल श्रीपति कुम्हार ही नहीं, देहाना कैम्प की सबसे बदनाम जगह थी नीलिमा मौसी की झोंपड़ी। झोंपड़ी नहीं थी, ईंटों का पुराना मकान था। मकान में बेहद छोटे-छोटे तीन चार कमरे थे। हर कमरे में रिफ़्यूजी औरतें रहती थीं। औरतों के साथ अक्सर उनके बच्चे। कभी-कभी किसी औरत का मर्द भी आ जाता था।

इसीलिए शाम के बाद घर में बैठे रहने को इच्छा नहीं होती है। उमारानी ट्रंक से शीशी और कंघा निकालती है। बालों में नारियल का तेल डालती है। पाउडर माथे पर सिन्दूर की बिन्दी। जी खुश हुआ तो काजल आँज लेती है। कमरे में ताला देकर, चाबी पड़ौसिन को थमाती हुई कहती है,—"बेहाला जा रही हूँ। सुकुमार आये तो कह दोगी, मेरी दीदी आयी थी। उसी के साथ चली गई।"

नन्दिता भाभी यह झूठ सुनकर मुस्कराती है। उसके लिए भी कभी-कभी उमारानी को झूठ बोलना पड़ता है। इसी तरह का कोई झूठ। इसी कारण से कोई झूठ। झूठ चलता है। नहीं चलने का उपाय नहीं है। उपाय भी नहीं है, और जीवन में जरा भी मिठास नहीं है। मिठास है झूठ मिठास है बेहाला कैम्प की चाँद तारा का बेहद छोटा कमरा। चाँदतारा नीलिमा मौसी के घर में किराये का कमरा लेकर रहती है। एकदम अकेली। माथे पर सिंदूर की मोटी लकीर है, मगर बच्चे नहीं हैं और न अंधेरे में साथ देने वाला कोई पति देवता ही है। कभी था भी या नहीं, किसी को मालूम नहीं। एक दिन टीन का छोटा बक्स हाथ में लिए चाँद तारा एक बूढ़े आदमी के साथ नीलिमा मौसी के यहाँ आयी थी। बूढ़ा आदमी पहुँचाकर वापस चला गया था। फिर कभी लौटा

नहीं। नीलिमा मौसी ने या किसी ने भी नहीं पूछा कि वह आदमी क्यों नहीं लौटा। अक्सर आदमी एक बार वापस जाकर दोबारा ऐसी जगहों पर नहीं आते हैं। आगे जरूरत ही क्या है ?

समाज-जीवन छोटे-बड़े अनेक टुकड़ों में बंटा है। एक टुकड़ा है बेहाला कैम्प। रेलवे लाइन के नीचे एक छोटी-सी बस्ती। ऐसी बस्तियों में शरीफ लोग नहीं रहते गरीब रहते हैं। ठेले पर माल ढोने वाले कुली। बस स्टापों पर खड़ी होने वाली औरतें। भिखारियों की जमात। गन्दगी के स्तूप। पनालों में रेंगते हुए कीड़े चारों ओर कीचड़ भरी खाइयाँ। खाइयों में मरे हुए कुत्तों की लाशें। मरे हुए कुत्ते। ऐसी बस्तियों में शरीफ लोग नहीं रहते, मगर और कहीं ठिकाना नहीं मिलता है तो चले आते हैं। चले आते हैं, और अन्धेरा बीत जाने पर वापस हो जाते हैं। जैसे उमारानी माँ और दीदी के साथ बेहाला कैम्प आयी थी, और सुकुमार के साथ वापस चली गयी थी। माँ बीमार होकर मर गयी। दीदी मरी नहीं, अब भी यहीं रहती है। दीदी और उसके चार पाँच बच्चे। बड़ा लड़का किसी चाय-खाने में नौकर है। और बच्चे छोटे-छोटे हैं। उमारानी शंकरदास गली से आती है, तो दीदी के यहाँ नहीं जाती। सीधे चाँद तारा के यहाँ जाती है। दीदी से उसे घृणा है, अकारण घृणा।

कोई सार्थक कारण नहीं है। उमारानी साथ रहती थी, तो दीदी ने उसे कभी कोई तकलीफ नहीं दी। कोई शिकायत नहीं। गाली नहीं। प्यार भी नहीं, और जब उमारानी सुकुमार के साथ जाने लगी तब भी दीदी ने कोई ऐतराज नहीं किया। कोई शिकायत नहीं। सिर्फ इतना ही कहा—"शंकरदास गली ज्यादा दूर नहीं है। जब भी इच्छा हो, इधर चली आना।" और अब दीदी जानती है कि उमारानी अपनी सहेली से मिलने अक्सर बेहाला कैम्प आती है। फिर भी उसने कभी अपने किसी बच्चे को चाँदतारा के यहाँ नहीं भेजा है। कोई शिकायत नहीं।

जैसे उमारानी की दीदी पत्थर हो गयी है। बच्चे रोते रहते हैं। पन्द्रह साल का बड़ा लड़का ओठों पर शराब की दुर्गन्ध और जेब में बीड़ी के बण्डल लेकर घर लौटता है। आठ साल की एक लड़की चेचक से मर गयी, मगर दीदी

पत्थर है। बेहाला कैम्प से दो मील पैदल चलकर अलीपुर की एक कोठी में झाड़ू-बर्तन करने जाती है। सुबह-शाम जाती है। बचा-खुचा खाना लाती है। फटे-चिटे कपड़े लाती है। महीना पूरा होने पर पच्चीस रुपये, और चार पाँच बच्चे और पन्द्रह साल का बड़ा लड़का एक पैसे की मदद नहीं करता है। फिर भी, उमारानी दीदी के पास नहीं जाती है। कारण है घृणा। और घृणा का कोई कारण नहीं है।

घृणा का कोई कारण नहीं है। उमारानी अपनी मर्जी से पहली बार चाँद तारा के कमरे में गयी थी। दीदी जानती थी, उमारानी वहीं जा रही है। दीदी जानती थी, बेहाला कैम्प की हर लड़की पहले वहीं जाती है। नीलिमा मौसी के घर। कमरा चांद तारा का हो, या किसी और का कमरा हो कोई फर्क नहीं पड़ता है। किन्तु दीदी ने मना नहीं किया था। माँ मर चुकी थी, और दीदी ने मना नहीं किया था। उमारानी ने खुद अपने आप को भी मना नहीं किया था, जबकि वह इतनी समझदार जरूर थी चौदह-पन्द्रह साल की उम्र समझदारी के लिए कम नहीं होती है। और आज की लड़कियाँ तो पेट से ही पंख लेकर पैदा होती हैं। फिर उमारानी तो बेहाला कैम्प की लड़की थी। अंधेरे की हर शक्ल को पहचानती थी। गन्दगी की हर गन्ध को करीब से जानती थी। शाम होते ही रिक्शे पर बैठकर कैम्प की लड़कियाँ कहाँ जाती हैं? निरखू पाँडे से बस्ती का हर आदमी क्यों डरता है। राशन की दूकान वाले लालाजी हर सुबह सुरमा देवी के घर में क्यों जाते हैं? पुलिस गाड़ी क्यों आती है? सीता रेल के नीचे कुचल कर मर क्यों गयी? सीता कुचलकर मर क्यों गई? सीता मर क्यों गई?

इन सारे सवालों का सही-सही उत्तर उमारानी जानती थी। फिर भी जब उसकी लालाजी की दूकान पर चाँदतारा से मुलाकात हुई थी, और बातें हुई थीं तो उसने, तय कर लिया था कि वह नीलिमा मौसी के घर जरूर जाएगी। चाँद तारा से मिलने जाएगी।

मिलने वह गयी थी। दीदी की चौड़ी किनारी वाली लाल साड़ी पहनकर वह रात के सात-आठ बजे चाँदतारा के कमरे में चली गयी थी, अकेली। वह

भी अकेली थी, और जमीन पर बिछे बिस्तरे में बैठी थी। सिगरेट के खाली टिन से रुपये-दो रुपयों के नोट और रेजगारियाँ निकाल कर गिन रही थी। सारी चवन्नियाँ एक जगह। लालाजी की दूकान के अलावा, एक जगह इकट्ठे इतने पैसे उमारानी ने कभी कहीं नहीं देखे थे। पचास रुपयों से ज्यादा ही होंगे। चाँदतारा मुस्कुरायी। सिर ऊपर उठा कर बोली,—"आओ बैठो! मैं पैसे गिन रही हूँ। गिन लेने दो, फिर तुमको चाय पिलाऊँगी!"

चाँद तारा ने सारे पैसे सहेज कर टिन में रख दिये फिर, उमारानी से बोली—"तुम एक मिनट के लिए कमरे से बाहर हो आओ। मैं पैसे छिपाकर रख दूँ। बुरा मत मानो रानी, यही मेरी जमा पूँजी है। कहीं कुछ हो गया तो मुफ्त में मारी जाऊँगी?"

उमारानी को बुरा नहीं लगा। पैसों के बारे में किसी का यकीन नहीं करना चाहा। कब किसी की नीयत बदल जाए। और वह तो वाकई चोर है। दीदी के पैसे चुरा लेती है। ज्यादा नहीं, आने दो आने। चनाचूर भाजा खरीदती है। पकौड़े खाती है। कभी-कभी कैंची की सिगरेट भी पी लेती है। उमारानी बाहर अन्धेरे में खड़ी हो गयी और चाँदतारा पैसों की टिन अन्धेरे में छिपाने लगी।

चाँदतारा की बगल में रामदूलाल माँझी का कमरा है। रामदूलाल माँझी पहले मछलियाँ बेचता था। अब बीमार पड़ा रहता है, और अपनी दोनों बेटियों को मार-पीट लगाता रहता है। बीमार आदमी और क्या करे? दोनों बेटियाँ मार-पीट और गालियाँ और अजनबी मुसाफिर और बेहाला कैम्प की जिन्दगी सहती रहती हैं। बदसूरत लड़कियों से शादी भी कौन करेगा। बीस-पच्चीस की होंगी मगर बूढ़ी हो गयी हैं। देह पर सेर-दो सेर गोश्त भी नहीं है, कि कबाब बनाया जा सके। फिर भी दोनों लड़कियाँ कबाब बनती हैं। उमारानी ने जरा झाँक कर देखा, रामदूलाल फर्श पर सोया हुआ है, और शान्ती और मान्ती निरखू पाँडे से घुसुर-पुसुर बातें कर रही हैं।

निरखू पाँडे को देखते ही उमारानी का खून सूख गया, और वह उछल कर चाँदतारा के कमरे में घुस गयी, चाँदतारा बोली—"तुम यहाँ बैठो। मैं चौराहे

की दूकान से दो ग्लास चाय लाती हूँ।"

"नहीं मैं अकेली नहीं बैठूँगी। तुम्हारे साथ चलूँगी"—उमारानी ने कहा।

'नहीं रानी! तुम यहीं बैठो। शाम का वक्त है, कमरा बन्द करके नहीं जाऊँगी। कोई आदमी आ गया तो खाली हाथ वापस लौट आएगा। तुम बैठो, मैं यह गयी वह आयी। कोई आए तो डरना नहीं, बैठे रखना—" चाँदतारा ने आँचल सिर पर डाला, और कौने में पड़े शीशे के दो ग्लास उठाकर बाहर जाने लगी। उमारानी ने विनती की,—"मुझे भी साथ ले चलो। ऊपर वाले कमरे में पाँडे जी बैठा है। कहीं इधर आ गया तो···।"

"आ गया तो क्या होगा?"—चाँदतारा हंसने लगी,—"उसके पास तो केवल डील-डौल है, और कुछ नहीं। उससे तो सिर्फ मर्द ही डरते हैं, औरत काहे को डरेगी? मैं पिछले छः महीने से यहाँ रहती हूँ मगर, साला एक बार भी नहीं आया है······"

चाँदतारा हँसती-हँसती बाहर चली गई। उमारानी चुपचाप दरवाजे के पास खड़ी रही। दरवाजे के फ्रेम में खड़ी अँधेरे की तस्वीर। अँधेरा हर ओर है। अँधेरा और रुकावट। रुकावटें हैं। रास्ता नहीं है। रामदुलाल की लड़कियाँ हँस रही हैं। दूर कहीं कोई छोटा-सा बच्चा चीख रहा है। अगर निरखू पाँडे आ जाए तो? अगर कोई अजनबी आदमी आ जाए तो? उमारानी इस छोटे से कमरे में चहलक़दमी करने लगी। कहीं कोई खिड़की नहीं है। छत से एक बड़ा लालटेन लटक रहा है। तेल कम है, या बत्ती छोटी है, बेहद धीमी है रोशनी। हर चीज पीली-पीली दीखती है। दीवार के एक किनारे रामकृष्ण परमहँस की एक तस्वीर है। तस्वीर में परमहँस मुस्करा रहे हैं। परमहँस के सामने भगवती की मूर्ति नहीं है, चाँदतारा का कमरा है, और उमारानी है। पन्द्रह सोलह साल की उमारानी। जिसे पता है कि इस कमरे में अजनबी लोग रहते हैं। जिसे सारा कुछ पता है।

अचानक बारह-तेरह साल की एक लड़की दौड़ती हुई आई। रोती हुई, चीखती हुई, कमरे में चली आई। उमरानी को देखकर जरा रुकी, फिर बोली,—"माँ मर गई। हमारी माँ मर गई। बाबू रो रहा है। तारा चाची

को बुलाता है।"

उमारानी इस लड़की को पहचानती है। बस स्टॉप पर भीख माँगती है। नाम है शायद, मीनू। मीनू की माँ इसी मकान में रहती है। बहुत बदनाम औरत है। कई बार थाने जा चुकी है। एक बार छ: महीने जेल रह आयी है। बहुत सस्ती औरत है। पति भी वैसा ही है। दो सौ रुपयों में बड़ी लड़की को बेच चुका है। सौ-दो सौ में मीनू को भी बेचेगा।

मीनू देर तक रोती हुई खड़ी रही मगर चाँदतारा नहीं आयी। एक घंटा बीत गया होगा। कुछ देर बाद मीनू चली गई। फिर अकेली रह गयी उमारानी। घण्टा भर और बीत जाने के बाद एक अजनबी आदमी आया। सफेद कुर्त्ता और सफेद पाजामा पहने था। सिगरेट पी रहा था। दुबला-पतला। कलाई पर चमकती हुई घड़ी। अँगूठी नहीं। सोने के बटन नहीं। पुराना चप्पल। पुराना चेहरा। आँखों में न आशा और न उल्लास। उदासी नहीं। बस, सब कुछ ठीक ही चल रहा है, ऐसा हाव-भाव।

कोने में चप्पल डालकर, कुर्सी पर बैठ गया। उमारानी उठकर खड़ी हो गई। उसने कहा—"बैठो, बैठो खड़ी क्यों होती हो? बैठ जाओ। तुम्हारा नाम उमारानी है न? चौराहे पर चाँदतारा मुझ से मिली थी। वह भी आ रही है। जरा पान-वान लेने को रुक गई।"

उसकी आँखों में जरा भी अजनबीपन नहीं था। अपनापन था। उमारानी का डर खत्म हो गया। बोली,—"मीनू की माँ मर गयी है।"

"कौन, पीछे के कमरे वाली मीनू की माँ? उसे तो मरना ही था। कौन-सी बीमारी नहीं थी उसे? अच्छा हुआ, मुक्ति पा गयी। बहुत अच्छा हुआ" —उसने फिर एक सिगरेट जलायी, और बोला—"उमारानी, एक ग्लास पानी पिलाओ, गला सूख रहा है!"

मगर चाँदतारा नहीं आयी, शायद, उधर से ही मीनू की माँ के पास चली गयी है। शायद देर से लौटेगी। मीनू की माँ मर गयी। कौन-सी बीमारी नहीं थी उसे। मर गयी, अच्छा हुआ। कुछ बरस बाद मीनू भी मर जायगी। चाँदतारा भी मर जायगी। दीदी भी मर जाएगी। सभी मर जाएँगे। सिर्फ मैं

नहीं मरूँगी। सिर्फ मैं नहीं ! सिर्फ मैं····

सिर्फ मैं नहीं मरूँगी—यही तय करके उमारानी हर बार सुकुमार से झूठ बोलकर चाँदतारा के यहाँ चली आती है। सुकुमार यह बात जानता है, मगर वह अक्लमन्द आदमी है और सोचता है कि चाँदतारा बुरी औरत नहीं है। उमारानी की दीदी यह बात जानती है। किसी से कुछ छिपा नहीं है। उमारानी बड़ी किस्मत वाली औरत है। बीमार नहीं होती है। और उमारानी माँ भी नहीं होती है। अब तो शादी किये कई बरस हो गये। लक्षण नहीं फूटते हैं। देह पर नर्मी नहीं आती है। आँखों की चमक धीमी नहीं पड़ती है, और तेज होती जाती है आय। बेहाला कैम्प और शंकरदास गली को कई सड़कें आपस में जोड़ती हैं। उमारानी इन्हीं में से एक सड़क है। एक गली है और इस गली का कहीं अन्त नहीं है। कहीं ठहराव नहीं। जैसे एक नदी है, और नदी चुपचाप बहती रहती है। शहर का सारा कूड़ा अपने अन्दर दबाये हुए, एक नदी बहती रहती है चुपचाप।

उमारानी रेलवे-पुल के पास से उतर गयी। फिर रेलवे लाइन के साथ-साथ चलती रही। फिर नीचे उतर गयी। सामने बेहाला कैम्प की बड़ी बस्ती है। बस्ती के बाहर मैदान में कोई सर्कस-कम्पनी आयी हुई है। बड़े-बड़े पोस्टर लगे हैं। लाउडस्पीकरों पर फिल्मी गाने चल रहे हैं। चौराहे की दूकानों पर भीड़। चायखानों में निठल्ले लड़कों के कहकहे। किसनदास उमारानी के साथ-साथ चलने लगता है। कहता है—'चन्दू तुम पर बहुत गुस्सा है। तुम उसके छोटे भाई को क्यों ठहरने देती हो ? सोलह-अठारह का लड़का है, नासमझ है, क्यों उसे बरबाद कर रही हो ? चन्दू बहुत गुस्सा है···"

"गुस्सा है तो मेरा क्या कर लेगा ?"—उमारानी अपनी राह चलती रही, —"बिन्दू को मैं क्यों बुलाऊँगी ? चाँदतारा के यहाँ खुद जाता है। मैं भी जाती हूँ। बरबाद हो जाए, मेरा क्या है ? चन्दू गुस्सा है तो बोलो, जरा मेरे सामने आये। बेहाला कैम्प की लड़की नहीं हूँ किसन, कि डर जाऊँगी।"

किसनदास वापस लौट गया। एक प्रौढ़ सज्जन काली घाट ट्रामडिपो से

ही उमारानी का पीछा कर रहे थे। उमारानी ने मोमिनपुर में उतरकर बेहाला के लिए दूसरी ट्राम ली थी, तो वे भी उमारानी की आगे वाली सीट पर बैठ गये थे। बार-बार पीछे मुड़कर देखते थे। उन्हें देखकर उमारानी दो-एक बार मुस्कराई भी थी और उमारानी की मुस्कराहटों से प्रौढ़ सज्जन की आँखों में आशा की चमक। खुशी की चमक। मगर, किशनदास को उमारानी के साथ बातें करते देखकर चमक का यह सिलसिला टूट गया, और उदास होकर वे वापस लौट गये।

उमारानी अकेली रास्ता पार करने लगी। नीलिमा मौसी के मकान से कुछ पहले एक चौराहा है। चौराहे पर एक चायखाना। पान की दो दूकानें। एक सैलून। रंजन, सैलून में बैठा सिर-मालिश करवा रहा था, और उमारानी का इन्तजार कर रहा था। उमारानी सैलून की ओर देखकर मुस्करायी, मगर रुकी नहीं, आगे बढ़ गयी। सैलून वाले न रंजन से कहा—"दिल्ली-मेल आ गयी रंजन भाई"—और तेजी से रंजन के बालों में कंघी फेरने लगा।

उमारानी अँधेरे में कदम बढ़ाती हुई चाँदतारा के कमरे में पहुँची तो चाँदतारा एक किनारे पड़े कैम्प खाट पर औंधे मुँह लेटी थी, दोनों हाथों से छाती दबाये हुए। उमारानी ने चप्पल एक कोने में रखा, माथे पर पड़ा आँचल कमर में बाँध लिया, और पास आकर बोली—"फिर दर्द उभर आया है?"

दो दिन से मर रही हूँ रानी, अब बचने की कोई उम्मीद नहीं है। मीनू का बाबू डाक्टर को बुला लाया था। अंग्रेजी दवा भी खा रही हूँ। मगर, खून बन्द ही नहीं होता है। सारे कपड़े खून से तर हैं। डाक्टर तो भरोसा दे गया है, अभी शाम को फिर आया था। मगर, मुझे भरोसा नहीं होता है…"—चाँदतारा ने कहा, और कैम्प-खाट थरथराने लगा। चाँदतारा छटपटाने लगी। फिर शान्त हो गई।

कुछ ही देर बाद रंजन आ गया, और कुर्सी पर बैठकर जूते का फीता खोलने लगा। वह शाम को भी आया था और चाँदतारा का हाल-चाल पूछ गया था। बहुत शरीफ लड़का है। किसी फिल्म कम्पनी में असिस्टेन्ट कैमरामैन है। अच्छी आमदनी कर लेता है। बड़ी बहन रेडियो में गाती है। छोटी बहन फिल्म-

स्टार बनेगी। कई महीने पहले किसी दोस्त के साथ चाँदतारा के पास आया था। उमारानी के पास अक्सर आने लगा। कैमरा लाकर उमा और चाँद की कितनी ही तस्वीरें खींच चुका है। कहता है, अपनी फिल्म बनायेगा, तो उमारानी को हीरोइन बनाएगा। बहुत कुछ कहता है और जूता उतार कर नीचे फर्श पर बिछे बिस्तर पर आ बैठता है।

गुलाबी रंग की नकली मुर्शिदाबादी साड़ी पहन कर उमारानी आयी है। इस धुँधली रोशनी में भी गले पर पड़े पाउडर के सफेद-सफेद दाग दीखते हैं। चाँदतारा कहती हैं,—"मैं नहीं बचूँगी···उमारानी, जैसे कलेजे का माँस कट-कट कर खून के साथ गिरा जा रहा है। तुम लोग मेरी चिन्ता मत करो। बैठ कर बातचीत करो। तुम लोग हंसोगे-बोलोगे तो मुझे अच्छा लगेगा।"

उमारानी बिस्तरे पर पड़ी चादर खींच कर मैली-पुरानी दूसरी चादर बिछा देती है। फिर बिस्तर ठीक करती हुई कहने लगती है—"मैं हर बार मना करती थी। पहले सेहत ठीक कर लो, फिर जो चाहे करती रहना। मगर, चाँद काहे को मानेगी। हरदम पैसों के लिए हाय-हाय करती रहती थी। अब जोड़ो पैसे।"

रजन कुर्सी से उठकर बिस्तरे पर आ गया। नीचे वाली खिड़की खोलकर बाहर देखने लगा। बाहर अँधेरा है और सर्कस के लाउडस्पीकरों पर फिल्मी गाना गूँज रहा है। उमारानी ने बिस्तर पर पड़े तकिये झाड़ पोंछ कर सजा दिये। फिर किनारे खड़ी होकर अपनी साड़ी उतारने लगी। साड़ी के नीचे पेटीकोट है। पेटीकोट पर पीले-नीले फूल छपे हैं। साड़ी की तहें लगाकर उसने कुर्सी पर रख दी। चाँदतारा करवट बदलकर बेहोश पड़ी है। रंजन खिड़की से बाहर देख रहा है। उमारानी कहती है,—"अच्छा रंजन बाबू···"

"बोलो" - रंजन घूमकर पूछता है। पेटीकोट और ब्लाउज में उमारानी बड़ी बदसूरत दीखती है। रंजन को अच्छा नहीं लगता। उमारानी के पाँव बेहद पतले हैं। पिंडलियों पर माँस नहीं है और कमर मोटी है। कूल्हे फूले हुए। पेट पर चर्बी जम गयी है। रंजन घूमकर कहता है,—"आज ऐसे ही बैठते, तो क्या था। कहो तो मैं एक बोतल शराब ले आऊँ। एक घूँट चाँदतारा भी पी लेगी।

"क्यों नहीं बैठोगे, रंजन बाबू, मैं तुम्हारे ही लिये इतनी दूर से आयी हूँ।

फिर मुझे पैसों की जरूरत भी है। चाँद को भी पैसे चाहिएँ। बीमार है। तुम आराम से, बैठो, रंजन बाबू"—उमारानी ने बेहद सादगी भरे लहजे में कहा, और बिस्तरे पर एक किनारे बैठ गयी। फिर घुटनों के बल खड़ी होकर उसने खिड़की बन्द कर दी। फिर, बिस्तरे से बाहर आकर दरवाजा बन्द कर दिया। कमरे के बीच में झूलती हुई लालटेन की बत्ती धीमी कर दी। चाँदतारा कराह रही है। रंजन अपने को पत्थर बनाने की कोशिश कर रहा है। उमारानी रंजन को और खुद को बीमार और चाँदतारा को आराम देना चाहती है। चाँदतारा कराह रही है।

उमारानी को याद आता है, जब पहली बार वह चाँदतारा के कमरे में आई थी। चाँदतारा अपने एक दोस्त को उमारानी के पास भेजकर मीनू की माँ के पास चली गयी थी। देर तक नहीं लौटी थी। मीनू की माँ मर चुकी थी। लाश को उठाने में और शमशान ले जाने में देर लगती है। लाश को जलाने में देर लगती है। मगर, उमारानी की लाश को जलाने में देर नहीं लगी थी। क्योंकि, उमा खुद जलना चाहती थी। उमा के अन्दर आग थी और उमा के इर्द गिर्द आग थी और उमा जलना चाहती थी।

अब उमा जल नहीं पाती। भीगी हुई लकड़ी की तरह उमा की देह से सिर्फ धुआँ निकलता है। आग की लपटें नहीं।

रंजन ने कहा, "ठीक है। लालटेन की बत्ती और मद्धिम कर दो, उमारानी!"

रंजन की छाती पर भारी-भारी दो माँसपिंड झूल रहे हैं। बर्फ की तरह ठण्डे माँसपिंड। उमारानी लाश की तरह ठण्डी है। आग की तरह गर्म है कैम्प-खाट पर पड़ी चाँदतारा। चाँदतारा बेहोश है, और डिलिरियम में बक रही है—"एक आदमी का दाम तीन रुपया। एक आदमी का दाम तीन रुपया। और महीने में तीस दिन। तो तीस दिन और तीस आदमी का दाम नब्बे रुपया। और कमरे का भाड़ा बीस रुपया। तीस दिन मछली-भात खाने का दाम तीस रुपया और एक आदमी का दाम तीन रुपया। हिसाब नहीं मिलता है। शायद तबीयत हल्की हो जाये। आज नहीं बैठते तो···"

हिसाब नहीं मिलता है। मगर, बिस्तरे के नीचे एक सुराख है। सुराख में सिग-

रेट का टिन है। टिन में रुपया है। उमारानी, सिगरेट के टिन में रुपया है। तीन रुपया है। एक आदमी का दाम तीन रुपया…"

चाँदतारा बेहोश है, और उमारानी होश में है। लाश की तरह ठंडी उमारानी को बिस्तरे पर धकेल कर रंजन उठता है और कहता है—"अब कभी भी यहाँ नहीं आऊँगा ! तुम औरत नहीं हो उमा तुम डायन हो।"

रंजन कपड़े पहनता है। रंजन जूते डाल कर कमरे के बाहर चला जाना चाहता है। उमारानी उसके गुस्से का कारण समझती है। और चुपचाप बिस्तरे पर पड़ी हुई, थकी निगाहों से रंजन और चाँदतारा को देखती रहती है। पर कुछ बोलती नहीं। उठने की कोशिश नहीं करती है। रंजन जूते पहनता है और तेजी से बाहर निकल जाता है। उसने उमारानी को आज के पैसे नहीं दिये हैं। माँगने से भी नहीं देता, उमारानी जानती है।

रंजन के जाने के बाद आँगन के कुएँ पर जाकर उमारानी ने हाथ-पाँव धोये। फिर अन्दर आकर थोड़ी देर कैम्प-खाट के पास खड़ी रही। चाँदतारा सूती चादर में लिपटी है और बेहोश है। उमारानी ने पेटीकोट की गाँठ ठीक से बाँध कर साड़ी पहन ली और चप्पल पहन ली। फिर बिस्तरे की चादर बदलने लगी। चादर बदलने के बहाने उसने तोशक उलट दिया और फर्श में सुराख ढूँढ़ने लगी। सुराख ढूंढने और सिगरेट का टिन ढूँढने में ज्यादा वक़्त नहीं लगता है। सिगरेट की टिन ब्लाउज के नीचे, माँसपिंडों के बीच में छिपाने में वक़्त नहीं लगता है। जीते रहने में वक़्त है, मगर मर जाने में, लाश बन जाने में वक़्त नहीं लगता है।

बिस्तर ठीक से बिछा दिया गया। चादर डाल दी गई। तकिये सजा दिये गये और उमारानी ने अपनी सहेली से कहा—"मैं जा रही हूँ चाँद, कल आऊँगी। रंजन ने आज रुपये नहीं दिये। तुम्हारे हिस्से के पैसे नहीं दे सकूँगी। शायद कल वह रुपये देगा। तब दे दूँगी।"

मगर, चाँदतारा बेहोश है। उमारानी की बात सुन नहीं सकती।

भूले हुए कस्बे की याद

जगदीश चतुर्वेदी

जन्म : १३ जनवरी, १६३३, ग्वालियर।

शिक्षा : एम० ए०. माधव कालेज, उज्जैन।

कृतियाँ : जीवन का संघर्ष (कहानी संग्रह) कपास के फूल (नाटक) प्रतीति (कहानी संग्रह) अन्तराष्ट्रीय लोकयानी अनुंधाता (सम्पादन) पारिभाषिक शब्द संग्रह (सहयोगी) प्रारम्भ (सम्पादन)

अगर आप एक बार जगदीश चतुर्वेदी से मिल लें तो उपर्युक्त शास्त्रीय जानकारी बेमायनी नजर आयेगी; क्योंकि वह अपनी रचनाओं से कहीं बडा है। नया कवि, नया कहानीकार, सर्वथा नयी चिंतन पद्धति—ये कतिपय विशेषतायें उसके व्यक्तित्व और रचनाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।

खूबसूरत लड़कियों से इश्क करना और रसीली कहानियाँ और नज्में लिखना कभी उसकी हॉबी थी, मगर अब जिन्दगी का मकसद बन चुका है। चतुर्वेदी हर हसीन नज्म पर सर धुनता है, और हर हसीन लड़की को देखकर आह भरता है, मालूम नहीं कि उसके इस 'आशकाना मिजाज का इल्म' उसकी बीवी को है या नहीं, मगर एक बात पूरे यकीन के साथ कही जा सकती है कि किसी-न-किसी दिन, कभी-न-कभी, वह अपनी बीवी के मानसिक संतोष (असन्तोष ?) को एक कलाकृति के रूप में जरूर पेश करेगा—और उस लड़की की कहानी वह जरूर लिखेगा जिसने उज्जैन में पहली बार उसे मुस्करा कर देखा था; मगर जो उसे आजतक नहीं मिली।

मक्सी के बस अड्डे से जब बस रवाना हुई तो बारिश थम गयी थी। पहाड़ियों के पार से घने बादल लरजते, गरजते चले आ रहे थे। पास के खेतों में घुटनों पानी भर गया था। सड़क के किनारे बनी हुई एक मड़ैया में एक प्रौढ़ा अधखुले वक्ष से एक छोटी-सी लड़की को चिपकाये बादलों की ओर निराशा से ताक रही थी। सड़क बड़ी गंदी थी—चिपचिपी, कीचड़ भरी। छपर-छपर करती बस अपने ढीले ढाले भारी भरकम बोझ को खींचती हुई चली जा रही थी। ड्राइवर अपनी बीड़ी से भरे मुँह के जायके को बदलने पास की खिड़की से थूक रहा था। उसने बस के अड्डे से स्टार्ट होते ही अभी बीड़ी फेंकी थी। सड़क के पास से गुजर रहे कुछ किसान उसे बस का मालिक समझकर या रोज का पहचाना चेहरा जान एक लाइन में खड़े सलाम कर रहे थे। वह बड़े ठाठ से सिर हिलाकर जवाब दे रहा था गोया कहीं का बड़ा हाकिमहो।

मैं कहीं दूर ताक रहा था। सोच रहा था—'आज अनायास इतने दिनों बाद मुझे देखकर स्निग्धा क्या कहेगी। ढेर सारे वर्षों का आवरण हम पर पड़ गया है। दिन गुजरते क्या देर लगती है। उस समय तो मेरी मसें भी नहीं भीगीं थीं और अब…अब तो मैं दो बच्चों का बाप हूँ।'

मैं मुस्कराता हूँ। लम्बी सीट के कोने में बैठी बुरके वाली मुझे देखकर अपने मुँह का कपड़ा ठीक से अपनी आबदार आँखों पर डाल लेती है। सोचता हूँ—'ये मुस्लिम युवतियाँ बड़ी सुन्दर होती हैं। कितनी ख़ुशनुमा हैं उसकी आँखें—लम्बी-लम्बी पलकें।'

फिर खो जाता हूँ—'स्निग्धा शायद घर पर न मिले, उसे क्या मालूम कि बारह वर्ष बाद एक बचपन का साथी अनायास आ जाएगा। शायद मुझे पहचान भी न पाये। तब…क्या होगा?'

—मुझे अपने परिचित व्यक्ति को, अपने भुला दिये जाने पर अपना पूरा ब्यौरा देना अजीब-सा लगता है। उस दिन भोपाल स्टेशन पर कुमुद—हाँ,

कुमुद सिन्हा मिल गयी थी पर उसने कैसी अजीब आँखों से देखा था, जैसे उससे कभी कोई पहचान न रही हो। वैसे यह वही कुमुद थी जो मेरे साथ फ़र्स्ट इयर में लगातार स्टडी करती रही थी—मेरे घर दिन में दो बार आती थी, मेरे साथ सिनेमा जाती थी और कटरा ताल के पास वाले बगीचे में बैठकर सामने के तालाब में पत्थर फैंकती हुई मेरे बालों से खेलती रहती थी। और जब मैंने उसे उस दिन नमस्कार किया था तो अपने दुबले-पतले, मरियल आई० ए० एस० पति के सामने ऐसी बन गयी थी जैसे मुझे पहचाना न हो। मुझे अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी थी। उसका पति मेरी ओर हिकारत से देखता रहा था। पर, स्निग्धा...स्निग्धा का किस्सा तो उल्टा है। वह कभी ऐसा नहीं कर सकती। वह तो बेचारी जन्म की ही बैरागन है। उसके शराबी पति ने तो उसे सोलह साल की उम्र से ही छोड़ रखा है। बेचारी कैसी गलाजत की जिन्दगी बिता रही है। भरी जवानी में ही पति के जिन्दा रहते भी वैधव्य भोग रही है।

स्निग्धा के माथे का निशान तो शायद मिट गया होगा। मैंने उससे कहा था एक बार कि सिर को यदि दो सौ बार साड़ी के पल्ले से रगड़ो तो इसमें से सोने का तार निकलेगा और उस मासूम लड़की ने खूनाखून होकर भी तार निकालने की कोशिश की थी। बीच माथे पर एक लम्बा घाव हो गया था, जो बहुत दिनों तक नहीं भरा था।

उस दिन जब वह अपनी माँ के लिए स्वेटर की डिजाइन सीखने मेरी ममी के पास आयी थी, तो मुझे अकेला पाकर कहने लगी थी 'यह निशान तो तुमने मुझे जिन्दगी भर को दे दिया। मैं भी तो तुम्हें अपनी कोई निशानी दे दूँ।' मैंने कहा था—'तुम मुझे चाकू मार दो और गहरा जख्म हो जाएगा, जिन्दगी भर नहीं भुलेगा।' तब उसने अपना हाथ मेरे मुँह पर रख दिया था और अपना अधबुना स्वेटर फैंककर मेरे गले से चिपक गयी थी। बड़ी देर तक रोती रही थी और मुझे उस दिन रात भर नींद नहीं आयी थी। उसके बदन से निकली चमेली की भीनी सुगन्ध में डूबा रहा था।

—उसके बाद हम दोनों एक दूसरे से दूर-दूर रहने लगे थे। वह कभी पास से गुजर जाती तो हवा के चन्द खुशबू दार कतरे मेरे आसपास बिखर

जाते, जो अपने भँवर में लिए मुझे घण्टों मदहोश बनाते रहते !

एक दिन हम दोनों अलबम देख रहे थे। वह कभी मेरे चित्र को देखती, कभी मुझे। मैं उसकी उठती, गिरती पलकों और रेशम से मुलायम, सूखे बिखरे बालों को देख रहा था। वह कह उठी थी, 'कैसे पागलों की तरह देख रहे हो।'

मैंने कहा—'हाँ स्निग्धा, मैं पागल हो गया हूँ। तुमने मुझे जाने क्या कर दिया है।'

'सच।' कहकर वह चुप हो गयी थी। कुछ सोचती रही थी और फिर उठ कर अलबम वहीं छोड़कर मेरे गालों पर एक चिकोटी काटकर भाग गयी थी।

तभी बस एक धक्का खाकर रुक गई, सामने काली-काली अड़ियल भैंसों की एक कतार रुक गई थी। ड्राइवर गंदी गालियाँ चरवाहों को देता हार्न बजा रहा था। मैंने अपनी बाँयीं ओर देखा। बगल वाले सेठ जी चौड़े-चौड़े जबड़ों को पूरा खोलकर जम्हाई ले रहे थे। उनकी मोटी-सी तोंद सिल्क के लम्बे मारवाड़ी कोट को फाड़कर बाहर निकल जाना चाहती थी। उनके पास बैठी उनकी जवान बिटिया लगातार जवान ड्राइवर को देखे जा रही थी। ड्राइवर ने भी अपनी सीट के सामने का शीशा थोड़ा टेढ़ा कर दिया था और मुस्कराये जा रहा था। मैंने एकबार उस चौड़ी-चकली सुन्दरी को देखा, फिर गर्दन नीची कर ली।

बस चलती रही। पेड़ों के पत्तों पर से गिरती बूँदों में मुझे कई चेहरे दिखाई देते रहे। कई बार चेहरों के लम्बे वृत में कोई एक बड़ा चेहरा खिलखिला उठता। लम्बी उठी नाक। सुन्दर बरौनियाँ, पतले-पतले होंठ—बिल्कुल स्निग्धा के बचपन के होठों की तरह। मैं सोच रहा था—'अब तो वह मोटी हो गयी होगी, शरीर खूब भर गया होगा। रंजना ने बताया तो था कि वह तो अब बड़ी हो गयी है, तुम्हें अभी भी याद करती है। एक दिन हम सब लोग पिछली छत पर बैठे रात बारह बजे तक तुम्हारी ही बात करते रहते थे। फिर, रंजना कैसी शर्मा गई थी, गोया यही स्निग्धा हो।'

कोई ठहराव आ गया था। छोटा-सा बस स्टाप। मैं नीचे आ गया और सस्ती-सी सिगरेट खरीदकर फूँक मारने लगा। उस छोटे से गाँव में छोटी-सी दुकान पर सस्ती सिगरेट मिलती हैं। मैंने अपनी मन पसन्द की सिगरेट का

पैकट रखना छोड़ दिया है। लगातार पीता जाता हूँ—होंठ काले पड़ते जा रहे हैं (बकौल बीवी के), खाँसी बढ़ती जा रही है (बकौल डाक्टर खन्ना के)।

बस फिर चल दी। पास का मील का पत्थर बोल रहा था कि मंजिल अधिक दूर नहीं रही। मालवे के हरे-हरे खेत दूर तक फैले थे। बूँदा-बाँदी इधर कम थी, पीली धूप खेतों पर ढेर-सी बिखरी थी। ग्वालिनों की भरी-भरी-सी लडकियाँ सड़क पर इधर-उधर खड़ी दिख जाती थीं। हमारी लम्बी सीट की मुस्लिम युवती के बुरके का झीना आवरण मुख पर से हट गया था। बस के बायें घूम जाने से उस पर पीली धूप पड़ रही थी। मिश्र की किसी जिंदा ममी की तरह वह खिड़की पर सिर टिकाये अधखुली आँखों से मेरी ही ओर देख रही थी। उसकी नीली झील-सी आँखों में तैर जाने को मन कर उठता है।

पुल आ गया है—पुराना परिचित पुल। यहीं तो मैं और स्निग्धा, कान्ता और सुरेश···तमाम लोग खेलने आया करते थे। एक दिन लौटते-लौटते रात हो गयी थी तो स्निग्धा की 'जी' (मालवे में 'माँ' को 'जी' कहते हैं) ने उसे बहुत मारा था। वह मारते-मारते कह रही थीं—'अब तू सयानी हो गयी है, बब्बू के साथ मत खेला कर। इतनी रात तक क्या करती है।' मैं उसके दरवाजे से चिपका सुनता रहा था, फिर लौट आया था। रात में मेरा बदन बार-बार काँप उठता था। मैं सोचता रहा था कि रात में क्या कुछ किया जाता है? और स्निग्धा की जी भी उसकी ही मनाही करती है। कैसा होता होगा वह सब···

चीलर नदी के ऊपर से बस गुजर रही थी। कुछ कौवे इधर-उधर घूम रहे थे। बगुले चोंच उठाये थे। बिल्कुल वही थी नदी, वही बगुले, वही लम्बे-लम्बे आम के पेड़—सब वही था, बस हम बदल गये थे। हाँ, बदल ही गये थे।

सामान डाक बँगले में रखवा दिया है। बाथरूम में चला गया हूँ। कपड़े बदल लिए हैं। बढ़िया शेव कर लिया है। पर इन सारे यांत्रिक कामों के बीच भी दिल पर रखा मन भर का बोझ दूर नहीं हुआ है। सीने में धकधक हो रही है, जैसे किसी इण्टरव्यू में जा रहे हो। हाँ, ये भी इण्टरव्यू है, जिन्दगी भी इण्टरव्यू है—हम सब तो उस इण्टरव्यू को देते-देते ही चल बसते हैं। जिंदगी डूब जाती है, ये इण्टरव्यू ही कुछ चिन्ह छोड़ जाते हैं। टाई की गाँठ सँभालता

बाहर आ गया हूँ। पैरों में अजीब-सी कँपकँपी हो रही है।

ताँगा चला जा रहा है। वही पुराने रास्ते हैं। वही साँप-सी टेढ़ी सड़क। वही पुराना मिडिल स्कूल, जिसमें कुछ कमरे और खपरैलें जोड़कर इण्टर कालेज कर दिया गया है। वही सोमवारिया बाजार, जहाँ सोमवार को हाट लगती है। वही बाँकड़ा बड़, जहाँ पर किसी साधु को हनुमान जी ने दर्शन दिये थे। सामने छोटी-सी पीर की दरगाह। मालवे के लोगों में अभी भी पीर की तिरछी निगाह का भय है।

ताँगा छोड़ दिया है। पान की दुकान के सामने की पीली हवेली स्निग्धा की ही है। सोचता था कि मकान का रंग बदल गया होगा। पर नहीं, वही पीला रंग, वही सड़ा-सा साइनबोर्ड—बारह वर्ष में कुछ नहीं बदला। मैं सिर पर हाथ फेर लेता हूँ। मैं भी कुछ नहीं बदला। मकान की धुंधली पुताई की तरह ही सिर के कुछ बाल ही उड़ गए हैं, बाकी सब वैसा ही है–बिलकुल वैसा।

मैंने कुंडी खटखटाई। दरवाजा खुला। सामने स्निग्धा खड़ी थी। आँखें विस्मय से भरी हुईं। पीछे फिरकर उसने जोर से कहा, 'जी, बब्बू आया है—अपने मैनेजर साहब का बब्बू।'

हम लोग उनके मकान में किरायेदार रहे थे। इसलिए अपनी माँ को मेरा परिचय वह और किन शब्दों में देती। उसने मुझे अन्दर आने का आग्रह करते हुए, मुझे साथ लेकर कुंडी लगाई और दाहिने जीने पर चढ़ते हुए कहा—'कितने दिनों बाद आये बब्बू।' फिर ठंडी-सी साँस ली जो मेरे कानों को छूते हुये निकल गयी।

हम ऊपर आ गये। जी बैठी हुई थी। उनके पूरे बाल पक गये थे। चेहरे पर असंख्य झुर्रियाँ पड़ गयीं थी। मैंने झुककर पैर छुये। आशीर्वाद देती अपनी चुँधियायी आँखों से देखकर बोलीं—'क्यों रे! अपनी जी को एकदम भूल गया। कभी एक चिट्ठी भी नहीं लिखी। पहले तो यहीं दिन भर उचका करता था। सुना, अब तो बड़ी नौकरी पा गया है। अच्छा, बता क्या खायेगा—गाजर का हलुवा या नारियल की बर्फी?'

मुझे याद आ गया कि बचपन में ये चीजें मुझे बहुत पसंद थीं और इन्हें

विशेष रूप से जी मुझे खिलाया करती थीं। उनके खुद कोई लड़का नहीं था, इससे वह मुझे लड़के की तरह मानती थीं। मैं खो गया पुरानी स्मृतियों में, सामने लगे चित्रों को लगातार देखता बैठा रहा। चित्रों पर निगाह जमी तो देखा वे हाथ के बने हैं। जी के पास से उठ पड़ा और उन्हें नजदीक से देखा। स्निग्धा के बनाये चित्र थे। मैंने एक चित्र की तारीफ करते हुए कहा, 'स्निग्धा ! ये तो बड़ा सुन्दर लैंडस्केप है।' स्निग्धा ने कोई उत्तर नहीं दिया। अपने पाँव के अँगूठे से जमीन कुरेदती रही। बचपन में भी वह जब किसी बात पर रूठ जाती थी, तो दूर जाकर कोने में बैठी अँगूठे से जमीन कुरेदती रहती थी। मैं मुस्करा पड़ा। स्निग्धा भी मेरी मुस्कान का सम्मान करने मुस्करा पड़ी। कभी-कभी हम मुस्कराकर सामने वाले के मन की तमाम बातों का मौन उत्तर पा जाते हैं। तब ऐसा लगता है कि बातचीत का सारा कोष समाप्त हो गया है और जो रीतापन हममें समाया है, वही नये परिचय का श्री गणेश है।

मैंने उस चुप्पी को तोड़ते हुए स्निग्धा की ओर सीधे देखकर कहा—'आज-कल क्या कर रही हो ?'

'यहाँ एक पेन्टिग स्कूल में मिस्ट्रेस हूँ।

उसकी आकृति बड़ी सुन्दर लग रही थी। गोया कोई मंगोलियन लड़की मॉडल बनी सामने बैठी हो और मैं उसका चित्र बनाने खड़ा होऊँ। बालों की एक लट गालों पर बड़ी भली लग रही थी। यही लट बचपन में भी उलझी रहती थी। कभी-कभी मैं इसे ठीक कर देता था और फिर वहीं आ जाती थी। परन्तु अब तो बारह वर्ष का आवरण था। हम पर समाज और उम्र के पहरे बैठे हुए थे।

मैंने पूछी एक बेतुकी-सी बात—'ये सब चित्र तुम्हारे ही बनाये हैं ?'

'हाँ, बनाये तो मैंने ही हैं।'

बीच में जी बोल पड़ीं—'अरे जरा उठकर जा। बब्बू को कुछ नाश्ता वगैरह तो ला। तू तो ऐसी शर्मा रही है जैसे वह तेरी ससुराल से आया हो।'

'कहाँ शर्मा रही हूँ। ये ही तो गुमसुम बने बैठे हैं ! अच्छा ये बताओ, भाभी जी को साथ क्यों नहीं लाये ?'

'मैं तो वैसे ही इधर चला आया। वह तो अपने पिता जी के घर है। यहाँ एक सरकारी काम से आया था।'

'हम लोगों से मिलने नहीं जी! ये एक सरकारी काम से आये थे।' उसने जोर की आवाज में जी से कहा। बाद में मुझे बताया कि जी कुछ कम सुनने लगी हैं। इससे जोर से बोलना पड़ता है। आँखों की ज्योति भी क्षीण हो गयी है, यह तो स्पष्ट दिख ही रहा था।

थोड़ी देर बाद वह 'मैं अभी आयी' कहकर नीचे चली गयीं। मैं सोचने लगा—जी की साठ-पैंसठ की उमर, स्निग्धा के पिता जी तभी मर चुके थे। अब यह कैसे अपनी जिन्दगी काटेगी। जवान लड़की अगर अकेली हो तो उसको किसी का तो सहारा चाहिए ही। भगवान न करे, यदि जी को कुछ हो जाये तो स्निग्धा किसके सहारे जिंदा रहेगी? सहारे की बात पर मुझे अपने बचपन के वह दिन, खेल-खेल के वायदे, मान-मनौवल, नदी किनारे के किस्से याद आ गये और फिल्म की रील की तरह मैं दिवास्वप्न देखने लगा।

तभी जी बोल पड़ीं—'बेटा! अब तो कम ही सूझता है। हाँ, ये तो बता कि तेरे कितने बच्चे हैं। स्निग्धा कह रही थी कि दो बिटियाँ हैं। कितनी-कितनी बड़ी हैं?'

मैंने जरा ऊँची आवाज में कहा—'एक तीन वर्ष की है और एक छः महीने की है।' मन में मैंने सोचा कि इन लोगों के जीवन से मैं कितनी दूर हट गया हूँ कि मुझे ये भी पता नहीं था कि स्निग्धा क्या कर रही है और इनको ये भी पता है कि मेरे दो बच्चे हैं। मैं अनजाने ही एक असीम अनुरक्ति से भर उठा।

मैंने फिर थोड़ी देर बाद जी से पूछा—'स्निग्धा के ससुराल वाले कभी आते हैं कि नहीं जी!'

'अरे बेटा! उन दईमारों ने तो इसकी खबर ही नहीं ली। मैंने इसे पढ़ा लिखाकर इसके पैरों पर खड़ा कर दिया है। नौकरी भी करने लगी है। बेटा! जो भगवान् करता है वह झेलना ही पड़ता है।'

मैंने कहा, 'हाँ जी, ये तो ठीक है। पर यदि स्निग्धा का दूसरा विवाह कर दिया जाये तो क्या बुराई है। अभी इसकी उम्र ही क्या है।'

जी मेरी बात का जवाब देने ही वाली थीं कि एकदम दरवाजे से निकलकर स्निग्धा खड़ी हो गई और बोली, 'बब्बू, मेरी उम्र तो बीत जाएगी। तुम इस प्रकार की बातें जी से मत करो। मुझे किसी के सहारे की जरूरत नहीं है। मैं जिस जिन्दगी को भोग रही हूँ, उसकी अभ्यस्त हो चुकी हूँ। मुझे विवाह के नाम से भी नफरत है।'

जी ने उसकी आधी बातें समझकर, एक हाथ से बाँया कान दबाते हुए कहा—'अरे, तू तो उससे बचपन की तरह ही लड़ रही है। वो तो घर का लड़का है। मेरा बड़ा बेटा है। अगर उसने कोई बात कही तो उसे सुनना चाहिए। वह ठीक तो कह रहा है।' फिर मेरी ओर मुखातिब होकर उन्होंने कहा, 'बेटा, जब भी मैं इससे कोई बात करती हूँ तो ये मुझे डाँटती है और मैं चुप हो जाती हूँ।' मेरी निगाह जब स्निग्धा पर पड़ी तो मैंने देखा कि उसकी आँखें झुकी हुई थीं और चेहरे पर एक निश्चय की आभा थी। मैं इस बारे में बात निकालने पर पछता रहा था। वह थोड़ी देर वहीं खड़ी रही। फिर नीचे चली गई।

कुछ देर ब द नीचे से आवाज आई, आओ, बब्बू। नाश्ता तैयार है। नीचे ही आ जाओ, तुम कोई मेहमान थोड़े ही हो।'

मैं जी से भी कहता रहा कि तुम भी चलो पर वह वहीं बैठी रहीं निर्विकार भाव से और मुझे जाकर नाश्ता करने को कहा।

नीचे कमरे में एक टेबिल पर मिठाई की प्लेट, पानी का गिलास और नमकीन की तश्तरी रखी हुई थी। सामने अपनी सफेद साड़ी के पल्लू को मुँह में दबाये स्निग्धा खड़ी थी। उसकी बाँहों की गोलाई एक खास मुद्रा में खड़े होने से स्पष्ट दिखाई दे रही थी। मैं चुपचाप जाकर कुर्सी पर बैठ गया।

वह बोली—'नाश्ता करो न। तुम तो मेहमानों की तरह शरमा रहे हो।'

'तुम भी साथ दो ना'—मैंने कहा।

'क्यूँ साथ दूँ ? साथ लेना था तो भाभी जी को लेते आते।'

यह कहकर वह मुक्त रूप से हँसी और सामने की कुर्सी पर बैठ गयी। मैं अनमना सा बैठा रहा।

खिड़की के बाहर अँधेरा हो गया था। बारिश भी हो रही थी। उसने उठकर बत्ती जला दी। प्रकाश में उसकी आकृति देवदासियों-सी मालूम हो रही थी। मैं उसकी ओर देखता रहा, फिर गर्दन नीची करके गाजर का हलुवा खाने लगा। हलुवे में उसके हाथ की मोहक सुगंध भरी थी। वह बोली—'क्यों, चुप क्यों बैठे हो। नाराज हो गये क्या ?'

'नहीं तो'—मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

वह फिर बोली—'मैं तो तुम्हें कई बार याद किया करती थी। ये देखो निशान अभी तक नहीं मिटा है।'

मैंने देखा, माथे पर एक हल्की-सी लकीर बनी हुई थी। 'मुझसे बड़ी गलती हुई थी। स्निग्धा ! कितना गहरा जख्म हो गया था।'

वह मुस्करा उठी और बोली—'उस पर आज आपको रंज हो रहा है ?'

मुझसे मेरे विवाह की बात करती रही, पत्नी की बात करती रही। मेरे बारे में उसने जो जो बातें सुनी थीं उनकी चर्चा की। उसने बताया कि सरोज तुम्हारे चरित्र को लेकर हमेशा बेकार की बातें किया करती थी, शायद वह तुम्हारे साथ कालेज में ग्वालियर में पढ़ी थी पर मैंने हमेशा कहा कि वो ऐसा नहीं हो सकता। मुझे तुम पर बडा विश्वास है।'

'अभी भी विश्वास है। सच !' कहकर मैंने अपना विश्वास का हाथ उसकी ओर बढ़ा दिया। उसने अपना हाथ मेरे हाथ पर रखते हुए कहा, 'सच।'

मैं उस विश्वास पर अधिक बात न कर सका। इस विश्वास की सीमाएँ क्या हैं ? ये भी न पूछ सका। उसकी आँखों में एक वात्सल्यपूर्ण भावना थी, और उसमें एक मादकता भरी हुई थी।

मैंने कहा -'स्निग्धा', बुरा न मानना। तुम इस तरह कब तक जीवन बिताओगी। क्या तुम्हारी तलाक हो गई ?'

वह बोली, "तलाक नहीं, ज्युडीशल सेपरेशन हो गया है। हाँ, अब मैं स्वतंत्र हूँ। अपने मन से जहाँ चाहूँ, वहाँ जा सकती हूँ। घूम सकती हूँ। मुझ पर कोई बन्धन नहीं है।'

मैंने पूछा, "आगे का क्या सोचा है ?"

'इस तरह सोचने को कभी मन नहीं हुआ। कभी समय आया तो सोचूँगी। अभी तो पेन्टिग करती हूँ, मस्त रहती हूँ और 'जी' से बातें करती हूँ। आओ, तुम्हें एक पेन्टिग दिखाऊँ, मैंने तुम्हारा एक काल्पनिक चित्र बनाया है।'

उसने एक चित्र मेरे सामने लाकर रखा। तैल चित्र था। मुझसे मिलती-जुलती आकृति थी। हाँ, चेहरे पर घनी मूँछें थीं और आँखें चश्मा विहीन थीं, हालाँकि उनका नक्शा मेरी आँखों से मिलता-जुलता था। मैं उसे गौर से देखने लगा तो बोली—'बस, तुम ही बचपन में मेरे एक साथी रहे। मैं सोचती थी तुम अब खूब बड़े हो गये होगे। बड़ी-बड़ी मूंछें होंगी और उसी मूड में एक दिन मैंने यह चित्र बना दिया।'

'पर तुमने मेरे चेहरे पर मूंछों की कल्पना क्यों की ?' मैंने पूछा।

'सच तो ये है बब्बू कि मुझे लगता है कि पुरुषत्व का सम्बन्ध मूँछों से ही है और ये सफाचट मूँछोंवालों से मेरे आक्रोश का कारण मेरे पति का मुछमुंडा होना भी हो सकता है।'

'तो कहीं तुमने ही तो अपने पति को नहीं छोड़ा, किस्सा क्या था ? मुझे सच-सच बताओ—मैंने अत्यन्त आत्मीयता के स्वर में कहा।

वह पास खिसक आई। मैंने उसके हाथों को अपनी मुट्ठियों में ले लिया था। उसने कहा—'हाँ मैंने ही उसे छोड़ दिया है। वह शराबी, लफँगा था और सच तो यह है कि वह सब कुछ हो सकता था किसी औरत का पति नहीं हो सकता था।'

मैं नीचे देखने लगा। मुझे अब उससे कुछ पूछना नहीं था। उसके प्रति अजीब-सी करुणा के भाव मेरे मन में उपज रहे थे। वह भी चुपचाप सामने वाले बल्ब को देख रही थी। उसकी आँखों में एक ऐसी चमक थी जो किसी प्रतिहिंसा के बाद इन्सान की आँखों में पैदा हो जाती है।

मैं यह कहता हुआ उठ पड़ा—'काफी रात हो गई स्निग्धा ! मुझे डाक-बँगले जाना है।' उसने एक ठंडी साँस ली, जाने से रोका नहीं, पर ऐसा लगा जैसे वह कह रही हो कि इस बारिस में तुम तो रुक जाते। तुम तो मेरे बचपन के साथी हो।

●●

अंधेरा

हरवंश कश्यप

हरवंश कश्यप ने छटे दशक के अन्तिम चरण में लिखना शुरू किया और शीघ्र ही साहित्यिक क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गए। 'मैं और मैं', 'पराया धन' 'सूनी बाहों की मांग' आदि इनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ हैं। आजकल नवलेखन की प्रतीक हिन्दी पत्रिका 'दस कहानियां' का कार्यभार सम्हाले हुये हैं। इनकी प्रस्तुत कहानी 'अंधेरा' छप कर लोकप्रिय हो चुकी है। विवेच्य कहानी मध्यम-वर्गीय जीवन का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। कहानी का सम्पूर्ण प्रभाव एक संकेत के रूप में पाठक के मन-मस्तिष्क पर पड़ता है जो उसे झंझोड़ कर रख देता है। यह हिन्दी क्षेत्र में विराट सम्भावना को लेकर आये हैं।

इनकी हॉबीज के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना मुश्किल है। शादी से पहले बाजारे हुस्न में जाने का शौक था, शादी के बाद पत्नी-भक्त बन गये और आजकल, बकौल रतनलाल बंसल के, बेवकूफ बनने और बनाने का शौक अपनाये हुए हैं।

साथवाली मेज़ खाली हो गई है, पर मुकन्द को लग रहा है कि वह खाली नहीं है। उसकी आँखें पहले ही की तरह उस मेज़ पर तैर रही हैं—उनकी बातों और ठहाकों की उसके मस्तिष्क में बराबर घुड़दौड़ हो रही है और अनिच्छापूर्वक ही वह पाण्डेय के बारे में सोच रहा है। उसे पाण्डेय का दो रुपये बतौर 'टिप' के देना बुरी तरह खल रहा है, जबकि वह·········उसके मुँह का ज़ायका एकदम कड़वा हो जाता है। वह चाय के प्याले को यूँ घूरता है, जैसे उसमें चाय न होकर ज़हर है, जो उसने पिया है। फिर भी वह चाय का एक घूँट और भर लेता है।

पाण्डेय कुछ ही क्षण पहले बहुत उदास था। सिर झुकाए, बिलकुल मुकन्द के समान ही सोफे में धँसा हुआ था। मुकन्द को लगा था, वह भी उसी के समान दुःखी है। शायद इसीलिए वह उनकी मेज़ की ओर सरक आया था।

उस टोली को शोर मचाते रेस्तराँ में दाखिल होते देखकर, उसे बहुत अट-पटा लगा था। मन हुआ था कि इस रेस्तराँ से भाग जाए, मगर वह आर्डर दे चुका था। साथ ही उसने पाण्डेय को देख लिया था।

उसके सम्बन्ध में सोचते-सोचते मुकन्द के होंठ फैल जाते हैं। सिगरेट का लम्बा कश खींचकर वह धुआँ दरवाज़े की तरफ़ भगा देता, जैसे, उसका ख़याल हो, यह धुआँ उसे वापस लिवा आएगा।····

"पाण्डेय, आज नीलकण्ठ की यकीनन जीत होगी, यह सचमुच नीला घोड़ा है!" मुकन्द के कानों में गूँज उठता है।

सुनकर पाण्डेय का ज़र्द चेहरा अपने साथी के चेहरे पर स्थिर हो गया था और वह सूखे पत्ते की तरह चुरमुराने लगा था, "राजीव, लगता तो मुझे भी है, लेकिन।" उसकी आँखें काले गढ़ों में से बाहर गिरने-सी लगी थीं, "दोस्त

डरता हूँ, सब-कुछ तो ये घोड़े साथ ले गये हैं। अब यह चार सौ रुपया जाने बीवी ने कहाँ से जमा किया है। हिम्मत टूट रही है।"

सेठ गोविन्दराम गुगलानी की आँखों से मुस्कराहट बाहर बिखरने लगी थी। वह बोला था, "राजीव सचमुच मास्टर है, इस खेल का। कभी धोखा नहीं खाता। मैंने इसे पूना और बम्बई की रेसों में भी देखा है ···"

"सेठ, मेरी बेटी की सगाई है अगले महीने, अगर न आया तो···"

मुकन्द का सहसा मन होता है कि वह एकदम रेस्तराँ से भागे और पाण्डेय को रोक ले। वह अभी ज्यादा दूर नहीं गया होगा। उसकी बेटी की सगाई न हो सकेगी—उसकी बेटी···

पर उसे लगता है कि वह उठ नहीं सकता। उसे अचानक अपनी बहन नीति की याद आ जाती है। और उसका जिस्म शिथिल पड़ जाता है। सिर्फ उसके होंठ धीरे-धीरे हिल रहे हैं—नीति, तुम्हारा इलाज कैसे हो ? नीति, तुम ठीक हो जाओ न ! तुम आप ही ठीक हो जाओ, नीति।···मैं असमर्थ हूँ।···

उसकी पथराई हुई-सी आँखें नीति को देख रही हैं।···

वह दफ्तर में अपनी सीट पर बैठा था। तनखाह बँटने में अभी देर थी। वह अपने निजी हिसाब में लगा हुआ था। वह बहन के इलाज के लिए अधिक पैसा नहीं बचा पा रहा था। उसकी झुँझलाहट एकदम बढ़ गयी थी। वह अपने को कोसता-कोसता बहन को कोसने लगा था। आँखें मींचकर, दाँतों से निचले होंठों को काटता हुआ बुदबुदाया था—"नीति तुम मर क्यों नहीं जातीं ?"

"मुकन्दे, तुम्हारी बहन का क्या हाल है ?"

उसका मन हुआ था कि वह ढौंडियाल को धकेलता हुआ भाग जाए। पर वह ऐसा करने में असमर्थ था। अनिच्छापूर्वक सिर हिला दिया था, "वैसा ही है।"

"डॉक्टर एडवानी, सुना है, दिमाग़ी बीमारियों का माहिर है।···पर कम-बख्त पैसा बहुत लेता है।"

"बहुत सोचता हूँ, उसे दिल्ली ले ही आऊँ। गाँव में वह ठीक न हो सकेगी।" वह बहुत-कुछ कहना चाहता था, मगर उसका गला भर आया था। वह उदास

सी एक दृष्टि ढौंडियाल पर डालकर चुप हो गया था।

"···उसके पास इलाज के लिए रुपये कभी भी नहीं हो सकते। उसके चेहरे पर निराशा की परतें चढ़ती जा रही हैं। यहाँ तो अपना खर्च ठीक से नहीं चलता।

वह हार मानकर जेब में पड़ा टेढ़ा-मेढ़ा सिगरेट निकालकर, सुलगाता है।··· उसे लगता है कि नीति कभी ठीक नहीं होगी। उसकी सगाई टूट जाएगी। बरसों से तो घिसटती चली आ रही है। ··वह सिगरेट का एक जोर का कश लेता है और सोचता है, काश, उसकी नौकरी दो बरस पहले लग जाती! नीति अपने घर चली जाती। इस समय तो उसके दो-एक बच्चे भी होते।···इसे बीमार होना था, तो अपने घर होती।···

साथवाली मेज़ फिर भर गई है। हँसी में लिपटी हुई बातें उसके इर्द-गिर्द फुलझड़ी की तरह छूटने लगती हैं। मुकन्द, जाने क्यों, उनमें पाण्डेय की तरह कोई उदास आदमी देखना चाहता है। उसका मन यों ही खीझ से भर जाता है।

"जल्दी-जल्दी कुछ लो, फिर देर हो जाएगी।—ब्वाय!"

"अभी घण्टा-डेढ़ घण्टा पड़ा है, चतुर्वेदी साहब। पहली रेस तो—"

मुकन्द का सिर फटने-सा लगता है। उसकी खीझ और भी बढ़ जाती है। सोचता है, यह रेस्तराँ है या रेस का मैदान? जो भी कमबख़्त आता है रेस की बात करता है। वह बुरी तरह भिन्ना जाता है।

"मैं तो नीलकण्ठ पर बहुत बड़ी रकम लगा रहा हूँ। बाकी तो साले बिलकुल मरियल हैं·—प्रिंस, फ़्लाइंग, किंग-कांग, डेनियल, एक दम बोगस!"

"मेरा यह आखिरी दिन है आज, सत्तर-अस्सी हज़ार जीतने का प्लान है मेरा।—एक पहुँचे हुए सायीं बाबा ने आज 'एन' से शुरू होने वाले घोड़े पर खेलने को कहा है। किसी से बोलना मत। एक बार दो हज़ार इसी बाबा की बदौलत मैंने जीते थे।"

मुकन्द के होंठ फैल जाते हैं। वह एक सिगरेट निकाल कर फिर सुलगाता है और बहुत लम्बा कश खींच पूरे ज़ोर से धुएँ को दरवाज़े की तरफ़ उछाल देता है। फिर वैसे ही दूसरा कश खींचता है। उसके चेहरे पर एक मुस्कराहट

उभरने लगती है और पाण्डेय का जाते समय का मुस्कराता हुआ चेहरा उसे सामने नज़र आने लगता है। उसका मन भी चाहता है कि बैरे को दो रुपये बतौर 'टिप' के छोड़ जाए। वह सामने खड़े ऊँघते बैरे की ओर देखता है, और सहसा उसे लगता है कि वह बेहद थका हुआ है। वह मुस्करा नहीं सकता। वह फिर सोचने लगता है…उसे याद आता है—

"मुकन्दी, तुम मेले से आये, और नीति के लिये कुछ नहीं लाये। तुम्हें शर्म आनी चाहिए।" बापू गुस्से में बोले थे।

"बापू, आपने एक तो रुपया दिया था। दस आने तो किराये में ही लग गये।" मुकन्दी ने सहमते हुए जवाब दिया था।

बापू नर्म पड़ गये थे, "पैदल आ जाते, मेरे शेर! तुम्हारी बहन क्या सोचेगी, उसका 'वीर' मेले गया, उसके लिए कुछ न लाया!…वह जो चवन्नी तम्बाकू के लिए दी है, उसे दे देना। लड़कियाँ गाय होती हैं, बेटा, वे कुछ माँगती थोड़े हैं।"…

मुकन्द एकदम बैरे को पुकारता है, "बिल लाओ, मुझे बहुत जल्दी है, बहुत!"

वह रेस्तराँ से बाहर आ जाता है। उसके पग तेज़ी से बढ़ते हैं। आँखों के सामने अनगिनत घोड़े भाग रहे हैं—नीलकण्ठ सबसे आगे-आगे है, सचमुच उस पर नज़र नहीं ठहरती, बिजली की तरह दौड़ रहा है।…

कल गाँव से एक पत्र आया था—बेटा, नदी का पानी दालान की दोनों दीवारें साथ बहाकर ले गया है। मिस्तरी चाचा कहते हैं, अभी मरम्मत हो जाय तो पचास में काम चल जाएगा। नहीं तो बाद में बहुत पैसे लगेंगे।…नीति अब हमारे सँभाले नहीं सँभलती। रात हम लोग उसे महन्तों के तालाब से पकड़-कर लाये थे।—

वह भागने लगता है। फिर सहसा रुक जाता है। उसे ख्याल आता है कि इस तरह तो सात जन्म में भी वह रेस-कोर्स नहीं पहुँच सकता! उसकी आँखें सड़क पर फैल जाती हैं। कमबख्त एक भी स्कूटर नज़र नहीं आता। उसके होंठ भिंच जाते हैं। माथे पर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ उभर आती हैं। वह बस का नम्बर अपने दिमाग में टटोलने लगता है।

"बेटा, आज का दिन तुम्हारे लिए बहुत भागवान मालूम होता है ! जरा हाथ तो दिखलाओ, बाबू !"

"सच ?" हाथ फैलाता हुआ मुकन्द मुस्करा उठता है।

"बाबा झूठ नहीं बोलता !" आँखें चढ़ाकर बाबा बोलता है, "तू जिस काम से जा रहा है, उसमें सफल होगा बेटा ! लेकिन जल्दी जा ! देर मत कर !"

मुकन्द जल्दी से जेब में हाथ डालकर पैसे निकालता है और बाबा को देते हुए चिल्लाता है, "स्कूटर !"

भीड़ के साथ वह भी भीतर चला जाता है। लोग भाग-दौड़ रहे हैं। वह भी उनका अनुसरण करने लगता है।

भीड़ के साथ ही काउण्टर की ओर सरकने लगता है। काउण्टर के आस-पास टोलियाँ खड़ी हैं। उनमें से एक में वह ठहर जाता है। लोग घोड़ों की चर्चा कर रहे हैं। वह फिर दूसरी टोली में जा रुकता है और फिर तीसरी—उसके रोम-रोम में खुशी की एक लहर दौड़ने लगती है—सभी तो नीलकण्ठ के पक्ष में हैं ! वह कतार में जा खड़ा होता है।

कतार लम्बी है। अभी चल नहीं रही है। तनिक भी देर उसे बर्दास्त नहीं हो रही है। उसके पाँव एक जगह ठहर नहीं पा रहे हैं।

आगे का आदमी उसका दबाव महसूस कर उसे घूरते हुए कहता है, "महाशय, अभी तो पन्द्रह-बीस मिनट हैं विंडो खुलने में और आप—"

वह एक सिगरेट सुलगा लेता है और धुएँ के छल्ले बनाने की कोशिश करने लगता है। पर छल्ले ठीक से बनते नहीं हैं, मुँह से निकलते ही फैल जाते हैं। जब वह बहुत खुश हुआ करता है तो छल्ले बनाया करता है – बहुत दिन हो गये हैं छल्लों को बनाये —

"मेरा मन होता है, मुकन्द, तुम्हें सिगरेट पीने से रोकूँ, पर तुम्हारे छल्लों में ही फँसकर मैं रह जाती हूँ, सब-कुछ भूल जाती हूँ, अपने-आप तक को भी।" कुसुम ने एक वार कहा था।

"सच ?" कहते हुए मुकन्द ने एक छल्ले में उसके चेहरे को उतार लिया था, "सचमुच ? और तुम मेरी हो जाओ तो मैं दुनिया का सबसे भागवान आदमी

हो जाऊँगा !"

वह एक लम्बा कश लेकर धुआँ दूर उड़ा देता है और काउण्टर की तरफ बेचैनी से ताकता है।—

कुसुम उसकी हो जाएगी

उसके होंठ थिरकने लग जाते हैं।

उसका बाप, जो अपनी बेटी को अच्छे घर में देना चाहता है, अब सहर्ष उसको सँभाल देगा।—

उसके सारे शरीर में एक भीनी-भीनी खुशबू रच-बस जाती है।

एक प्राइवेट कम्पनी में साढ़े तीन सौ नौकरी थी, वह इण्टरव्यू में आ गया था। उस दिन कुसुम कितनी खुश थी। उसने विश्वास दिलाया था कि वह अपने पिता को मना लेगी। मगर जाने फिर क्या हुआ कि वह नहीं लिया गया था।—

विंडो का काला, छोटा-सा दरवाजा खुल गया है। कतार में एक उत्साह-सा भर गया है। मुकन्द जेब में पड़े नोटों को हाथ में भर लेता है और अनुभव करने लगता है कि उसकी जिन्दगी में एक नई खिड़की खुल गई है और चारों ओर रोशनी फैल गयी है—नीति बिल्कुल स्वस्थ हो चली है—शहर में ही माँ आ गई है—एक नया मकान ले लिया है उसने—कुसुम दुल्हन बनी घूँघट काढ़े खड़ी है।—

"हाँ साहब !" काउण्टर-क्लर्क की आवाज सुनाई देती है।

वह हड़बड़ाया-सा नोटों की गड्डी विण्डो के पास करता है और कहने की कोशिश करता है—यह सब नीलकण्ठ पर, लेकिन कह पड़ता है, "नीलकण्ठ न आया तो ?"

"बाजू में हटकर सोचो, मिस्टर !"

पीठ पर जैसे एक सैलाब आता है और मुकन्द को बाहर फेंक देता है। मुकन्द के सामने अँधेरा छा जाता है।

वह कतार में फिर नहीं जाता। मुँह लटकाए, धीरे-धीरे वह बाहर निकल रहा है। उसके पीछे एक शोर है और आगे अँधेरा है। उसे जैसे रास्ता नहीं दिखाई देता, फिर भी चल रहा है।

खरगोश

नीलकांत

इस कहानी का लेखक अभी बिल्कुल नया है, मगर 'कहानी', 'नई कहानियाँ', 'माया' आदि पत्रिकाओं में उनकी जो रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, वे प्रौढ़ शिल्प और जीवन में गहरी पैठ का पता देती हैं। शकलो-सूरत से लेखक नहीं, गुरुकुल कांगड़ी के अध्यापक नजर आते हैं। इलाहाबाद विश्व विद्यालय से एम० ए० (दर्शन शास्त्र) कर चुके हैं और आजकल शोध कार्य कर रहे हैं। यकीनन यह नीलकांत की कोई क्वालीफिकेसन्स नहीं होगी, अगर कहा जाए कि वह मार्कण्डेय के छोटे भाई हैं। मार्कण्डेय साहब का उन पर जरा भी असर नहीं (जीवन पर हो, कहानियों पर बिल्कुल नहीं)

'खरगोश' कहानी का शिल्प और वैचारिक पृष्ठ भूमि—दोनों में ताजगी है, और यह तथ्य हमारे सामने उभर कर आता है कि समय इन्सान को रौंध डालता है।

मेरा खरगोश मुझे वापस लौटाओ, काले, मेरा खरगोश मुझे वापस लौटा दो।' इतना कह कर मैं काले मुसहर के गले से लिपट गया था, और व्यर्थ ही सिसक-सिसक कर उसके सीने पर अपना सर पटकने लगा था।

अब हँसी आती है। क्यों कहा था मैंने, और काले ने मेरा खरगोश वापस लौटा दिया, तब भी क्या हुआ था, न लौटाता तब भी क्या होता? उस वक्त वह खरगोश अधमरा हो चुका था, उसके नर्म मुलायम रोयें धूमिल पड़ गये थे, उसकी आँखों की तरल सफेदी, चंचल भय और डरी हुई खूबसूरती—सब जा चुकी थी; किन्तु फिर भी मैं उस लाश को पाकर खुश हुआ था। अब भी, जब स्मृति की गुफाओं में चेतना उन पिछले दिनों को ढूँढते हुए, दूर तक उन उजले क्षणों का पीछा करती है तो सहसा बचपन चित्रित हो उठता है और आनन्द की अनुभूति होती है। कैसी हैं वे स्मृतियाँ! जैसे चाँदनी रात में किसी गाछ के नीचे उछलती हुई सफेद और काली परछाइयाँ—खरगोश और काले, काले और खरगोश! 'काले' के आबनूसी पंजों में उछलता हुआ खरगोश! वह सफेद परछाईं कितनी अच्छी लगती है।

स्मृति के इन क्षणों में सारी वस्तुएँ मौन हो जाती हैं, वे एकटक मुझे घूरने लगती हैं, जैसे मैं हमेशा इनके लिए अजनबी रहा हूँ—ये किताबें, कुर्सी, अखबार —और यह कृत्रिम जीवन!

'रज्जन!'

'क्या?'

'इधर आओ, जरा सुनो तो।'

मैं समझ जाता था कि कोई न कोई उलाहना आ गया है। सारा दिन खेल में बीतता था, और शाम होते-होते कोई न कोई गलती कर ही बैठता था।

किन्तु अब उन गलतियों को गलती नहीं कहते बनता, क्योंकि गलतियाँ जान-बूझ कर ही की जाती हैं। सच कहता हूँ—कुछ भी करता था, उसके लिए तब पश्चाताप नहीं होता था --फिर कैसे कहूँ वे गलतियाँ थीं।

'कहाँ थे अब तक ?'

'खेलने गया था।'

'खेलने तो नहीं गये थे।'

'तब कहाँ गया था ?' मैं पूछता।

पिताजी मेरा कान पकड़ते हुए कहते, 'नगेश्वर अहीर के खेत में खरगोश पकड़ने गये थे, यह भी मुझे ही बतलाना पड़ेगा।' मैं डर कर दरवाजे में देखता, चम्पा खड़ी-खड़ी हँस रही होती। जैसे ही पिताजी मेरा कान छोड़ते मैं रुआँसा होकर उधर ही भागता जिधर चम्पा हँसकर छिप गई होती।

स्मृति भी उसी ओर भागती है—सात-आठ रोज से हम लोग उस खरगोश का पीछा कर रहे थे, परन्तु उसे जिन्दा पकड़ना मुश्किल हो गया था। बूढ़े कुत्ते उसका पीछा करते, किन्तु वह तीर की तरह, नदी की तलहटी की ओर भाग जाता। कहीं जाकर वह घनी झाड़ियों में छुप जाता, या दूर क्षितिज की ओर बादल के एक नन्हें धब्बे की तरह खो जाता था—तब बड़ी निराशा होती थी और हम लोग खाली हाथ वापस घर की ओर लौट आते; जानते थे कि दौड़कर हम उसे पकड़ नहीं सकते।

फिर दूसरे दिन नगेश्वर अहीर के खेत को घेर कर हम लोग सतर्कता से खड़े हो जाते थे। क्योंकि तम्बाकू के उस खेत में उस खरगोश ने अपना अड्डा बना लिया था। तम्बाकू के पौधों के नीचे बड़ी घनी छाया होती है, हाथी के कानों की तरह खूब चौड़े-चौड़े पत्ते होते हैं, हरे—हरे—! रोज-रोज पानी पाने से जमीन नम रहती थी—

उन दिनों के बारे में सोचते-सोचते सहसा आदिम युग में पहुँच गया हूँ—जैसे बस्ती से बहुत दूर पत्थर के टुकड़ों पर बैठा हुआ मैं कुछ सोच रहा हूँ।

'सुनो, सुन कर जाओ चम्पा !'

'क्या ? इसमें मेरा क्या दोष है ?'

'तुमने पिताजी से क्यों बतलाया ?'

'अरे ! मैंने', वह हँसते-हँसते विस्मय में पड़ गयी, 'मैंने ! खुद नगेश्वर आया था। तुमने उसका खेत खराब कर दिया है। उसके पौधे तोड़ डाले हैं। मैंने सोचा था पहले से ही तुम्हें बता दूँगी, किन्तु पिताजी ने तुम्हें देख लिया।'

'चलो, ठीक है। खरगोश तो मैंने आज पा ही लिया।' मैं उस दिन बहुत खुश था।

'झूठ, कहाँ है ?'

'सुबह दिखाऊँगा। अब शाम हो रही है। कहीं निकल भागा तो बस—' कहते हुए मैंने चम्पा की पीठ पर एक घूँसा दिया, वह सिकुड़ कर सर्पाकार रेखा की शक्ल में बदल गई थी और तेजी से सीधी होकर उसने अपने दोनों पंजों को मेरी पीठ में गड़ा दिया था। 'मैं भी लगा दूँगी,' कहते हुए उसने मेरे जंघे पर एक घूंसा दिया। फिर वह ज़िद करती हुई बोली, 'दिखाओ, कहाँ है वह खरगोश!'

'कह दिया न एक बार, सुबह दिखाऊँगा।'

'नहीं अभी, नहीं तो···फिर हाँ···!'

'मेरा ख़रगोश चुरा लोगी ?'

'हाँऽऽ···समझ गये तुम।'

'अच्छा, आ।' मैं चम्पा को लेकर दालान के उस कोने में गया, जहाँ ख़रगोश का पिंजड़ा बँड़ेरी पर अँधेरे में लटका हुआ था। पिंजड़ा उतार कर, दीवार के एक कोने में ले जाकर मैंने धीरे से उसका दरवाजा खोला, और चम्पी का हाथ पकड़ कर पिंजड़े में डाल दिया। पहले तो वह चिहुक गयी, किन्तु बाद में वह हँसने लगी थी।

'बड़ी तेज गुदगुदी लगती है, कितना मुलायम है!' उसने सहलाते हुए कहा था। 'अब तो रोज इससे खेला जायेगा।' मैंने धीरे से उसका हाथ हटा दिया था और खाने के लिए पिंजड़े में चारा डाल दरवाजा बंद करके उसे दुबारा बँड़ेरी पर लटका दिया था। इन स्मृतियों से अजीब चित्र बनता है, जैसे अज्ञात आकृतियाँ क्रास पर जगह-जगह, बेगुनाह लटका दी गई हैं।

जिन्दगी अजीब ढंग से बदलती है—और कुछ नहीं खोता, सिर्फ़ वस्तुओं के

रूप खो जाते हैं। स्थान नहीं बदलता, आकाश नहीं बदलता—न जाने क्या हो जाता है कि सब कुछ बदला हुआ नजर आने लगता है। अब भी उस हाते से होकर गुजरता हूँ तो एक अदृश्य खरगोश को आँगन में डौंकते हुए देखता हूँ, सहसा आँगन में घासें उग आती हैं, हरी-हरी, और झाड़ियों की आड़ में खरगोश की चंचल खामोशी···स्मृति की माया पर जरा-सी हँसी आती है और क्रम टूट जाता है।

सुबह होते ही, जैसे ही पिताजी कहीं जाते, चहार-दीवारी के दोनों फाटक बंद करके मैं पिंजड़े सहित खरगोश लेकर आँगन में बैठ जाता था। देर तक उस सशंक जानवर को अपने प्रेम का विश्वास दिलाता रहता था, किन्तु वह गोद से गेंद की तरह छटक कर जमीन पर जा निकलता और मैं बार-बार उसे गोद में लेने का प्रयत्न करता। जाने कैसी अनुभूतियों से मन भर उठता था, रोम-रोम झरोखा बन जाता था···चारों ओर से पवन की वर्तुल थिरकनें आकर आत्मा के गिर्द छा जाती थीं। मैं अपने सारे बदन पर, खरगोश के मुलायम रोओं को, सीने और पेट पर उसके नन्हें दिल की धुकधुकी को महसूस करता था। चम्पा इस बात से बहुत चिढ़ती थी। वह पीछे से आकर मेरी पीठ पर बैठने की कोशिश करती और घोड़े के सवार की तरह अपनी रानों से मेरी बगलों को दबाती। फिर मेरे कंधे पर अपनी गर्दन झुका कर, उँगलियों से खरगोश को छेड़ने का प्रयत्न करती थी। सहसा खरगोश गोद से निकल कर भाग जाता। किन्तु फाटक बंद रहते थे, इसलिए वह आँगन में ही चौंक-चौंक कर घूमता-फिरता और हम दोनों उसे देख कर खूब हँसते, विशेष कर उस समय बड़ी जोर की हँसी आती थी, जब खरगोश अपने दोनों अगले पैरों को उठा कर दीवार में बने किसी छेद की बगल में रखता, फिर उस जगह पर अपनी नाक ले जाकर सूँघता और चौंक कर बड़ी तेजी से दूसरे कोने में जा छुपता। तब चम्पा खरगोश की क्रियाओं का अनुकरण करते-करते हँसी के मारे लोट-पोट हो जाती थी। मुझे भी अनायास हंसी आती थी तब। जाने क्यों?

'अगर यह मर जाय तो?' सहसा चम्पा बीच में बोल उठती।

'मैं भी मर जाऊँगा,' मैं कहता।

'खरगोश के पीछे !' वह विस्मय से पूछती।

'और क्या तेरे पीछे !'

'खरगोश मुझसे अच्छा है क्या ?'

'तुझसे अच्छा ही है,' मैं कहता।

ऐसे समय में चम्पा की जिदें देखने लायक होती थीं। वह खरगोश को अपने से अच्छा मानने के लिए तैयार ही न होती। मैं खरगोश को उससे बुरा कहने के लिए तैयार न होता। इन क्षणों में हम दोनों झगड़ा करके ही संतुष्ट होते थे—किन्तु शुरुआत चम्पा ही करती थी। वह जानती थी कि मैं किस बात से नाराज होता हूँ। मैं जिस चीज की तारीफ करता, वह उसी की निन्दा करती, मैं जिन चीजों को प्यार करता, वह उन्हें चोट पहुँचाने की कोशिश करती—उस दिन भी उसने यही किया। अपनी लम्बी बाहें बढ़ा, खरगोश का कान पकड़ कर खींच लिया। खरगोश चीं-चीं करके छटपटा उठा। मैंने कहा, छोड़ दो !' किन्तु उसने दृढ़ता से आँखें मिलायीं और खरगोश को हवा में लटकाते हुए बोली, "यह जंगली जानवर मुझसे अच्छा है ?' इतना कह कर उसने गेंद की तरह उसे जमीन पर उछाल दिया।

किन्तु साथ ही साथ वह अपने अपराध के प्रति सचेत भी हो गई थी। वह भागने की तैयारी कर ही रही थी। जैसे ही उसने डग बढ़ाये, मैंने उसकी टाँगों में अपनी टाँगें भर दीं। वह हँसते हुए जमीन पर गिर पड़ी—जैसे हरे केशों वाली ईख टूट कर जमीन पर गिर पड़ी हो। मैं उसके पेट पर बैठ कर उसकी गर्दन दबाने लगा था, किन्तु अब भी वह खिल्-खिल् हँसती जा रही थी और उसकी पलकों की फाँकों से आँसू बहते जा रहे थे। 'मैं भी तेरा गला घोंट दूँगा—समझी, चुड़ैल मेरे खरगोश को मारती है !'

किन्तु मेरे दबाने से उसे कोई तकलीफ नहीं हुई, जैसे मैं हँसती हुई पीले पत्थर की एक मूर्ति को झापड़ मार कर रुलाने का प्रयत्न कर रहा था। मैं उसे गुदगुदा नहीं रहा था, बल्कि पूरी ताकत से दबा रहा था। फिर भी वह सन-कियों की तरह हँसती चली गई। शायद वह इसलिए हँस रही थी कि मेरे पंजे उसकी गर्दन पर नहीं थे, और मैं कहता जा रहा था गला दबा दूँगा !'

तभी सहसा पिछले दरवाजे से माँ आ गयीं। उन्होंने देखते ही चीख कर कहा, 'राजू पापी राजू! क्यों रे दूसरे की लड़की को इस तरह से मारते हैं। कसाई कहीं के! पराये घर की लडकी को इस तरह से—?' माँ को देखते ही मैंने चम्पा को छोड़ दिया और वह उठ कर भाग गई।

'मेरे खरगोश को मारती है?' मैंने सर झुका कर कहा था।

'खरगोश वाले बने हो—खरगोश के लिए सयानी लड़की को मारोगे!' माँ कह कर वापस चली गई थीं और उनकी बातें मेरे कानों में गूँजने के लिए रह गई थीं। चम्पा पराये घर की है, चम्पा सयानी हो गई है, चम्पा परायी है; वह मेरी बहन नहीं है।

फिर चम्पा इस घटना से नाराज न होगी। मुझे इस बात का विश्वास था, क्योंकि मैंने उससे बीसों बार झगड़ा किया था, और इसी तरह से मैंने उसे कई बार दबाया था। किन्तु उसने कभी भी किसी से उलाहना नहीं दिया था। वह नाराज होती, और खुश हो जाती। कभी किसी से शिकायत न करती। उस दिन भी मुझे विश्वास था कि चम्पा किसी से नहीं कहेगी, जाने क्यों इस तरह के विश्वास थे तब?

जैसे ही माँ गयीं, चम्पा सहमी हुई-सी दुबारा लौट आयी। शायद वह बाहर छुप कर माँ का डाँटना सुन रही थी। मैं चुपचाप खरगोश को देख रहा था। वह अकेले अपनी परछायीं को देखता हुआ चौंक-चौंक कर खेल रहा था। चम्पा मेरी बगल में आकर घुटने मोड़ कर बैठ गई थी। मैं अब तक चुप था। तभी फिर खरगोश आकर चम्पा के पैरों के पास रेंगने लगा था।

'पकड़ो!' मैंने धीरे से कहा।

'क्या?' चम्पा ने फिर विस्मय से मेरी ओर देखा।

'खरगोश को!' मैंने इशारे से कहा।

'डर गया है। नहीं, गुदगुदी लगती है, बहुत मुलायम है।' कहते-कहते चम्पा को रोमांच हो आया था। वह चाहती तो खरगोश को पकड़ सकती थी, किन्तु इस बार उसकी इच्छा ही नहीं थी। उसने छूकर उसे चौंका दिया और

वह दूर जाकर कोने में मुँह छुपाने लगा। फिर चम्पा चौंक-चौंक कर हँसने लगी थी—खरगोश की कई क्रियाओं का अनुकरण करते हुए वह बहुत खुश होती थी।

'जोड़ा खरगोश और अच्छे लगते हैं। खूब खेलते हैं, आपस में।'

'तुमने देखा है ?' मैंने पूछा।

'हाँ, मामा के यहाँ पाला गया था।'

मैं एकटक खरगोश की परछाईं को देख रहा था।

'यह भी तो जोड़ा है—देखो वह दूसरा।'

'झूठ, कहाँ है ?'

'वह दीवार पर,' मैंने उसे चिढ़ाने के लिए कहा।

'धत्, वह तो परछाईं है।' और उसने मेरे दायें हाथ को कस कर पकड़ते हुए उधर परछाईं की ओर देखा था। जाने इन बातों में क्या सार्थकता थी तब।

दोपहर हो गई थी। चम्पा उठ कर जाने लगी ; कुछ सोचकर रुकी, और उसने मुझे चिढ़ाने का प्रयत्न किया, 'तुम पढ़ने चले जाओगे तो मैं तुम्हारा खरगोश छोड़ दूँगी।'

'छोड़ देना, मुझे इसकी परवाह नहीं।' मैंने उसे स्पष्ट उत्तर दिया।

'तुम मुझे पीटोगे नहीं ?'

'नहीं, क्यों पीटूँगा ?'

'क्यों ?'

'क्योंकि तुम पराये घर की हो और सयानी हो गई हो।'

चम्पा पल भर ठिठकी खड़ी रही, जैसे वह कुछ समझने का प्रयत्न कर रही हो। उसने पूछा, 'तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं सयानी हो गई हूँ ?'

'मुझे क्या मालूम, माँ कह रही थीं।'

'सयानी होने का क्या मतलब, बताओ रज्जन ?' उसने पास आकर जिद भरे स्वर में पूछा।

'धत्, मुझे क्या मालूम। माँ कह रही थीं कि सयानी लड़की से झगड़ा नहीं करना चाहिए, समझी ?'

चम्पा असमंजस में पड़ी पल भर खड़ी रही, फिर धीरे से कुछ सोचती हुई,

आँचल को सँभालती हुई, फाटक की ओर चली गयी। उसे देखते ही खरगोश भाग कर एक दूसरे कोने में जा बैठा।

जब चम्पा वापस चली गयी तो मैं खरगोश को पकड़ कर पिंजड़े में रखने का प्रयत्न करने लगा था, किन्तु वह हाथ लगाने ही नहीं दे रहा था। इस कोने से उस कोने में, उस कोने से इस कोने में—सहसा वह खिड़की पर उछल पड़ा, किन्तु वहाँ तक न पहुँच सका और जमीन पर पिछले पैरों के बल गिर पड़ा। गिरते ही वह छटपटाने लगा था। मैंने उसे पकड़ने के लिए जब हाथ बढ़ाया तो वह गुस्से में फन्-फन् करते हुए पिछले पैरों को घसीटते हुए रेंगने लगा था—उफ़! अरे—उसकी पिछली दोनों टाँगें टूट गयी थीं। वह पीड़ा और गुस्से से मेरे हाथों का स्पर्श पाते ही तड़पने लगता था।

मैंने कई दिनों तक उसकी दवा की, किन्तु इतनी अधिक चिन्ता के बाद भी वह अच्छा नहीं हुआ। उसका चटक रंग मटमैला और धुँधला होता गया। उसकी सुकुमारता और चंचलता घट गयी थी। दूसरे दिन शाम को जब मैं वापस आया तो काफी अँधेरा छा गया था। मैं थका हुआ चुपचाप खाट पर लेट गया था—तभी चम्पा अपने घर से आ गयी थी। आते ही उसने कहा, 'तुम्हारा खरगोश ले गया।'

'कौन?' मैं चौंक कर उठ बैठा था।

'काले मुसहर!'

'क्यों? किसने कहा?' मैं तड़प उठा था।

'माँ ने कह दिया, उन्होंने कहा अब यह बचेगा नहीं, घर में इसकी तकलीफ देखी नहीं जाती।' चम्पा ने बतलाया।

'मर रहा था। क्या?'

'नहीं, जिन्दा था, अब मर जाएगा।'

मैं रोने लगा था और इसके लिए माँ को दोष दे रहा था। किन्तु चम्पा वहीं बैठ कर मुझे आश्वासन देने लगी थी—शायद वह न होती तो उस दिन मैं बहुत रोता। उसने दोनों हाथों की उँगलियों से टटोल कर मेरी पलकों को छुआ तो हँसने लगी।

'खरगोश के लिए रो रहे हो।

'तब किसके लिए रोऊँ, तुम्हारे लिए ?' मैंने सिसकते हुए कहा था।

'मैं कोई खरगोश हूँ ?' कह कर वह फिर हँसने लगी थी

मैं कुछ देर चुप रहा।

'मैं सुबह जाकर अपना खरगोश ले आऊँगा।' मैंने कहा।

'अब क्या करोगे उसे, वह बहुत तकलीफ भुगत रहा है—अच्छा है उसे काले खा जाए।'

'काले उसे खा जाएगा ?'

'हाँ, वह क्या नहीं खाता, साँप, लोमड़ी, बिल्ली, सियार, सुअर—सारे जानवरों को खाता है। वह खा गया होगा कि अभी तुम्हारा खरगोश रखा होगा ?' चम्पा ने बतलाया।

चम्पा चली गयी तो देर तक नींद नहीं आयी। रात भर खपरैलों पर सफेद-सफेद खरगोशों का भ्रम होता था। आँगन के चारों कोनों में गहरा अँधेरा था और बीच में चाँदनी की त्रिभुजाकार रोशनी फैली हुई थी—एक अजीब-सी आकृति बन रही थी। जैसे काले हँस रहा था और उसके जबड़ों में एक सफेद खरगोश फँसा हुआ तड़प रहा था। मुझे लगा काले कोई भयानक सत्ता है, वह समय और परिवर्तन की तरह कोई अदृश्य शक्ति है, जो हर वस्तु को खाता जा रहा है, हर चीज को घसीटे लिए जा रहा है, सारी वस्तुयें उसके आकर्षण बिन्दु की ओर भागी जा रही हैं। जैसे सब कुछ ढाल पर रखा हुआ है, सिर्फ फिसलने के लिए—फिसल कर एक गहरी खाई में गिरने के लिए—जहाँ वस्तुयें टूट जायें, और काले उन्हें खा जाए। काले सब को खा जाएगा। जानवर, आदमी और सुन्दर बच्चों को, सबको—वह हमको, चम्पा को, सबको एक दिन कमजोर पाकर खा जाएगा। मुझे याद है, उस दिन मैं सारी रात सो नहीं सका था—मुझे अदृश्य काले ने आतंकित कर दिया—और उसके आबनूसी रंग के पंजों में मेरा खरगोश तड़पता हुआ दीख पड़ा।

···और सुबह होते ही मैं काले के घर की ओर भागा था। मैं काले के गले से लिपट गया था। उस शैतान से मैंने अपना खरगोश माँग लिया था।

यद्यपि काले ने मेरा खरगोश लौटा दिया था और मैं उस अधमरी लाश को पा कर खुश हुआ था—फिर भी अब सोचता हूँ, यदि काले ने खरगोश न लौटाया होता तो भी, और लौटा दिया तो भी क्या हुआ ? वह खरगोश की खूबसूरती, चंचलता, सशंक आँखों की तरलता और मासूम जिन्दगी की ताजी धड़कनों को नहीं लौटा सकता था—हर्गिज नहीं। फिर भी खरगोश को पाकर मैं खुश हुआ था, जैसे अभी-अभी स्मृति में बचपन को पाकर खुशी हुई है—समय भी माँगने पर बचपन को लौटा देता है, किन्तु वह जिन्दगी, वह बचपन नहीं लौटाता, कभी नहीं, वह नहीं लौटा सकता।

सोचता हूँ, इन बातों को न भी याद किया जाए तो क्या हर्ज है। उन बातों में अब क्या रखा है। उनके भोलेपन, सादगी और सरलता का अब क्या अर्थ हो सकता है ?

चम्पा देखते ही चौंक पड़ी थी, 'अरे, फिर ले आये।' उसने एकटक मुझे देखा, फिर अधमरे खरगोश को देखने लगी, 'अब यह मर जायगा।'

'मर जाय, मुझे इसकी परवाह नहीं है।'

'क्या करोगे, जब यह मर जायगा तब ?'

'इसकी कब्र बनाऊँगा,' मैंने कहा था, 'वह जो सामने टीला दिख रहा है, उस पर।' मैंने उँगली उठा कर चम्पा को क्षितिज की ओर दिखाया था। उस दिन हम दोनों दिन भर, खरगोश को घेर कर बैठे रहे। खरगोश की आँखों में मौत का आतंक छाया हुआ था, एक नन्हीं-सी जान पर वह इतना दबाव डाल रही थी। उफ ! जी में आया खुद मैं ही उसे मार डालूँ। उसका शरीर रबर की तरह सिकुड़-फैल रहा था।

'अब यह मर रहा है।' मैंने चम्पा को बतलाया।

'कैसे मालूम ?' चम्पा भयभीत होकर मेरे दायें कंधे पर झुक आयी थी।

'इसकी आँखें जम रही हैं, इसे हिचकी आ रही है।'

'क्या इसकी जान निकल रही है ?'

'हाँ, हिचकी तो आ रही है।'

'आदमी भी ऐसे ही मरता होगा ?'

कनफूल

●

सुशील कुमार

सुशील कुमार का जन्म १९३२ में उत्तर प्रदेश के एक गाँव में हुआ। यही वजह है कि आपकी अधिकाँश सफल कहानियाँ ग्राम्य जीवन को ही लेकर लिखी गयी हैं। उत्तर प्रदेश के अनेक आँचलों के शब्द-चित्र आपने अत्यन्त खूबसूरती से पेश किये हैं। ग्राम्य के दुख-सुख, प्यार और नफरत को इन्होंने कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। "कनफूल" कहानी की आँतरिक सम्वेदना, गठन और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती है।

अनेक पत्र-पत्रिकाओं में काम करने के बाद, अब "फ्रीलाँसर" बन गये हैं। जिस लड़की से शादी की है, उसे पत्नी और प्रेमिका दोनों रूपों में ग्रहण किये हैं। न जाने यह हॉबी है या मजबूरी ? यों सुशील कुमार को एक शिकायत है कि गाँव की लड़कियाँ उसे 'वायरन' समझती हैं, मगर शहरी लड़कियों उसकी तरफ देखना भी पसन्द नहीं करतीं। मगर मुझे यकीन है कि जिस दिन इसी अनुभूति को उसने शब्दों का लिबास पहना दिया, वह एक हसीन कहानी बन जायेगी।

बंसी आज फिर चन्दर बाबूका ऊँट लादकर जगतपुर की हाट जाने वाला है—सुनते ही सबको अपने-अपने सौदे की पड़ गयी। सुखेन नाऊ की जवान बेटी टंटी ने तो उसका घर खूँद डाला। दिन भर में पूरे पचीस बार आयी: "बंसी भैया, याद रखना, ऐसी ही चूड़ी खरीदना, यह जो नगजड़ी है न! मोती वाली······

बंसी हँस पड़ा। हर बार टंटी मोती जड़ी चूड़ी सहेजती, पर जगतपुर के हाट में वैसी नगदार चूड़ी भला कहाँ आती?

देवता पंडित की पतोहू ने कजरौटा मँगवाया था। छोटा बच्चा रात को चौंक-चौंक पड़ता है, चारपाई के सिरहाने रखने के लिए एक लोहिया कजरौटा हो तो हवा-बतास का डर नहीं रहता।

बूढ़े सुमेर ने बेटी-दामाद से कितनी चिरौरी-बिनती की, पर दोनों कुआँ बनवाने की बात आज-कल पर टालते रहे, सुमेर को ताव आ गया। चन्दर बाबू मौका देखकर चार सौ रुपये में सुमेर की तीन बीघा धनखर जमीन हथियाने के फेर में थे, वही धनखर जिसके चलते सुमेर के दामाद की शान नहीं धरते बनती। चन्दर बाबू की तरह मूँछें ऐंठकर निकलता है। सुमेर राजी भी हो गया था, पर दामाद और बेटी ने रातों-रात जाने क्या किया कि सुमेर फिर मुँह ही दिखाने नहीं आया। जाने कहाँ से रुपये बटोर कर कुआँ खोदवा लिया गया। उसने बंसी को बुलवाकर सहेजा—नेवाड़ पूजा के लिए सत्ताइस वृक्षों की लकड़ी भी चाहिए। जगतपुर के मानिक ठाकुर की फुलवारी में मौलसिरी का पेड़ है। एक छाल भी मिल जाय तो पूजा सुफल हो जायगी।

चन्दर बाबू की भौजाई ने नमकीन मक्खन वाला डब्बा मंगवाया था। इधर पाँच-छः महीने से वह हमेशा मक्खन मंगवाती हैं। बंसी को अचरज होता है, बड़की भौजाई भला विदेसिया मक्खन खाकर क्या सचमुच ही भैंस बनना

चाहती है। पर चुप रहता, बेवा औरत है, बेचारी को और कोई सुख तो है नहीं, खा-पीकर ही सन्तोष करती है। सजीवन-बो शीशी दे गयी थी, आधी छटाँक शहद मिल जाए तो सजीवन को मंडिल बाबाजी वाली भभूत चटाये। कौन जाने साइत इसीसे सजीवन का दमा रुक जाय। साहु की छोट की बिटिया सान्ती ने छींट का एक टुकड़ा दिया था—इसी तरह की छींट आठ गज लेते आना।

रहिमन जुलाहे ने एक पाव हल्दी मँगवायी थी, कभी-कभी कलिया मछरी बनानी होती है तो सिन्धुर मोदी उधार देते नाक-भौं सिकोड़ता है। रहिमन अब एकाध सेर मसाला मँगा कर रख लेगा। आज गाढ़े का पूरा एक थान बेच कर फेरी से लौटा था, सो पहले हलदी ही सही।

बंसी सबके पैसे सहेजता जा रहा था। कागज-पत्तर का हिसाब उतना नहीं जानता, फिर भी याद करता जाता है। चलती बेर सान्ती जीजी से लिखा लेगा। रह रहकर उसे एक बात खटकती। आखिर चन्दर की दुलहिन को क्या कुछ नहीं चाहिए? इस घरमें आये साल भर से ऊपर हो गये। बीसों बार बंसी हाट गया। दुनिया अपना सौदा-सुलुफ मँगवाती है, पर चन्दर की दुलहिन ने भूठे भी कुछ न मँगवाया। कई बार सोचा कि जाकर पूछें, भौजी तुम्हें क्या लाऊँगा? पर सोच कर ही वह लाल पड़ जाता। इतनी तो लाज लगती है! बोलना को कौन कहे, कभी आँख मिल जाती तो गले में कुछ अटक सा जाता। आते-जाते निगाह पड़ ही जाती। कैसी अनोखी सूरत है। बड़ी-बड़ी आँखों और लाल होठों पर जैसे हमेशा हँसी घुलकर दमकती रहती है, मधु जैसी गाढ़ी और मीठी हँसी।

सबेरे पीतल वाला घड़ा लेकर लौटा आ रहा था कि ठीक दरवाजे पर पहुँच कर ठिठक गया। चन्दर की दुलहिन दूसरी ओर जाने को थी, वह भी ठिठक गयी। आँगन में तमाम लोग भरे थे, पर इस ओर सन्नाटा था। अकेली पाकर कुछ हिम्मत बँधी बंसी ने सिर उठाकर देखा, कुछ कहने को हुआ पर बोल नहीं फूटा। वह उसी तरह बड़ी-बड़ी हँसती आँखों से देखती हुई उसके और दरवाजे के बीच से निकल गयी। कुछ देर तक तो बंसी ठगा सा खड़ा

रह गया था। सारी देह थरथरा उठी थी। नाक में कैसी तो एक गन्ध समा गयी। जगतपुर की हाट के पास ही जो गौरा-पार्वती का मन्दिर है, वहाँ बंसी दो पैसे की फूलमाला जरूर चढ़ाता है। बड़ी देर तक खड़ा-खड़ा उसी ओर ताका करता है। मन्दिर की गन्ध से जैसे कलेजा तर हो जाता है। दिन भर गुड़, हलदी, हींग, मिर्च-मसाले और तेल-घी में कढ़ती पूरियों, पकौड़ियों और जलेबी-बर्फी जैसी मिठाइयों की महक से उसके नथुने भभाने लगते तो वह लौटती बेर मन्दिर में चला जाता। रास्ता भर मन में वही गन्ध तैरती रहती। थकावट जैसे लगती ही न थी। कुछ वैसी ही गन्ध……।

गोकुल के बुलाने पर बंसी घड़ा लेकर जल्दी से बाहर निकल आया था। पर जब ऊँट लद चुका और वह जाने को एक दम तैयार हो गया, तो रह नहीं सका। शान्ती से पुर्जा लिखाने का बहाना करके वह फिर भीतर गया। चन्दर बाबू की दुलहिन आँगन में खाट पर लेटी हुई कुछ पढ़ रही थी। बंसी दाँत बैठाकर उनके पास ही जा खड़ा हुआ। चेहरा तमतमा उठा था। लग रहा था मानो सारा खून निचुड़ कर चेहरे पर फूट आया है और अब नसें फट जाएँगी।

दुलहिन किताब रखकर कुछ लापरवाही से ही आँचल सँभालती हुई उठ बैठी। उसी तरह मीठी हँसी से खिली आँखें उठाकर देखने लगी।

उस चितवन के आगे बंशी भाग पड़ने को हुआ, पर मरद आदमी ठहरा, पैर नहीं उठे। होंठ अचानक खुल गये, "भौजी, हाट से कुछ नहीं मँगवाओगी?"

उसकी आँखें खिल उठीं, "क्या मँगवाऊँ?"

बंसी अचरज भरी खुशी में डूब गया। ऐसा आसान काम था, वह इतना डरता क्यों था। फिर भी कुछ हिचक कर बोला, "सभी तो कुछ न कुछ मँगवाते हैं। तुम भी कुछ मँगवा लो, भौजी।"

बंसी का जी होता था कि कई बार बस, यों ही भौजी-भौजी कहे। वह जरा भी बुरा नहीं मानती। बड़े आदमी के घर की बहू-बेटियाँ तो इत्तीसी बात

पर तुनक जाती हैं। बड़की भौजी से भली बात भी पूछो तो डपट कर जवाब देगी। खैर, उनकी बात का बुरा नहीं मानना चाहिए। वह मन ही मन पछताने लगा, बड़की भौजी से भीतर ही भीतर इतनी कुढ़न की क्या बात है।

"क्या मँगवाऊँ ?"

बंसी को लगा जैसे वह मिश्री के घोल में डूब-उतरा रहा हो। बोला, "सभी तो जाने क्या-क्या मँगवाते हैं। साल भर आये हो गया तुम्हें, कभी कुछ भी तो नहीं मँगवाया, भौजी ?"

भौजी खिलखिलाकर हँस पड़ी, "तो तुम ताक में रहते थे कि कुछ मँगवाती हूँ या नहीं ?"

बंसी झेंप गया। चोरी पकड़ी गयी, पर इलजाम मीठा ही लग रहा था।

बाहर से गोकुल ने पुकारा, बंसी कब जाएगा ? साँझ तो यहीं हो गयी ?"

बंसी ने बेचैनी से इधर-उधर ताक कर कहा, "बोलो भौजी ?"

"क्या बोलूँ······कुछ भी तो नहीं मँगवाना है ?"

"कुछ नहीं ?" बंसी आसमान से गिरा।

"हाँ।" कह कर वह पन्ना उलटने लगी, फिर अचानक खड़ी होती हुई बोली, "सच, भला क्या मँगवाऊँ ?"

बंसी एक दम चारपाई के पास खड़ा था, खड़े होने पर भौजी बिल्कुल पास पहुँच गयी। गन्ध की एक लहर बंसी के नथुनों से होती हुई कलेजे में उतर गयी। सोने की मूरत जैसी दप-दप करती दुलहिन के सामने बंसी को अपनी देह बुझे दीये जैसी लगी—पीली-मटमैली। वह दो पग पीछे हट कर खड़ा-खड़ा कातरता से निहारने लगा।

भौजी जाते-जाते रुकी। बोली, "अच्छा, तुम्हें जो अच्छा लगे, लेते आना।"

वह हँसती हुई भीतर की ओर बढ़ी, फिर लौट पड़ी और चारपाई पर बैठकर किताब की ओर देखने लगी। उनका सारा चेहरा ईंगुर की तरह लाल पड़ गया था···अधखुले होंठों से झाँकते अनार के दानों जैसी दाँतों की उजली-उजली पाँत। बंसी हुलस कर बाहर चला गया। मन होता था कि बच्चों की

तरह उछलता, किलकारी भरता चले ।

× × × ×

आखिर वह भौजी के लिए क्या ले चले ?

आज आठ बरस से वह हाट कर रहा है। बारह का था, तभी से कक्कू के साथ हाट आने-जाने लगा। सत्रह बरस का भी न हुआ था कि कक्कू मर गये। गोकुल ने भी जोर मारा, बाप के साथ काम सीखा था, सो महाजन ने उसे ही रख लिया। चन्दर बाबू ने तो कहा था, यह कलका लौंड़ा सब चौपट कर देगा, लेकिन बड़े साहु उसका रोना-धोना सुनकर पसीज गये। चन्दर बाबू ने ज्यादा बखेड़ा नहीं किया। इन सब बातों में वह पड़ते ही कहाँ थे। पर अब तो सारा इलाका उनसे थर्राता है। न जाने कब क्या कर दें। सँपोला कहते थे सब। थे भी तो सँपोले की तरह।

बंसी बड़े संकट में पड़ जाता है, भौजी और इस सँपोले की जोड़ी !

बंसी जैसे लोग जिन घरों में जन्म लेते हैं, वहाँ कोल्हू के पास धूल में घिसट-घिसट कर खेलते हुए बचपन बीतता है। कच्ची-पक्की कसैली जामुन खाकर भूख मिटानी पड़ती है। चींटों से लड़ाई और बेकार चीख-पुकार करके खूब हैरान हो लेने के बाद वे गोरूबछवा वाले घर में ही गोबर से सनी धरती पर बेधड़क नंगे सो जाते हैं। उनके मन में दैत्य के किले में कैद परियों की भोली-भाली रानी या अबला राजकुमारी को छुड़ा ले जाने की कल्पना भी नहीं उठती। जो कुछ जैसा है, उनके लिए बस वही सच है !

इन आठ बरसों में बंसी से गाँव की कितनी ही दुलहिनों-बलहिनों ने कित्ती सारी चीजें मँगायी थीं। पर आज उसे कुछ भी न जचा। आखिर वह भौजी के लिए क्या लाएगा ?

हाट पहुँच कर वह चौंका। इस रास्ते में वह कम से कम दो बार रुककर सुस्ताता था और फिर मरे-मरे कदमों से धीरे-धीरे बढ़ चलता था, पर आज कब कहाँ पहुँचा, उसे इसकी सुध ही नहीं रही। ऊंट का बोझ उतारने के बाद उसे अचानक लगा कि सर्दी लग रही है। घड़ी भर रात बीत चली थी। उसने कान पर अँगोछा लपेट लिया।

अब वह रात सालिक के यहाँ बिताता है। हाट में भी उस छोर पर बद्री पनवाड़ी की दूकान से सटी लकड़छत्ती के नीचे तख्तों पर रात काटने की बहुत जगह रहती। कितने ही गाड़ीवान और ऊँटहारे वहाँ सोया करते। दिन भर के थके-हारे होने पर भी उन्हें नींद न आती। कुछ दुअन्नी वाले ताश खरीद लाते। पैसे-दो-पैसे की बाजी लगाकर जोड़ पत्ती या माँग पत्ती खेलते। उनमें से कई बच्चों के लिए गुड़हिया जलेबी ले जाने भर को बचाये हुए पैसे भी हार बैठते, तो मन मार कर सो जाते। कुछ लोग लेटे, अधलेटे या बैठकर नारियल गुड़-गुड़ाते हुए या बीड़ी और पैसे वाली सिगरेटों के कश खींच-खींचकर तमाम रात गप्पें मारा करते।

बंसी भी पहले वहीं सोता था पर जबसे सालिक के साथ उसकी दोस्ती हुई, वह उसी के यहाँ चला जाता है। कौन बड़ी दूर है—चार बीघे की तो बात ठहरी।

सालिक है भाग्यवान। पूरा मजा लेता है। जिन्दगी कहो तो उसी की। कसबे की निकासी पर रेलवे लाइन के पास छोटा सा घरौंदे जैसा अकेला घर। जो मन आये, करता है पट्ठा।

घर पर ही था, देखकर हँसा, "बड़ी देर से आया, बंसी। मैं तो सोचता था, आज नहीं आएगा।"

बंसी को ठेस सी लगी. वह और हाट में न आये? बोला, "कैसा असगुन बोलते हो जी, आता क्यों नहीं?"

सालिक रोटियाँ सेंक रहा था, चूल्हे में चैली खिसकाते हुए बोला, "मेरा छुआ खाएगा कि नहीं?"

बंसी अचरज में पड़ गया, "खाऊँगा नहीं? क्यों भला?"

सालिक कुछ देर चुप रहा, बोला, "तो तूने कुछ सुना नहीं?"

बंसी का कलेजा धड़क उठा। दुनिया में कक्कू के बाद एक सालिक ही तो था, जिस की भली बुरी खबर सुन कर वह चिन्तित हो जाता था। गोकुल से भी कुछ मोह था, पर वह आदमी वैसे अच्छा नहीं है। मालिकों के साथ जैसी धूर्तता करता है, उससे बंसी का मन उसकी ओर से फट सा गया था। जिस

का नमक खाना, उसी की पत्तल में छेद करना……! सहम कर वह सालिक की ओर देखने लगा।

ताड़ जैसा लम्बा और चौड़ा-चकला संड-मुसंड सालिक चूल्हे के आगे उकडू मुकडू बैठा बैल जैसा दिख रहा था उसके चेहरे पर लाज की लाली देख कर बंसी और भी चकित हुआ।

सालिक बोला, 'सोना को मैंने रख लिया है, बंसी भाई।"

बंसी उछल सा पड़ा, "मुन्नी जान को ? तू—।"

वह जोर से और कुछ कहने जा रहा था कि सालिक ने बीच ही में रोक कर फुसफुसाते हुए कहा, "धीरे बोल, बंसी, उस ओर ओसारे में ही पड़ी है। दर्द के मारे तड़फड़ा रही है।"

बंसी काठ की तरह खड़ा रह गया।

सालिक ने तवे पर की रोटी उलट दी। दूसरी रोटी के लिए एक लोंदा पिसान गोलियाते-गोलियाते सहसा रुककर बोला, "जो कुछ कहनाहो, मुझे कह कर चला जा, बंसी। उसे मत सताना। मुन्नी जान तो भूल कर भी मत कहना!"

बंसी दोनों टांगे पसार कर जमीन पर ही बैठ गया और चुपचाप सालिक की ओर ताकता रहा।

धीरे-धीरे सालिक सारी रोटियाँ सेंक चुका। थाली में पानी डालने को हुआ, तो बंसी एकाएक बोला, "मेरे लिए रोटियाँ नहीं सेंकोगे ?"

सालिक का चेहरा खिल उठा, मुसकरा कर दीनता दिखाता हुआ बोला, "क्या करता, बंसी! इधर तू उसका हाल देखता, तो कहता। खून की जगह जैसे पीव ही पीव भर आयी है सारी देह में। फुंसियों से उसकी देह छलनी हो गयी है।……अच्छा ले, टीन से दो मुट्ठी आटा डाल दे, तो मैं ही गूँथे लेता हूँ।"

और दिन होता तो सालिक उसके लिए आटा तो क्या गूंधता उसे देखते ही हट जाता और बंसी को ही रोटी सेंकनी पड़तीं।

सालिक हंसता, "साले कोई औरत-वौरत तो ठीक कर दे, नहीं तो रोटी

सेंकने के लिए तेरा पैर-वैर तोड़कर हमेशा के लिए यहीं बैठा लूंगा ।"

रात को सालिक ने अचानक पूछा, "आज बहुत चुप है तू, बंसी । जी तो ठीक है न ?"

बंसी करवट बदलकर बोला, "मुझे क्या होगा भला ?"

सालिक बड़ी देर तक चुप पड़ा रहा, फिर भरी आवाज में पूछा बैठा, "सोना को लाना मुझे जंचा नहीं, बंसी ।"

"नहीं तो । उससे क्या होता है ? धत्...तू नहीं लाता तो क्या होता, कोई और ले जाता ।"

सालिक ने जोर से खांस पड़ा । वह उठ बैठा, पर खांसी रुकी नहीं, उसी तरह आती रही ।

बंसी खूब थका था, मुन्नी की खबर सुनकर उसका मन और भी भारी हो गया, फिर भी हमदर्दी दिखाने के लिए वह उठ बैठा, बोला, "तुम्हारा जी तो ठीक है न ?"

सामने बैठे सालिक की देह में जाने कैसी कालिख सी चढ़ गई थी । उजाले की धूमिल परत उसे और भी गाढ़ा बना रही थी ।

सालिकने बंसी की बात का जबाब नहीं दिया । खांसी रुकने के कुछ देर बाद बोला, 'वह सबके लायक नहीं रह गयी थी, बंसी । तभी तो मैं उसे ले जा नहीं सकता था ।"

"हूं"—बंसी इसी ओर मुंह करके फिर लेट गया ।

सालिक दुबारा नहीं बोला । खांसी के कारण अब भी उसका हाँफना बन्द नहीं हुआ था ।

बंसी की आँखें झपने सी लगीं, जैसे उन्हें बरबस रोकने के लिए ही उसने पूछा, "नींद नहीं आती सालिक भाई ?"

"कहाँ आती है !"

एक क्षण चुप रहकर फिर बंसी ने अचानक ही कहा, 'अपनी देह की भी तो परवाह करो, सालिक भाई । इतने दिनों में ही देखता हूँ, देह माटी होती जा रही है ।"

सालिक बोला नहीं, कसमसाकर रह गया।

बंसी ने झंपी हुई आंख अचानक खोलकर कमरी का एक छोर पैर के नीचे दबाते हुए कहा, "इस जाड़े में एक चदरा ओढ़कर सोओगे ? उसके पास क्या कपड़े लत्ते कुछ नहीं हैं ?"

सालिक लाल-लाल आँखों से उसकी ओर घूरता रहा, फिर बोला, "होता ही तो क्या मैं मरने के लिए उसे दे देता ! खांसी के साथ इत्ता-इत्ता खूनका लोंदा फेंकती है। मरी ही समझो।"

बंसी की नसें तन गयीं। कनपटी में सनसनासट सी होने लगी। कुछ भी बोला नहीं गया। जड़ की भांति पड़ा-पड़ा टुकुर-टुकुर सालिक की ओर ताकता रहा। एक रोज वह सालिक के साथ सोना को देखने गया था। तब लगता था कि वह स्वर्ग में पहुँच गया है, ऐसी हंसी थी···ऐसी छलक-छलक चलती थी, वही सोना आज कोढ़ियों की तरह सालिक जैसे लम्पट के घर एक कोने में पड़ी गन्धा रही है। उसे छोटकी भौजी की याद आयी। लगा कि भौजी और सोना के चेहरे एक जैसे हैं। बहुत दिनों बाद आज फिर वह बात याद आयी, पर बंसी आज घिनघिना उठा। छि: ऐसी बात भी सोचते हैं !

बंसी अचानक पूछ बैठा, "तुमने सोना को कभी कुछ दिया नहीं था, सालिक भाई ?"

"क्या देता ?" सालिक की हंसी की गड़गड़ाहट से कान फटने से लगे, "किसी पर तेरा मन डोल रहा है क्या बंसी ?"

बंसी 'धत्' कहकर चुप रह गया। कहाँ भौजी और कहाँ वह ! वह सकपकायासा बैठा रहा। सालिक ने जाने कैसे छूकर उसे बेहाल कर दिया था।

कुछ देर बाद फिर वही बोला, "अच्छा, सालिक भाई, तुम्हें उनको कुछ देना होता, तो क्या देते ?"

"तब हमारी-तुम्हारी चीज वह लेने कहाँ लगी बंसी ? उसे देने के लिए होती पचास रुपए की बनारसी साड़ी, दो सौ का कनफूल। दे पाता तू ?"

बंसी सहम गया। भला ये चीजें वह कैसे खरीद सकता है, फिर जगतपुर की हाट में यह सब मिलने की कहाँ ? मिलें भी तो गौरा भौजी लेंगी उससे ?

फिर सोना की बात नहीं उठी। सालिक उससे जाने क्या-क्या बतलाता रहा। इस बार दिवाली के रोज कैसे छापा मारकर नन्दू सेठ के घर से सात जुआरी पकड़े गये। साढ़े छः हजार से ज्यादा ही मिले। जमील हज्जाम भी पकड़ा गया था। चिलम चढ़ाकर नाल निकालता था साला। सोना के साथ भलाई कर रखी है। लूट-खसोट मची थी तो सोना ने अपने गहनों की सन्दूकची उसे दे दी थी। दिवाली के दिन ही आकर राइ-रत्ती सोना को दे गया। अब की दुनिया में कौन रहता है ऐसा ? इसीलिए सोना के कहने पर दो सौ रुपये देकर खुद सालिक दरोगा से उसे छुड़ा लाया। गवाह लोग राजी हैं, कहेंगे कि खुद नन्दू का नौकर उसे बाल बनवाने के लिए बुलाकर ले गया था। नन्दू के बाल बनवाने के बाद लौटने ही नहीं दिया, बोला, "जाओगे तो जूतों से खाल खींच लेंगे।" क्या करता गरीब परजा।...आखिर दरोगा जी को सही सबूत भी तो चाहिए...!

बंसी हाँ-हूँ करता करवट बदलता रहा। जाने कब सालिक सो गया, पर उसे नींद नहीं आयी। उकता कर वह उठ बैठा, आखिर गौरा भौजी को क्या ले जाए ?

बंसी के मन में एक और काँटा जाने किधर से चुभ रहा था। बारबार मन होता था कि पूछे—कहीं तुम्हें सोना के गहनों से मोह तो नहीं हो गया, सालिक भाई ?

अचानक सन्नाटे को चीर कर बाहर से कुत्तों का भूँकना और छीना-झपटी की आवाज सुनायी पड़ी। बंसी चौंक पड़ा। अरे, नींद आ गयी थी।

सालिक गहरी नींद में खो गया था।

× × ×

दूसरे रोज हाट से लौट कर बंसी ने देखा, घर में तकरार मची हुई है। सान्ती ऐसी-ऐसी गालियाँ दे रही थी कि कान ढाप लेने का मन होता था। उसे देखते ही गाली-वाली भूलकर वह झपटी-झपटी आयी, "ले आया छींट ?"

"लाया हूँ।" उसने झोले में से चरमराते कागज में बँधा बँडल निकालकर कहा, "वही तो नहीं मिली, कुछ फ़र्क है..."

सान्ती का मुँह लटक गया, झनझना कर बोली "दूसरी क्यों लाया ?"

"देख लो, अच्छी न हो तो कल ही जाकर लौटा आऊँगा, बजाज से बात

कर ली है।"

लेकिन बंडल खोल कर छींट देखते ही सान्ती खिल उठी। लाज भूलकर ठुमकती हुई बोली, "ये देखो, बड़े-बड़े लोगों की आँख फूटेगी। कलकत्ता-बनारस में ही कपड़े नहीं मिलते। अपने सब कपड़ों से मुकावला कर ले कोई!"

बंसी समझ गया कि ललकार किसके लिए थी। उसने बहुतेरे घरों में ननद-भौजाई की लड़ाई देखी थी, यहाँ भी बड़की भैजी को बिफरते देखा है। बंसी की समझ में नहीं आता, आखिर ये लोग लड़ते क्यों हैं? टंटी दिन भर ससुराल में खटती थी पर पेट भर खाना नहीं जुटता था। लड़कर भाग आयी पर यहाँ क्या कमी है? किस बात के लिए तकरार होती है? गोकुल काका की वह वात कभी-कभी उसे भी सच लगती। वह कहते हैं—पेट भरता रहता है, इसी से तो लड़ाई सूझती है, बंसी। कुछ करने धरने को तो है नहीं, झगड़ा ही करते हैं!

पर आज की लड़ाई उसे अखर गयी। कनखी से ही देखा उसने। गौरा भाभी की कोठरी का दरवाजा भिड़ा हुआ था। आखिर ये लोग गौरा भौजी के पीछे क्यों पड़े हैं! वह बेचारी तो कभी जोर से बोलती भी नहीं।

बड़की भौजी को आते देखकर ही उसने मक्खन का डिब्बा उठा लिया। वह रुकी नहीं। उधर से आयी और जैसे ताक पर रखी कोई चीज उठा कर बिना उस पर निगाह डाले ही चली गयी।

बंसी सोचता आया था कि इस बखत सब अपने-अपने काम में लगे होंगे। वह चुपके से गौरा भौजी को पुड़िया पकड़ाकर भाग आएगा। पर इस समय तो वह बेचारी घर में दुबकी पड़ी थी। इतने अमीर घराने में रहते हुए भी गौरी भौजी कितनी गरीब हैं!

सान्ती ने पूछा "कितने रुपए गज?"

"तीन रुपिया।" बंसी ने सहम कर कहा।

"ठीक तो है। कीमती चीज ठहरी, बारह आने गज की छींट थोड़ी ही पहनना है। उसने फिर से सारी छींट खोल डाली, मानो कीमत सुन लेने के बाद उसमें कोई और अच्छाई पैदा हो गयी हो।

अचानक गौरा भौजी का दरवाजा खड़का, खुला और भौजी हँसती आँखो से देखती बाहर निकलीं।

बंसी की आँखें झुक गयीं। चेहरा ताँबे की तरह सुर्ख हो गया। भौजी के सामने पड़ते ही उसे सालिक की बात याद आ गयी—किसी पर तेरा मन डोल…

भौजी इसी ओर आयीं, एक दम नजदीक आकर खड़ी हो गयीं, बोलीं, "मेरी चीज लाये हो?"

वह अवाक् रह गया। भौजी इस तरह उससे पूछेंगी, इसकी कल्पना भी कैसे कर सकता था। आँख उठाकर देखा, गौरा भाभी छींट की ओर देख रही थीं। सान्ती शान के साथ उसका अँगुल-अँगुल देखने-परखने में लगी थी। भौजी होंठ बिचकाकर, उसकी ओर देखकर हंसी, फिर चलने को हुई तो उसे ठेस सी लगी। बस पूछना ही भर था, वह तो सोचता था कि हाथ बढ़ाकर माँगेंगी। उसे लगा जैसे भौजी उससे चीज माँगने नहीं आयीं थीं, इस बहाने बस सान्ती की छींट देखने आयी थीं। औरत तो औरत! उसका मन कड़वाहट से भर उठा। उन्हें जाते देख जल्दी से बोला "लाया तो हूँ।"

उसने जेब से निकाल कर अखबारी कागज की एक पुड़िया बढ़ा दी। उसके हाथ थर-थर काँप रहे थे।

भौजी ने यों ही लिया और गर्दन फेरकर छींट की ओर अवज्ञा के साथ देखती-देखती अपनी कोठरी में चली गयी। बंसी ने सोचा था कि देखकर वह चौंकेंगी, कुछ कहेंगी…क्या लाये? तो वह खिलकर हँसेगा, और चला आएगा। वह भी कुछ दे सकता है, हजार दो हजार की तो नहीं, फिर भी…!

उसे बड़ी निराशा हुई। तो भी वह कुछ देर खड़ा रहा शायद भौजी कोठरी में पुड़िया खोलकर देखेंगी। हाँ, ठीक तो है, भला यहाँ कैसे देखतीं। सोचती होंगी कि कोई ऊल-जलूल चीज ले आया होगा। वह क्या जाने की… कौन बड़े अमीर घर की हैं। गोकुल काका ने बताया तो था कि ब्याह के पहले जब वह उन्हें देखने बनारस गया था तो कानों में छोटे-छोटे बुंदे भर थे। सान्ती की तरह उनकी देह गहनों से लदी नहीं थी। सहर सहरात में गहने पहनने की

चाल तो उठ गयी है फिर भी···!

"क्या मंगाया तुमने ?"

भीतर से चन्दर बाबू की निन्दाई आवाज सुनते ही वह सिटपिटा गया। हे भगवान, तो वह भीतर ही पड़े हैं। बंसी के होंठ सूख गये।

सन्दूक बन्द करने की आवाज सुनाई पड़ी। साथ ही भौजी ने कहा, "चोटी तो है, सारी ही गन्दी हो गयी थीं।"

फिर कोई सवाल-जवाब नहीं। भौजी कितनी समझदार हैं। और कोई औरत होती तो बस। अगर कहीं चन्दर बाबू माँग कर देखने लगें तो ? वह ठिठका, फिर हँसा, कोई एक दो चोटी होगी ! दिखा देतीं निकाल कर। बहाना किया होगा तो कुछ सोच समझकर।

लेकिन एक बात वह नहीं समझ पाया, आखिर भौजी झूठ क्यों बोलीं ?

फिर अपने बुद्धू पन पर हँस पड़ा, भला वह सच कहतीं भी तो कैसे ? यही कैसे बतातीं कि मैंने कुछ नहीं मंगाया, बंसी हठ करके अपने मन से ही लाया है। उसने जीभ दाँतों से दबा ली। आज देवी ने इच्छा की।

थोड़ी देर पहले मनमें फैल गयी कड़वाहट दूर हो गयी। भौजी वैसी नहीं है !

× × ×

गौरा भौजी अब एक दम पहले जैसे नहीं रह गयीं। उनका बोल खुल गया। उससे जब-तब कुछ न कुछ कह भी देती, बंसी यह कर देना, बंसी, जरा वह कर देना। और नहीं तो दिन भर में चार-छः घड़ा पानी ही मंगवा लेतीं। बंसी मगन हो जाता, पर इतना सा काम करके उसे सन्तोष न होता। गौरा भौजी कोई ऐसा काम बतातीं कि वह रात-दिन करता और कभी खतम न होता, इससे बढ़कर खुशी बंसी को नहीं होती।

अब हाट जाते समय सबसे पहले गौरा भौजी ही पैसे देतीं। कुछ न कुछ जरूर मंगवातीं। हाट में जबसे सरदार ने बड़ी सी झकझक करती दूकान खोली, तब से वहाँ सब कुछ मिल जाता है। साज-सिंगार के सामान से लेकर चन्दर बाबू के जूतों का फीता तक। कुछ भी हो उसे लाकर खुशी ही होती। चोटी, पाउडर, स्नो, क्रीम जाने क्या-क्या। पर उसके मन की एक साध कभी

न पूरी हुई । रोज वह सोचता कि आज भौजी जरूर उसका कनफूल पहनेंगी, पर रोज निराश होता । तीज-त्यौहार को बड़ी आशा से देखता, पर कहाँ, कभी तो नहीं । वह मन मार कर रह जाता । मन को समझाता, भला उसकी दी हुई चीज कैसे पहनें । कोई पूछ ले कि कहाँ से मिला तो क्या कहेंगी । कहीं बाहर आना-जाना हो या मैके-वैके से कोई आये तो बहाना भी बने कि वहाँ से मिला है । औरतें यही तो करती हैं । चोरी की चीज को ससुराल में मैके का बताती हैं, मैके में ससुराल का ।

पर मन क्यों मानने लगा ? भला इतने बड़े घर की बहू, ऐसी रानी जैसी औरत उसकी इतनी परवाह क्यों करने लगी ।

अपने को कोसता, भला गौरा भौजी से उसे क्या लेना-देना है, जो वह इतना हैरान होता है ? सालिक अगर उस रात जग पड़ता, या दूसरे ही रोज सवेरे कनफूल न पाकर उसका ही हाथ धर मरोड़ता तो···? उसे गौरा भौजी पर गुस्सा आ जाता, बड़ी आयी हैं नहीं पहनना था तो ले क्यों लिया ? हाट जाते समय उसकी जान सूख जाती है । कहीं सालिक एकाएक कह बैठे कि तेरे सिवा उस रोज कोई नहीं था फिर कनफूल कौन ले गया ? तब ? क्या यहाँ पर भी भिखारियों जैसे घर में हैं, दो चार जोड़ी कनफूल नहीं हो सकते क्या ? और अगर चन्दर बाबू से कहें कि एक कनफूल मंगा ही लो तो क्या वह इनकार कर देंगे । सुनार से वैसा ही छाँट कर मंगवा लें, तब तो पहन सकती हैं । चाहें तब तो ! उन्हें क्या परवाह है ? मन की खोटी ही लगती हैं छोटकी भौजी ।

एकाध बार तो वह हिम्मत बाँधकर अकेले में गौरा भौजी के पास पहुँच भी गया । सोचकर जाता कि कहेगा—भौजी, एक बार उसे पहन लो, बस । पर वह मुसकराती हुई आँखों से देखतीं तो वह अचकचाकर कह उठता, "नहाओगी नहीं भौजी, आज तो बड़ी देर हो गयी !"

कभी-कभी फंस भी जाता । गौरा भौजी अचरज से हँसकर पूछतीं, "नहाऊँगी ? अब ? अभी घंटा भर पहले तो नहाया था न !"

वह लाज से लाल पड़कर लौटने लगता तो जान पड़ता, कि पीछे से भौजी की मीठी सी मुसकराहट जैसे लाल-लाल हथेलियों की तरह थपकी दे रही हो ।

उस रोज वह साँझ तक भौजी के आगे न पड़ता, छिपकर कोने-अन्तरे से झाँक भर लेता।

गौरा भौजी का बोल उसी से नहीं खुला, धीरे-धीरे वह घर भर से बोलने लगीं। गालियाँ तो वैसी नहीं देती थीं, पर जब किसी पर बिगड़ जातीं तो लगता कि उसका मुँह नोच लेंगी।

बंसी अचरज में पड़ जाता। फिर सोचता, ठीक भी तो है। गऊ जैसा सीधी समझकर सब खाने दौड़ते थे। सन्तिया और बड़की भौजी के कारण उन्हें भी मुंह खोलना पड़ा। कोई कब तक सहेगा भला! भौजी चन्दर बाबू से रोती-गाती थीं, लड़ती थीं। कहतीं, मुझे घर ही भेज दो। पर चन्दर बाबू के कानों पर जैसे जूँ ही नहीं रेंगती। जब से शहर में लोहे लक्कड़ का कारोबार चालू किया, तब से वह कभी-कभी तो दस-दस रोज गायब रहते हैं। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली जाने कहाँ-कहाँ मोटर-सोटर के कल-पुर्जे खोजने जाते। गाँव के अनाज-गुड़के कारोबार से उनका मन फिर भी हटा न था। हाँ, इसका सारा भार अब बंसी के माथे ही था। उसे मलिकई का घमण्ड महसूस होता। ऐसी ही मलिकई का भाव उसमें एक जगह अनजाने ही पैदा हो गया। वह जब-तब मौका पाते ही भौजी को अधिकार से समझाता-बुझाता, डाँट-डपट करता। भौजी किसी दिन खाने न उठतीं, तो वह तुरन्त पहुँच जाता। किसी तरह उन्हें चन्दर बाबू की कसम धराकर खाने को मजबूर कर आता। अपनी कसम उसके मुँह पर आते-आते रह जाती। लजाकर भाग खड़ा होता।

एकाध बार चन्दर बाबू से भी कहने का मन हुआ कि ऐसे कब तक चलेगा? सगे भाई-बहन हैं तो क्या औरत को खा जाएँगे? पर कभी मुँह खोल कर बोलने की हिम्मत न पड़ती। कभी-कभी काम-धंधे से उसका जी उचट जाता। मन होता छोड़-छाड़कर कहीं देस-परदेस निकल जाए। पेट भर रोटी तो मर-मजूरी करके भी कमा लेगा।

पर तब भौजी को कौन सा सहारा रहेगा? अभी तो वह है। चाहे तो बहुत-कुछ कर सकता है।

उस रोज चन्दर बाबू शहर से लौटे। गौरा भौजी ने शायद साँझ को ही

हाथ-पाँव जोड़ना शुरू किया। कसाइयों के फेर में फँसी अकेली औरत, आखिर बेचारी कहे किस से ? पर चन्दर बाबू बिफर उठे। ऐसी-ऐसी गालियाँ दीं कि बाप रे !

भौजी बुत होकर खंभिया के सहारे बैठ रहीं। आँखें फाड़कर डरी-डरी-सी चन्दर बाबू को ताकती रहीं। हमेशा हँसने वाली आँखें पथरा सी गयी थीं।

रात भर सारा घर जगता रहा। चन्दर बाबू अँगरेजी शराब पीकर और भी बौखला गये थे। भौजी से भी बोलने की हिम्मत न पड़ती थी। बंसी एक बार हिम्मत करके दबे पाँव गया भी तो छोट की भौजी नागिन की तरह लहरा कर उठीं और कोठरी में धंस कर फटाक से दरवाजा बन्द कर दिया। बंसी का कलेजा छिद कर रह गया।

दूसरे रोज ग्यारह बजे नहा-धोकर चन्दर बाबू बंसी से रोजगार का हिसाब-किताब लेने लगे। अचानक बंसी को जाने क्या सूझा, बोला, "अगर पन्द्रह दिन न पूछें तो सुबराती मियाँ अपने बीस बोरा मटर लेकर भागे आएँगे। हाथ जोड़ कर देंगे। कम से कम पाँच रुपया, फी बोरा बचेगा। इस बार ताजिया नौ हाथ का बनेगा। शेखपुरा के बकरीदी से टक्कर होगी !" कह कर बंसी पलभर भी न रुका। बूढ़े सुबराती का भोला चेहरा, फूली-फूली आँखों से झरतीं प्यार भरी निगाह उसके कलेजे में काँटे की तरह चुभने लगीं। यह क्या किया बंसी तूने ?

पन्दरह तो दूर सात ही दिन बीते थे कि सुबराती मियाँ के मटर के बीसों बोरे चन्दर बाबू के दालान में आ गये। उस रोज चन्दर बाबूने एक रुपया फेंक कर कहा, "बंसी, ले, गाँजा पीना !"

बंसी के भीतर की आग फिर जोर से धधक उठी। दरवाजे पर आकर उसने मुट्ठी भींचकर रुपया जोर से मालकिन की ओर फेंक दिया और भागकर अपनी कोठरी में जा पहुँचा। घुटनों में मुँह छुराकर वह जाने कितनी देर तक रोता रहा।

शाम को उसे गौरा भौजी के कमरे में चन्दर बाबू की हंसी सुनायी पड़ी,

भौजी को भी हँसते सुना ! मान-मनौवल ! बंसी का हिया खिल उठा ।

इधर वह गाँव भर की पोल-पट्टी चन्दर बाबू को बताने लगा था । किस के पास लगान तक चुकाने को पाई नहीं है, कौन इस बार बेटी का ब्याह करने वाला है । अगर चार दिन उसका गल्ला पड़ा रह गया तो मुँह माँगे भाव पर सौदा करने को राजी हो जाएगा । कितनी ही बार उसका मन धिक्कारता । छिः, इन कसाइयों के हाथों वह अपने गरीब भाई बँदों का गला कटवाता है, अगर किसी का काम अड़ ही जाए, बेइज्जती ही हो जाए तो ? उस बार छबिया ने अपने चार थान सुनहरे गहने न दिये होते तो उसके भाई का तिलक रुक ही जाता । वह तो कहो कि ऐन मौकेपर मैंके आ गयी । तीन साल से मान किये बैठी थी ।

वह कान पकड़ता—ना, अब ऐसा नहीं करेगा ।

पर गौरा भौजी को देखते ही उसे लगता कि वह कुछ दुबली-पतली हो गयी हैं । उन्हें सुखी रखने का एक ही उपाय था । चन्दर बाबू का रोजगार जितनी जल्दी फले-फूले, भौजी को उतनी ही जल्दी सुख मिलेगा । अगर दस-बीस हजार रुपये इकट्ठा हो जाएँ तो चन्दर बाबू अलग अपनी पक्की बखरी बनवा लें और सान्ती का भी ब्याह करके छुट्टी पाएँ । कितनी ही बार चन्दर बाबू की यह बात उसके कानों में पड़ी थीं, गोकुल काका भी यही कहते थे और वह दौड़ा-दौड़ा चन्दर बाबू से बता देता—सुमेर के बाप की तेरही सिर पर खड़ी है । एक पाई का डौल नहीं । तीन बिगहा जमीन के तीन सौ भी मिल जाएँ तो राजी हो जाएगा । सच्ची, पड़ोसी तो उसे टिकने ही नहीं देना चाहते । हाथ धोकर पीछे पड़े हैं ।

पर इससे भी बंसी को चैन न पड़ता । गौरा भौजी की हँसी अब भी थी, पर रूखी-रूखी-सी । इन कसबिनों की किचकिच के कारण रोज-रोज उपवास करना पड़े तो भला कोई कैसे जिएगा ? सोने की देह माटी होती जा रही है । लगता कि कभी-कभी बंसी की ओर से भी भौजी उखड़सी जाती हैं ।

चन्दर बाबू तीन-चार दिन से बाहर गये थे, अभी सात-आठ दिन लौटने की आशा भी न थी । बंसी सांझ को हाट से लौटा ही था कि गौरा

भौजी ने इशारे से बुलाया। धड़कती हुई छाती लिए वह जाकर कोठरी में खड़ा हो गया। बड़की भौजी शायद सांझ से ही अपनी कोठरी में सो गयी थी। सान्ती गयासिंह ठाकुर के यहाँ बेटे की बरही में गयी होगी। वह चुपचाप खड़ा रहा। अभी तक कोठरी में दीया नहीं जला था। खिड़की से बिछलकर चाँदनी की कई फाँके भीतर जमीन-पर बिखर पड़ी थीं, वहीं खड़ी थीं गौरा भौजी। बरफ की डली जैसी उजली, चाँदनी जैसी दूधिया देह।

उसे देखते ही बोली, "सुनो, अभी चले जाओ। रात स्टेशन पर सो रहना। सबेरे की गाड़ी से बनारस चले जाना।"···फिर धीरे से एक कागज और नोटों के दो बंडल पकड़ाते हुए बोलीं, "इसी पतेपर जाकर मनोज बाबू को पूछ लेना और रुपए देकर कह देना गौरा देवी ने भेजा है।"

वह अवाक् खड़ा रहा। उस रोज सान्ती की बुरी-बुरी गालियाँ सुनी थीं। तब गुस्से के मारे उसका बुरा हाल हो गया था। यह सन्तिया कैथाने के लौंडों से आँख मटकाती फिरती है, भौजी को भी वैसा ही समझती है। गौरा भौजी सहर सहरात की लड़की हैं तो क्या हुआ, उनकी बात और ही है। सन्तिया तो गाँव में ही रह कर मुन्नीजान की नाक काटती है! हरामजादी!

मुन्नीजान के साथ ही अचानक सालिक की याद आ गयी थी ··फिर कनफूल की; इसलिए वह बात बंसी उसी क्षण भूल गया था। पर आज लगा जैसे वह मन ही मन कहीं छिपी पड़ी थी। वह मनोज बाबू कौन है? बंसी की सारी देह थरथरा उठी। मन कड़वाहट से भर गया। मुँह तमतमा आया। नहीं जायेगा वह! नमक-हरामी का काम करने को वही है क्या?

भौजी ने अचानक कहा, "यहाँ तुम्हारे सिवा मेरा है ही कौन? किस से कहूँ!" वह पसीज गया। भौजी के स्वर से ही वह समझ गया कि उनकी आँखें गीली हो गयी हैं। मन हुआ कि देखे, पर अँधेरे में आँख उठाकर न देख सका। भीनी-भीनी गन्ध से उसके नथुने थरथरा रहे थे।

दूसरे ही दिन सांझ को वह लौट आया। मन में रह-रह कर हूक उठती—तुम्हारे सिवा मेरा है ही कौन?

चाँदनी रात में घर के बाहर बैठे-बैठे उसका मन हो रहा था कि जाकर

गौरा भौजी से कहे—फिर कहो भौजी ! फिरसे···पर बंसी उस जाति की सन्तान था जिसके मन में उठे हर्ष और दुःख के उद्गार उन्हें ही ले डूबते हैं। रात भर चाँदनी उसे चींटियों की तरह काटती रही। देह खुजलाते, बाल नोचते वह जाने कब सो गया।

चन्दर बाबू पूरे महीने भर बाद लौटे। इस बार तो बस पूरा दंगा हो गया। गौरा भौजी उसी समय जाने को तैयार हो गयीं। बड़े साहु ने दरवाजे पर बूढ़े पेड़ की तरह खड़े होकर न रोका होता तो वह जाने क्या कर डालतीं।

गोकुल काका के पास मड़ई में बैठा-बैठा वह सोचता रहा—सजीवन अब बचने का नहीं. साल से ऊपर हो गये, सजीवन की बहू रात-रात भर उसके पैताने बैठी पैर सहलाती रहती है। क्या गौरा भौजी चन्दर बाबू की ऐसी ही सेवा न करतीं, चन्दर बाबू कोई आदमी हैं ! अब बंसी का मन रोगजार से एकदम उचट गया था। पैसा रुपये के नफे पर बोरे मंडी में छोड़ आता। मोल-तोल करने का मन ही नहीं होता। साल भर में उसने हजारों रुपया कमाया, पर चन्दर बाबू कहते हैं, जो कुछ मिला, सब रोजगार में लगा दिया। घर बनवाने का उन्हें जरा भी खयाल नहीं। फिर ? वही किस के लिए मरे ?

आज तक बंसी ने उनके आगे एक पाई के लिए मुँह नहीं खोला। उस रोज सजीवन को डाग्डरी ले जाने के लिए सजीवन-बौ गाँव भर में भीख माँगती फिरी। किसी ने पाई भी न दी। दे भी कौन, जिससे जो बना, पहले ही दे चुका था। सजीवन-बौ मैके से मिला हुआ बटुआ लेकर आयी थी। घर में एक वही तो रह गया था। बंसी की आँखों में सजीवन की धसी-धंसी किचरायी आँखें नाच रही थीं। उसने हाथ जोड़कर चन्दर बाबू से विनती की। वह ही-ही करके हँस पड़े। बोले, "पगला हो गया है, बे ? बटुए में तेरह छेद हैं, दो कौड़ी को नहीं पूछेगा कोई। अपना काम देख। दानी बना है साला !"

बंसी रात भर कुढ़ता रहा। सच्ची, यह आदमी नहीं, राच्छस है। एक-एक दमड़ी के पीछे जान देता है। दूसरे ही रोज हाट से उधार लाकर बंसी ने पांच रुपए सजीवन-बौ को दिये थे। सजीवन चुकाएगा इसकी जरा भी उम्मीद नहीं है, पर बिना दवाई-दरपन के वह मर जाएगा क्या ?

और उस रोज सान्ती ही तो बता रही थी कि छोटकी भौजी की जान बच गयी। खरचेके डर से अस्पताल नहीं ले गये छोटकी भौजीको। चार महीने का पेट गिर गया। ऐसे आदमी के लिए बस सान्ती और बड़की भौजी जैसे लोग चाहिएँ। भीतर-भीतर मन-मनभर गेहूं बेच देती हैं पता नहीं लगता।

बंसी को बिना किसी बात के सान्ती पर गुस्सा आता है। अब वह हाट से उसके लिए कुछ नहीं लाता। लाया भी, तो कूड़ा-करकट बटोर लाता है। सान्ती कर भी क्या सकती है ? बंसी चन्दर बाबू का आदमी माना जाता है। कोई कुछ कहकर देखे तो भला।

मनोज बाबू की बातें सोचते बंसी को डर भी लगता है, खलता भी है। नहीं, वह आदमी बंसी को जरा भी नहीं अच्छा लगा।

एक रोज गौरा भौजी ने फिर बुलाया। वह घर में बोरा भर उड़द रखकर आ रहा था। खुद ही आयी, इशारे से बुलाकर ले गयी। बंसी को अपनी सारी देह रस निचुड़ी हुई, खोयी सी लगी। किसी तरह डगमग पैर धरता भौजी के पीछे-पीछे भीतर चला गया। वह दरवाजे पर ही ठिठक गया। गौरा भौजी सन्दूक की ओर बढ़ गयीं। सन्दूक खोलकर उसने कुछ निकाला। उसकी छाती में हथौड़े चलने लगे।

वह खड़ी होकर रुखाई से बोली, "तुम्हें मैंने दो सौ रुपये दिये थे न मनोज को देने के लिए ?"

गले में अटका थूक घूंटकर बंसी ने धीरे से सिर हिला दिया।

"फिर दो सौ दस कहाँ से दिये ?"

वह सकपकाकर बगलें झाँकने लगा।

दस का एक नोट उसके आगे फेंककर गौरा भौजी खिड़की के उस ओर ताकने लगी।

बंसी हतप्रभ खड़ा रहा, जैसे मुँहपर जोर से चांटा पड़ा हो। गौरा भौजी मुड़ी और उससे सटती हुई तेजी से बाहर निकल गयी।

रात भर बंसी गुस्से के मारे तड़पता रहा। इस तरह रुपया फेंक दिया जैसे वह भिखारी हो। देना ही था तो हाथ में दे देती। बड़ी अमीर बनती है, फिर

उसका कनफूल क्यों रख लिया ? ऐसी थी, तो उसे भी लौटा देती। इनके कारण वह कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। कौन जाने सोना का क्या हाल है। जाने क्यों अब उसे मुन्नीजान कहने को मन नहीं होता। अगर अच्छी हो गयी होगी, तो सालिक क्या जवाब देगा ! सोना सोचेगी, चोरी की बात का तो बहाना है। सालिक ने कनफूल बेच बाचकर···!

शुक्र को हाट जाने लगा, तो गौरा भौजी फिर मौका निकालकर उसे बुला ले गयी। उसका मन हो रहा था कि जोर से चिल्ला कर इनकार कर दे—"नहीं मुझे कुछ नहीं करना है। तुम्हारा कोई काम नहीं करूँगा।'

निकाल देंगे और क्या होगा ! कहीं, किसी भी बनिये के घर काम कर सकता है। कौन यहाँ बाल-बच्चे रोते हैं। जगतपुर में ही सालिक के यहाँ रह जायेगा। वहाँ के नन्दू साहु तो मुँह बाए बैठे हैं। ऐसा आदमी किसे मिलता है !

भौजी ने एक लिफाफा दिया। हँस कर बोली, "लाला किसी को यह चिट्ठी मत दिखाना, कुछ बताना भी मत।"

चलते-चलते उसने अपनी कसम धरा दी। बंसी को कंपकंपी सी आ गयी। नसों में खून जैसे तेजी से दौड़ने लगा।

और उसने खुद भी वह चिट्ठी तभी देखी, जब डाकखाने में डालने के लिए उसे जेब से निकाला।

× × ×

चौथे दिन अचानक गौरा भौजी के भाई आ पहुँचे। साथ में थे वही मनोज बाबू। जाने क्या-क्या बातें हुईं। चन्दर बाबू तो घर पर थे ही नहीं, बड़की भौजी और सान्ती में खुसुर-पुसुर होती रही। बड़े साहु मेहमानों को समझाते रहे, पर वे लोग तो बात-बात पर भड़क उठते थे। भौजी के भाई की बात तो दूर, मनोज बाबू का पारा देखते ही बनता था। लाल-लाल आँखें काढ़कर टिप-टिप कर रहे थे।

वह कई बार भीतर गया। मौका लगे तो भौजी को समझाये-बुझाये, पर वह तो अनखायी बैठी थी। एक बार अकेली देखकर वह पास जा खड़ा हुआ, पर भौजी ने उसकी ओर आँख उठकर ताका तक नहीं। सन्दूक से कुछ निकाला

और तेजी से निकल कर भाई के पास पहुँच गयी।

रात बारह बजे गोकुल काका ने बंसी को सहेजा, "आज ही मुंह अंधेरे ऊँट पर छोटी बहू का समान लादकर स्टेशन जाना होगा। मैके जा रही है।"

"मैके ?...कब...?"

गोकुल कुछ और ही समझा, बोला, "लौटे कि न लौटे भगवान जाने !" फिर लम्बी सांस खींचकर बोला, "क्या जमाना है ! अब क्या लौटेगी ! लौटने का लच्छन ही नहीं है।"

पालकी स्टेशन पर रुकी, तो वह दूसरे कोने पर खड़ा था। थोड़ी देर बाद गोकुल ने पहुँच कर कहा, "तू जाके ज़रा बहूजी से पूछ-पाछ ले, कुछ खाएंगी-पिएंगी। खरसेवर न हो जाय।"

बंसी ने भड़क कर पूछा, "उसके भइया कहाँ हैं ?"

"आते होंगे। बहुत पीछे रह गये।"

बंसी ने मुँह फेर कर कहा, "मैं नहीं जाऊँगा।"

गोकुल काका उसे घूर कर कहारों की ओर चले गये।

रहा भी तो नहीं जाता। थोड़ी देर बाद बंसी घूमता-टहलता पालकी की ओर गया, पर बगल से ही निकला जा रहा था कि भौजी की आवाज आयी, "सुनो !"

वह चाहता था कि आगे बढ़ जाए, पर जा नहीं पाया। पैर बंध से गये।

"यहाँ आओ, इधर और पास आओ न।"

उसे जैसे किसी ने पत्थर की तरह आगे खिसका दिया !

भौजी की आँखों में आँसू थे। हाँ, सचमुच वे गीली थीं। हँसी जरा भी नहीं थी। परसों जब सजीवन की साँस एकाएक जोर से चलने लगी, तो उसकी दुलहिन की पलकें इसी तरह भीग गयी थीं, उसके होंठ ऐसे ही फड़क रहे थे।

भौजी ने अचानक सिर पर से आँचल खिसका कर कान खोलते हुए पूछा, "इसे पहचानते हो, बंसी ?"

बंसी की नस-नस चटक-सी उठी, कनफूल। वह खूब जोर से रो पड़ने को हुआ।

"भौजी लेकिन रोयी नहीं, पर भरभरायी आवाज की कंपकंपी संभाल भी

न पायी, बोली, "तुमने पहले क्यों नहीं बताया, बंसी ? मैं तो आज सन्दूक सजाते समय इसे देख पायी।" फिर पूछा, "कितने का खरीदा था, बंसी, सच बताओ ?"

ब्लाउज के नीचे हाथ डालकर भौजी ने मनीबेग निकाला।

बंसी का चेहरा काला पड़ गया। मन हुआ जोर से चिल्ला पड़े, 'सँभाल कर रखो रुपये। मनोज बाबू को दे देना। अब तो जा रही हो।'

"सच बोलो, तुम्हें मेरी कसम।"

"खरीदा नहीं था।" बड़ी रुखाई से कहकर बंसी उठा और तेजी से लपकता हुआ नीम की तरफ चला गया। ऊँट नीम की टहनियाँ चबा रहा था। उसने एक बार गरदन उठाकर उसे देखा, फिर निर्विकार रहकर नीम की पत्तियाँ चबाने लगा।

मूरती की तरह बंसी वैसा ही खड़ा रहा, खड़ा रहा।

गाड़ी का इंजन चिंघाड़कर आगे बढ़ गया, तो उससे रहा न गया। देखा, गुलाबी रंग की साड़ी पहने भौजी खिड़की पर खड़ी इसी ओर निहार रही थी। वही हँसती आँखें—डब-डबायी हुईं। उसने जल्दी से निगाह फेर कर आँखें ऊँट के बदरंग रोए में अटका दीं।

"चली गयी ?"

उसने पलट कर देखा, चन्दर साइकल हाथ में पकड़े खड़े-खड़े हाँफ रहे थे।

"साली पहुँच-पहुँचाकर धोखा दे गयी।"

चन्दर बाबू ने साइकल जोर से पटक दी।

बिना कुछ बोले बंसी ने साइकल ऊँट पर लाद कर रस्सी से बाँध दी।

ऊंट के आगे-आगे वह चल रहा था, उसके साथ ही जरा सा हटकर चन्दर बाबू भी पैदल ही चल रहे थे। खोजने पर इक्का मिल जाता। कुछ महंगा ही सही, पर चन्दर बाबू नहीं माने।

बंसी को लगा, मानो चन्दर बाबू उससे जरा भी बड़े नहीं हैं, कहीं कोई फरक नहीं, ठीक उसी जैसे हैं। चन्दर बाबू के साथ उसने कितना धोखा किया ! नाहक ही उनका बुरा चेता।

अचानक वह बोला, "हाट में गुड़ का भाव इस साल तीन रुपये चढ़कर है।" उसे खुद अपनी ही आवाज मरी-मरी सी लगी। चन्दर बाबू कुछ बोले नहीं। बंसी के मन में पीड़ सी उठी। वह कोई ऐसी बात कहना चाहता था कि चन्दर बाबू बौखला उठें या खुश होकर बातें करने लगें। चुप्पी उसके कलेजे पर चिकोटी काट रही थी ; बार-बार जाने क्या याद आ जाता। सोचा, वह बता दे कि उनकी दुलहिन ने मनोज बाबू को···।

"छोटे बाबू !" वह कातर चीत्कार सा कर उठा, जैसे बस रो ही रहेगा। चन्दरबाबू ने उसे घूरकर देखा। बंसी ठोकर खाकर गिरते-गिरते बचा। सकपकाकर बोला, "बंगाली की माँ बेटे का गौना लाएगी। इस बार उनका गुड़ इनकार दीजिए तो एकदम सेर भर ज्यादा के भाव पर तौल देगी।

"हूँ।" चन्दर बाबू ने चौंक कर उसे देखा, फिर तुरन्त ही आंखें चुरा कर दूसरी ओर ताकने लगे।

बंसी चुप होकर सोचने लगा, अब क्या कहे। राह-बाट में एक दूसरे का दुःख-दर्द बंटाने वाले राही ही तो होते हैं।

गुमटी के आगे पहुँच कर एकाएक उसके नथुने फड़क उठे। उसने सकपकाकर इधर-उधर ताका। यहाँ कहाँ ? धत्तेरे की !

पास ही गड़ही में किसी ने जामुन की लकड़ियाँ पकने के लिए डाल दी थीं, वही गन्धा रही थीं।

वापसी

•

हरिप्रकाश

जिन्होंने 'मिट्टी की लोथ' नामक कहानी संग्रह पढ़ा है, वह हरिप्रकाश से अच्छी तरह परिचित होंगे। और जिन्होंने 'धर्मयुग' में प्रकाशित 'वापसी' का रसास्वादन किया है, वह हरिप्रकाश को कभी नहीं भूल सकते। अगर आप पिछले दस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ चुनें, तो आप 'वापसी' को 'इगनोर' नहीं कर सकते।

हरिप्रकाश का जन्म १९३३ में हुआ। एम० ए० करने के बाद कालेज में प्राध्यापक हो गये—और तादम तहरीर इसी पेशे को अपनाये हैं। खदो-खाल शकलो-सूरत से साहित्यकार के बजाय फौजी जरनल नजर आते हैं और जब सिगार मुँह में हो तो अपने को चर्चल से कम नहीं समझते—ऐसा उनके दोस्तों का कहना है। कहानियाँ बड़ी ही प्यारी और संगीन लिखते हैं, मगर ज़माने की, यानी हालात की, एक भी शिकन चेहरे पर नजर नहीं आती। सुदर्शन चोपड़ा का कहना है कि हरिप्रकाश ने आज तक जितने इश्क किये हैं, बेहद कामयाब रहे हैं। और आप तो जानते ही हैं, बकौल एक उर्दू लेखक के (मतलब कन्हैयालाल कपूर से है) औरत जिस्म पर मरती है, दिमाग पर नहीं; शायद इसलिये कि दिमाग उनके पास होता ही नहीं।

गाँव-गाँव घूमना इनकी हॉबी है, जो समझ से बाहर है।

गाड़ी बस, दो ही मिनट के लिए रुकती है यहाँ ।

दरवाजा खोलते ही ठंडी हवा के झोंके ने उसे चारों ओर से लपेट लिया। ओवरकोट के कालर खड़े करके उसने कानों को अच्छी तरह से ढका और झट-पट उतरकर सामान नीचे खींच लिया ।

दोनों तरफ दूर तक सन्नाटा था। रात के पिछले पहर का अन्धेरा खूब गहरा होकर फैला हुआ था । उसने कलाई घड़ी पर नजर डाली । चमकते हुये रेडियम की सुइयां चार बजा रही थीं । पीछे जहाँ स्टेशन के दफ्तर का कमरा था, उसके सामने एक लैम्प जल रहा था । चार हाथ लम्बी बल्ली पर बड़े आकार की बेडौल-सी चिमनी । उसके अन्दर रखा किरासिन का सरकारी लैम्प । खम्भे के आस-पास रोशनी का बड़ा-सा धब्बा दिख रहा—बाकी सब काला स्याह ।

एक सीटी देकर गाड़ी चली और उसके देखते-देखते तमाम डिब्बे रेंगकर सामने से गुजर गये । निगाह उठाकर उसने स्टेशन के दफ्तर की ओर देखा । एक दो आकृतियाँ रोशनी के उस धब्बे में हिलती-डुलती दिखाई दीं और फिर अंधेरे में छिप गईं । लगता है कि चिट्ठी पहुँची नहीं समय पर । सात दिन पहले तो उसने लिखा था । वह भी एक्सप्रेस ! एकाएक उसने सोचा कि कहीं वह गलत स्टेशन पर तो नहीं उतर गया अंधेरे में नाम तो पढ़ नहीं सका था । बस इतना ही मालूम था कि उन्नाव के बाद दो स्टेशन छोड़कर तीसरे पर उतरना था । क्या पता भूल हो गई हो । अब क्या करें ? चलें क्या स्टेशन की ओर ? लेकिन यह सामान ? यहाँ अनजाने अंधेरे में कैसे छोड़ दें ! और वह अटैची-बिस्तरा हाथ में उठाकर स्टेशन की ओर चल पड़ा ।

हाँ, एक बत्ती इधर आ रही है । हिलते हुये हाथ के कारण रोशनी आगे

घूम रही है। और कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है।

एकाएक रोशनी उसके चेहरे पर पड़ी।

"कौन, राजी ?"

"हाँ, बाबू जी।" और उसने सामान नीचे टिका दिया।

"आ गया, भैय्या ?"

आगे बढ़कर वह पैरों पर झुक गया।

"खुश रहो बेटा।" उसे उठाकर उन्होंने सीने से लगा लिया। "सामान है न···? रहने दे, छोड़ दे यहीं, आ जायेगा।" और ऊँचे स्वर में उन्होंने पुकारा, "अरे शम्भू इधर आ बे। सामान उठा भैय्या का। क्वाटर पर ले जा।"

एक आदमी दौड़ा हुआ आया और सामान लेकर सिर पर उठा लिया।

"चिट्ठी मिल गई थी मेरी ?" दफ्तर की ओर चलते हुये राजीव ने पूछा।

"हाँ, मिल तो गई थी।···कानपुर में गाड़ी बदलने में दिक्कत तो नहीं हुई ? मैं तो आदमी भेज रहा था कानपुर, पर···"

"नहीं उसकी क्या जरूरत थी ? आराम से आ गया।" वह मन ही मन हँसा। बाबू जी अब भी शायद उसे नादान समझते हैं। उसे याद आया स्कूल-कालेज के दिनों में वह कहीं आता-जाता तो साथ में बाबूजी किसी पोर्टर को अवश्य भेज देते। मार्ग में असुविधा नहीं होती। कहीं गाड़ी बदलनी होती तो कुली को पैसे नहीं देने पड़ते।

एक कमरे का छोटा-सा दफ्तर जिसमें बाहर उससे भी छोटा बरामदा।

दीवार के पास ही शायद केले के पेड़ लगे हैं। लैम्प की धुँधली रोशनी में साफ़ दिखाई नहीं दे रहा है।

बरामदे में सामान तोलने की कल खड़ी थी जिसके ऊपर एक काला कुत्ता सोया हुआ था। बाबूजी के पीछे-पीछे वह दफ्तर के अन्दर चला आया। बहुत बड़ी एक मेज के ऊपर गोल और साफ चिमनी वाला एक लैम्प जल रहा था। बाहर के अंधेरे की अपेक्षा बहुत उजाला था, शायद कमरे के छोटे आकार के कारण ऐसा दिखता हो। बादामी रंग के मटमैले कागजों के ढेर मेजपर बिखरे थे। लकड़ी का एक कलमदान जिस पर ढेरों स्याही पुती हुई थी। एक ओर

टिकट बेचने वाली खिड़की थी। समीप ही टिकटों की अलमारी थी जिस पर लोहे का मोटा ताला जड़ा था। उस ओर कोने में लगी टेलीग्राफ मशीन जिसमें से लगातार गर-गट की आवाज आ रही थी।

एक दृष्टि में राजीव ने सब कुछ देख लिया। वही चिर परिचित वातावरण। होश सम्हाला तबसे देखता आ रहा है। घूम फिरकर अनेक स्टेशनों पर। लेकिन सभी जगह यही कुछ···

"मैसेज भेज दूं ट्रेनका।" बाबूजी ने कहा और टेलीग्राफ मशीन की ओर बढ़ गये।

गर-गर-गर-गर-गट···गट-गट-गर-गर

दाहिने हाथ की बीच की लम्बी उंगली जल्दी-जल्दी संदेश भेज रही है। राजीव चुपचाप खड़ा बाबूजी को देख रहा है। घुटनों से लेकर सिर तक कम्बल में लिपटा शरीर, टखनों से थोड़ा ऊपर तक लटकता हुआ तहमद। पैरों में ऊनी मोजें और बिना अंगूठे वाली चप्पलें। लगता है, इन पिछले महीनों बाबूजी और भी कमजोर हो गये हैं। ढलती उम्र और सर्दी के इस मौसम में पिछली रात की ड्यूटी।

वह मेज के सामने पड़ी लकड़ी की कुर्सी पर बैठ गया।

"नींद आ रही होगी न ?···अरे शम्भू ?" एकाएक उंगली रोककर और उसकी ओर घूमकर बाबूजी ने पूछा।

"सामान लेकर गया है।" राजीव ने कहा।

उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया और फिर अपना काम करने लगे।

गर-गट-गर-गट, गट-गर-गट-गर, गर-गर-गट-गट···

वही तीन अक्षरों की भाषा। कैसी तेजी से उंगली चल रही है। राजीव कभी भी इस भाषा को समझ नहीं पाया। उसे याद आया वर्षों पहले जब वह मैट्रिक में पढ़ता था तब उसने कितनी कोशिश की। बाबूजी कहते थे कि थोड़ी भी सीख जाये तो मैट्रिक पास करते ही रेलवे में नौकरी मिल जायेगी। लेकिन···

संदेश पूरा हो गया था। मेज की ओर आते हुए उन्होंने पूछा, "गाड़ी में तो सोने को नहीं मिला होगा ?"

"नहीं, बारह बजे तो गाड़ी कानपुर पहुँची।"

कुर्सी पर बैठकर उन्होंने सामने रजिस्टर पर रखा अपना चश्मा आँखों पर लगाया और कुछ लिखने लगे।

बाहर जैसे अंधेरा जमकर खड़ा हो गया था। उफ, कैसी कड़कड़ाती सर्दी है! ओवरकोट की लम्बी जेब में से उंगलियाँ सिगरेट के पैकेट को छू रही थीं। एकाएक उसकी तबीयत सिगरेट पीने की हुई। लेकिन अभी नहीं, बाबूजी के सामने···

"वहाँ तो सब ठीक है न? पप्पू और टुन्नी कैसे हैं?"

"सभी ठीक हैं।"

उसे याद आया अभी थोड़ी देर पहले उसके दिमाग में एक सवाल आया था पूछने के लिये। किन्तु वह पूछ नहीं सका। वह सोचने लगा कि क्यों नहीं उसने पूछा था। क्या अब पूछे···और थोड़ी देर बाद वह मन ही मन मुस्करा उठा। कैसी अजीब बात है। कोई खास बात नहीं पूछनी थी। बस, यही कि क्या आजकल उन्हें रात की ड्यूटी करनी पड़ती है? इतनी-सी बात। एक औपचारिकता-सी। और उसके लिये भी वह सोचता रहा कि पूछे या नहीं। ···न जाने उसे क्या हो जाता है बाबूजी के सामने। जब भी कभी वह उनके साथ अकेला होता है उसे करने को बातें नहीं मिलतीं। कोई बात उसके दिमाग में आती है और वह मन ही मन सोचता रहता है कि कहे या नहीं और कहे तो किस प्रकार? किस स्वर में कहे? और तब तक बाबूजी स्वयं कुछ कह उठते हैं या कुछ और हो जाता है और उसके दिमाग में आई हुई बात ऐसे ही घुमड़ती रह जाती है।···अभी कुछ वर्ष पहले तक बाबूजी उसे घुन्ना कहा करते थे। लेकिन ऐसा चुप्पा तो नहीं है वह। दोस्तों में जब बैठता है तब तो···

"मुन्नी को क्यों नहीं ले आया साथ?"

"पूछा था मैंने उससे। कहने लगी, पढ़ाई में हर्ज होगा। अप्रैल में इम्तहान है न।"

"क्या हर्ज होता दो-चार दिन में? मिल जाती आकर।"

राजीव ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने देखा कि बाबूजी के माथे पर

अनायास ही कुछ सिलवटें. पड़ गयीं हैं। चेहरा अनावश्यक रूप से गम्भीर हो गया है। जब भी कोई ऐसी बात होती जो उनको पसन्द न हो, तब उनकी शक्ल कुछ इसी प्रकार की बन जाती है। बचपन से वह देखता आ रहा है। मुन्नी को वह लोग इतना पढ़ा रहे हैं, बाबूजी को यह पसन्द नहीं है। सोलह साल पार कर चुकी अब उसकी शादी की फिक्र करनी चाहिये। पढ़ाकर क्या उससे नौकरी करवानी है?…हाँ, अब पूछना चाहिए उसे…

"नाइट ड्यूटी रहती है क्या, आजकल?"

बाबूजी का माथा एकदम नार्मल हो गया; "हाँ।"

"बड़ी दिक्कत रहती होगी! ठंड का मौसम…

"नहीं, दिक्कत क्या है? काम ज्यादा नहीं है। दस से सुबह दस तक मेरी ड्यूटी है। मैं क्वार्टर पर ही सोता हूँ। अभी आया था उठकर। यह गाड़ी निकाल दी। नौ बजे सुबह दूसरी आयेगी बालामऊ से। बस।"

"तब तो काफी आराम है।"

'हाँ, सो तो है।" और अभी उनके मुख का भाव बदल गया। जैसे उनकी कठिनाइयों को कम करके देखना उनको रुचा नहीं।

"वक्त काटना है जैसे तैसे।…कट जाता है।"

राजीव ने चौंककर उनकी ओर देखा। विषाद की गाढ़ी स्याही सारे चेहरे पर पुती हुई थी। आँखें नीचे रजिस्टर पर झुकी थीं किन्तु साफ दिखता था कि मन कहीं और है।

छोटी-सी एक बात। लेकिन राजीव को लगा कि उसका मर्म बिंध गया है। प्रसंग ध्यान में आते ही वह आकण्ठ लज्जा से भर गया। एकाएक उनके मन में ढेरों करुणा उपज आई। किसी भी तरह वह उनके मनके विषाद को धो डाले। ऐसे अवसरों पर प्रायः उसे लगता जैसे बाबूजी बिल्कुल छोटे बच्चे हैं, जिन्हें दुलारा जा सकता है। किन्तु यह क्षण अधिक लम्बे नहीं हो पाते।

बरामदे में आहट हुई। शम्भू था।

"रख आया सामान?…भैय्या को क्वार्टर पर पहुँचा दे।" बाबूजी का स्वर बिल्कुल नार्मल हो गया था।

राजीव उठ खड़ा हुआ।

'सो जा बेटा जाकर।···बिस्तर मत खोलना। मेरा बिस्तर कमरे में बिछा होगा।"

"अच्छा जी।" और वह बाहर निकल आया।

"अरे शम्भू बत्ती लेकर जाना। अंधेरी रात है।"

"जी, बाबूजी" और शम्भू ने बरामदे के कोने में रखी हाथबत्ती उठा ली। बरामदे से उतर कर पतली सी पगडंडी पर आते ही राजीव ने सिगरेट निकाल कर सुलगा ली। माँ के सामने पीने में उसे संकोच नहीं होता।

× × ×

पगडंडी के दोनों तरफ खूब घना झाड़-झंकाड़ लगता है। हिलती डुलती रोशनी में आगे वाले दो कदमों की ओर देख-देखकर खूब सावधानी से चल रहा है, फिर भी बार-बार उसके पैर किसी चीज से उलझ जाते हैं।

हाँ, वह सामने ही तो दिख रहा है क्वार्टर। खुले दरवाजे के पीछे शायद लालटेन जल रही है और उसके प्रकाश को रोकती हुई एक बड़ी-सी आकृति दरवाजे को घेर कर खड़ी है।···माँ है शायद, राजीव ने सोचा। शायद कैसे ? और कौन होगा ?

अभी बिल्कुल निकट पहुँचा भी नहीं था कि माँ का स्वर सुनायी दिया, "अकेला ही आया है न ?···मैं कह रही थी उनसे शाम को और कोई नहीं आयेगा।"

"राम-राम अम्मा।" समीप पहुँचकर उसने कहा और पैरों में झुक गया।

"जीता रह, बेटा !" उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरा। स्वर में एकाएक ही ढेरों आर्द्रता भर उठी थी।

दरवाजा छोड़कर माँ एक ओर हो गई और वह भीतर घुस आया।

"सारी रात आँखों में काट दी। बार-बार उठकर घड़ी देखती। गाड़ी भी तो लेट आयी है···।"

गाड़ी लेट नहीं थी। किन्तु यह माँ की आदत है। जब भी कोई आनेवाला होता उन्हें गाड़ी लेट ही मालूम देती।

"बाबूजी का बिस्तरा लगा है न माँ जी ? भैय्या सोयेंगे।" शम्भू ने पूछा।

"लगा है बिस्तरा तो। सोयेगा न ? गाड़ी में तो नहीं सोया होगा।"

"कैसे सोता ? कानपुर में बदली करनी थी।"

शम्भू वापस चला गया और माँ ने दरवाजा भीतर से बन्द कर लिया।

ओवर कोट उतार कर उसने कुर्सी पर रख दिया और दृष्टि घुमाकर चारों तरफ देखने लगा। ऊँची-ऊँची दीवारों वाला छोटा सा कमरा। ऊपर छत की ओर देखने पर लगता जैसे किसी चौकोर कुएं की सूखी हुई तलहटी पर खड़ा हो। दीवारें बिल्कुल नंगी—सफेद सफाचट। कहाँ गयीं वह सब तस्वीरे। कितने शौक से वह लोग बचपन में तस्वीरें लगाया करते थे। एक सिरे से शुरू करते और चारों दीवारों को तस्वीरों की लम्बी कतार से घेर लिया जाता। रक्खी होंगी शायद किसी सन्दूक में। कौन लगायेगा ?

"क्वार्टर बहुत अच्छा है। ऐसे-ऐसे तीन कमरे हैं। रसोई-गुसलखाना अलग। और चौक देखे तो" बच्चों जैसे जोश के साथ माँ कहे जा रही थी।

कमरे के एक कोने में चारपाई बिछी थी। लिहाफ ऐसे ही बिना तहाया हुआ पड़ा था। पट्टी के सिरे पर बैठकर वह जूते के फीते खोलने लगा। माँ सामने बिछे मोढ़े पर आ बैठी थी और एक-एक करके सभी के हाल पूछ रही थी।

सचमुच ही अब जोर से नींद आ रही है। सारे सफर में वह बैठा-बैठा ऊँघता रहा है। कोट, स्वैटर, कमीज, पैन्ट सभी उतारकर उसने कुर्सी पर डाल दिये। नहीं, अब 'स्लीपिंग-सूट' नहीं निकाला जायेगा अटैची में से। और वह 'अन्डर वियर' पहने हुए ही रजाई में घुस गया। आह, कैसा सुख है, कैसी शान्ति। माँ ने देखा कि उसकी बातों का ठीक से उत्तर नहीं मिल रहा है। उठकर वह कुर्सी पर फेंके गये कपड़ों को उठा-उठाकर खूँटी पर टाँगने लगीं।

"अच्छा किया बेटा, तू आ गया। दुनिया दिखाने को तो कुछ चाहिये। आगे-पीछे लोग बात कह देते हैं। चार-चार जवान बेटे। छः महीने में मुँह दिखाने लायक एक भी नहीं हुआ। किसी का मुँह थोड़े बन्द किया जा सके।"

कमरे का वातावरण एकदम भारी हो गया। यह कैसी बात छेड़ दी माँ

ने ? नींद भी तो आ रही थी ··

"हैंगर तो कोई है नहीं । एक लाई थी दिल्ली से, उस पर तेरे बाबूजी का कोट-पतलून लगा है । पतलून कैसे टाँगू ?" माँ जैसे अपने आपसे ही कह रही थीं ।

"ऐसे ही खूंटी पर टांग दो ।" राजीव ने जैसे मुक्ति की सांस लेकर कहा ।

लेकिन माँ उसी क्रम में कहती गयी—

"इन्होंने तो किसीसे कुछ कहना सुनना ही छोड़ दिया है । जैसे-तैसे वक्त काट रहे हैं । किस पर गुस्सा करें ? अपनी आत्मा को कोस लेवें हैं । आधी भी देह नहीं रह गयी है । अपने ही बेटे पराये जैसे हो गये । इसीलिये पेट काट-काटकर पाला-पोसा था । रोज रात को सबको याद कर-करके रो लेवें हैं ।"

नहीं, इस समय यह सब अच्छा नहीं लग रहा है । कितनी अच्छी नींद आ रही थी !

"यह लालटेन हटा दो माँ, रोशनी आँखों में लगती है ।"

माँ ने एकाएक लम्बा सांस लिया । लालटेन उठाकर उन्होंने उसकी बत्ती मद्धम की । 'सो जा बेटा !' और वह साथ वाले कमरे में चली गयी ।

राजीव को अप्रिय बातें याद करना अच्छा नहीं लगता ।

जो हुआ है उसके लिये क्या सोचना ? उसको भूलकर यदि आसानी से रहा जा सकता है तो उसको याद करके मुश्किल में क्यों पड़ा जाये ?

सुहाना दिन है । धूप खूब उजली होकर फैली है । सुबह का कोहरा छितरा चुका है और दूर-दूर तक दिशाओं का विस्तार साफ दिखाई दे रहा है । उसे याद नहीं, कितने दिन से उसने इतना स्वच्छ, इतना निर्मल और इतना स्फूर्ति-दायक वातावरण नहीं देखा था । कहीं भी कोई मिलावट नहीं । धूप जैसी है वैसी ही उसको स्पर्श कर रही है । हवा भी जैसे बिल्कुल अछूती हो । नहीं, गलत है अछूती कैसे होगी हवा ? ओस-कणों की भीगी-भीगी सीलन इसमें है । उधर रेल-लाइन के परे जो मीलों तक खेतों का 'लैण्डस्केप' दिख रहा है तथा जिसके बीच-बीच में अमराईयों के 'पैच' लगे हैं, उसकी गन्ध इस हवा में बसी है । पके हुए गन्ने की गन्ध, फूली सरसों की गन्ध, मटर की फलियों की गन्ध,

गेहूँ की बालियों की गन्ध। नहीं है तो धूल नहीं है, धुआँ नहीं है, घुटन नहीं है। राजीव की इच्छा हुई कि क्रिसमस की पूरी छुट्टियाँ यहीं काट दे। लेकिन कहाँ ? लखनऊ और इलाहाबाद भी जाना है। कितने दिन का तकाजा है। फिर पता नहीं कब सुभीता हो।

गाड़ी आयी और दो-चार मिनट रुककर चली गयी। क्षण भर को जैसे हलचल मच गयी हो। बाबूजी को भी उसने जल्दी-जल्दी 'ब्रेक' की ओर जाते हुए देखा था। अब फिर शान्ति है। जो थोड़े से लोग प्लेटफार्म पर थे, वह भी अब नहीं रहे हैं। दूर जाती हुई रेल का शोर अब तक कानों में पड़ रहा है। पता नहीं रेल का ही स्वर है या मात्र उसकी गूँज जो कानों में बची रह गयी है। रेल-लाईन के उस ओर खेतों के बीच में से एक आदमी और औरत आगे पीछे चले जा रहे हैं। इसी गाड़ी से उतरे हैं। राजीव सोचने लगा कहाँ से आये होंगे ! शायद ससुराल से बहू को बिदा कराके ला रहा है। उन अमराइयों के पीछे शायद कोई गांव है, या उस गांव से भी आगे कोई और गांव है जहाँ उसका घर होगा

"क्या बनाऊँ दोपहर को ?" दरवाजे पर माँ आ खड़ी हुई थी।

"क्यों, अभी जरूरत है क्या ? इतना ढेर-सा हलुवा और पकौड़ियाँ तो खिला दीं—"

"अरे, तो क्या दोपहर में रोटी नहीं खायेगा ? और स्वर बदलकर माँ बोली, "यही तो मुसीबत है यहाँ। ताजी सब्जी नहीं मिलती। उन्नाव भेजकर किसी को मंगवानी पड़ेगी। कल के गोभी आलू रखे हैं। साथ में कढ़ी चावल बना लूँ?"

स्टेशन के दफ्तर की ओर से कोई इधर ही आ रहा है। हां, शम्भू ही है।

"नमस्ते, भैय्याजी।" हाथ का झोला उसने माँ को थमा दिया।" बाबूजी ने कहा है अभी थोड़ी देर में आयेंगे।"

"अरे कोई उन्नाव गया है न ? शाम के लिए सब्जी नहीं है।" काफी दूर पहुँच गये शम्भू से माँ ने पुकारकर पूछा।

"मैकू गया है, मां जी। वहीं से उसने आवाज दी।

झोले में जो कुछ था, मां ने हाथ डालकर बाहर निकाल लिया। शराब की बोतल।

रजीव ने माँ के चहरे की ओर देखा। ओठ वक्र होकर सिकुड़ गये थे। माथे पर स्पष्ट सिलवटें।

"यहां भी वह सब चलता है ?" उसने पूछा।

"यह क्या छूटै है ? क्या मजाल कभी नागा हो जाये।...लेकिन बहुत थोड़ी कर दी अब तो। अपने हाथ से पव्वे में भरकर दे दूँ। चुपचाप बैठकर पी ले हैं।"

और एक पल राजीव के चेहरे की ओर देखकर फिर बोली, "यह न छूट सकै उनकी। डाक्टर ने भी कह रखी है कि छोड़ दोगे तो दुख पाओगे।...बहुत फर्क हो गया, बेटा। पहले जैसी बात ना है। किसी से लड़ना झगड़ना नहीं। जो कुछ कहना हो मुझसे ही कह लेवै हैं।"

"लेकिन तुम्हें तो तंग करते होंगे ?"

"मैं ना हूँ ऐसी जो तंग हो जाऊंगी। उनके बस में न आऊँ मैं। मैं ही उनसे डरती तो तुमको बड़ा कर लेती ?"

बर्तनों की खटपट ने माँ का ध्यान खींच लिया। "यह मरी बिल्ली पीछा ना छोड़।" और वह अन्दर चली गयी।

धुंधली-धुंधली अनेक स्मृतियां। पिछली जिन्दगी के लम्बे कैन्वस पर इधर उधर बिखरे अस्पष्ट चित्र। राजीव जो कुछ याद नहीं करना चाहता, बरबस वही दिमाग में आकर कौंध रहा है लेकिन पढ़ा नहीं जा रहा है। साथ के कमरे में बाबूजी की आवाज जोर-जोर से बहक रही है। झन्न ! थाली उठाकर दूर फेंक दी गयी, कटोरियां लुढ़क रही हैं।...माँ का रौरव स्वर चीख रहा है... बुरे-बुरे कोसने उगलते जा रहे हैं, लात घूसे बरस रहे है, नन्हे-नन्हे कई जोड़ी हाथ बाबूजी को पीछे खींच रहे हैं, चारपाई में दुबके हुए सहमे बच्चों की चीखें उभरकर दूर-दूर तक गूँज रही हैं—घर के बाहर लोगों की भीड़ जमा है। जो आगे बढ़ता है क्रोध का शिकार बनता है...आधी रात ! स्टेशन के सारे लोग परेशान होकर दौड़ रहे हैं। दूर 'आउटर सिगनल' के पास रेलवे

लाइन के ऊपर से जबरदस्ती बाबूजी को उठाकर लाया गया है, कैसी रक्षा की है भगवान ने थोड़ी ही देर में मेल ट्रेन गुजरने वाली थी। कटकर मरने के लिए दृढ़ निश्चित बाबूजी को चारपाई के साथ रस्सियों से बांध दिया जाता है। धरती से कूट-कूट कर अपना माथा फोड़े हुए मां पड़ी हैं। दो बच्चे बाबू जी के मुँह से निकलते भागों को पोंछ रहे हैं, दो मां की चीख पुकार बन्द करने की कोशिश में हैं।···प्रत्येक रात की कहानी यही। शाम के बढ़ते भूट-पुटे के साथ दिल की धड़कने बढ़ने लगतीं। मन ही मन मनौती मानते, आज कुछ न हो। जिस दिन यह सब कुछ नहीं होता, सब के दिलों पर बसन्त घिर आता, किन्तु कितने थोड़े थे ऐसे दिन !···स्कूल में खेल के मैदान में, कस्बे के छोटे से बाजार में, जिधर से भी वह निकलते हैं, लोग फुसफुसा कर आपस में बातें करने लगते है, "···के बच्चे हैं।" कोई मुस्कराता है, कोई सहानुभूति दिखाता है।

अभिशप्त बचपन ! बार-बार राजीव के मन ने विद्रोह किया है। बार-बार उसने इन बन्धनों को काट पीटकर स्वयं को मुक्त करना चाहा है। कितनी बार उसने सोचा है कि काश वह किसी और का बेटा होता ! कितनी बार उस ने स्पष्ट रूप में कह देना चाहा है कि उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं है ! लेकिन सम्बन्ध टूट पाता है क्या ? धीरे-धीरे वे सब बढ़ते रहे, पढ़ते रहे···। कैसी शक्तिशाली प्रवृत्ति होती है मानव में समझौते की ! कैसी भी स्थिति क्यों न हो, आदमी उसमें भी जी लेता है। जीवन का सतत प्रवाह भी क्या अवरुद्ध हो पाया है कभी ? वर्ष पर वर्ष बीतते गये; बाबूजी जैसे थे उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। रोजाना के नियम में और भी निश्चिन्तता आ गयी। प्रभावित क्षणों का उन्माद भी बढ़ती उम्र के साथ बढ़ता गया। किन्तु फिर भी बहुत-कुछ बदलता गया। पहले बड़े भैया निकले। बी० ए० पूरा हो गया था। दिल्ली में नौकरी मिली और चले गये। फिर राजीव। उसके बाद सजीव और फिर प्रदीप। अन्त में मुन्नी भी दिल्ली आ गयी। सभी दिल्ली में हैं। दस साल हुए उन बातों को जब भैया दिल्ली आये थे। लम्बी कहानी है दस सालों की। शुरु में २० रुपये का एक कमरा लिया था अब तीन सौ रुपये का

चार 'बेड-रूम' वाला बड़ा सा फ्लैट उनके पास है। सेल्स मैन थे, अब एक विदेशी फर्म के ब्रांच सेल्स मैनेजर हैं। राजीव यूनिवर्सिटी में पढ़ता है। बीच में छात्रवृत्ति लेकर दो वर्ष आक्सफोर्ड भी रह आया है। संजीव कपड़े के एक बड़े कारखाने में 'टेक्सटाइलइन्जीनियर' है। प्रदीप डाक्टरी पढ़ रहा है। मुन्नी भी कालेज में है। भरा-भरा जीवन। बड़े भैया की शादी तो शुरू में ही हो गयी थी। अब तो राजीव और संजीव भी ब्याह चुके हैं। सभी इकट्ठे रहते हैं।

बाबूजी और अम्मा अकेले पड़ गये। लड़के जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, बाबूजी को लगता जैसे बीच की दूरियाँ बढ़ती जा रही हों। कभी-कभी छुट्टी लेकर दिल्ली आते तो अपने ही लड़कों के घर में उन्हें लगता जैसे मेहमान बनकर रह रहे हों। जैसे अपने नहीं किसी पराये घर में आ गये हों।

और फिर एक दिन आया जब वह रिटायर हो गये। सामान बाँध समेट-कर देहली आ तो गये किन्तु वहाँ के जीवन में स्वयं को रमा नहीं पाये। राजीव को याद है उनके आने पर सबको लगा था जैसे बँधी-बंधाई व्यवस्था बिखर जायेगी। किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। अतिरिक्त सामान ओने-कोने में रख दिया गया और एक छोटा कमरा बाबूजी और अम्मा के लिए खाली कर दिया गया। लेकिन वे लोग मेज कुर्सी तो थे नहीं कि जहाँ रख दिया जाता रखे रहते। खाली कमरे के अतिरिक्त भी तो उन्हें कुछ चाहिए था और वह अतिरिक्त उन्हें मिल नहीं सका। सभी अपने-अपने कामों में व्यस्त। सुबह निकलते और शाम ढले और कभी-कभी रात तक वापस आते और आकर अपने-अपने कमरों के हो जाते। आते-जाते मुश्किल से कुछ बातें हो पातीं। बहुएं थीं सो वह भी अपने में व्यस्त। स्वयं राजीव की पत्नी भी एक कालिज में पढ़ाती थी। संजीव की पत्नी यूनिवर्सिटी में एम० ए० की छात्रा थी। मुन्नी का सेकण्ड इयर था। रह गयी भाभी, सो उन्हें घर के काम-काज और दो बच्चों से ही फ़ुर्सत नहीं थी। और अब तो पिछली साल से पप्पू भी स्कूल में जाने लगा था।

और थोड़े दिन बाद ही बाबूजी को लगने लगा जैसे उन्होंने यहाँ आकर

गल्ती की हो। सबकी व्यस्तता उन्हें स्वयं के प्रति उपेक्षा मालूम देती। क्रोध तब और भी बढ़ जाता जब वह देखते कि मां भी अपने लड़कों का पक्ष ले रही है। दिन भर तो उनकी हाँ में हाँ मिलाती, बल्कि चुपके-चुपके लड़कों और बहुओं की शिकायतें भी करती किन्तु शाम को लड़कों के आते ही उनसे मीठी-मीठी बातें करने लगती।

रिटायर होने पर उन्होंने तय किया था कि अब शराब नहीं पियेंगे। किन्तु जाने किसके प्रति मन का विद्रोह था कि पंद्रह दिन भी पूरी तरह से स्थिरता नहीं रह सकी! ठेके की दुकान पर आना-जाना शुरू हो गया। लेकिन यह मास्टरी के दिन तो थे नहीं कि बिना चिन्ता किये ही बोतल आ जाये। पिछले तीस वर्षों में एक बार भी उन्हें शराब की कमी नहीं खली। ऊपरी आमदनी तो थी ही किन्तु उसके अलावा भी लोग बोतल द्वारा सलाम भेजते थे। पर यहाँ तो ठेके वाले को नकद पैसे देने पड़ते। आये दिन माँ के साथ उनकी पैसों के लिए छुटपुट होने लगी। पेन्शन के बंधे-बंधाये रुपये आते सो उनको इस प्रकार लुटाना मां से नहीं देखा जाता। लेकिन बात सिर्फ पैसे की ही तो नहीं थी। पीने के बाद कोशिश करने पर भी उनसे चुप नहीं रहा जाता था। दिन भर का उफान रात को उबल आता। कहा जाता मां से ही किन्तु किस के प्रति कहा जा रहा है यह छिपा नहीं था। थोड़े दिन चला और एक दिन भैया ने सुबह आफिस जाते समय साफ़ शब्दों में कह दिया कि यह देहली है और शरीफ लोगों का मुहल्ला। यहाँ रह कर यह सब नहीं चल सकेगा। उस दिन रात आई तो उफान में दुगना-तिगना जोश था। शायद उसी जोश में दो दिन का 'कोटा' एक ही दिन में पी डाला गया। शरीर की सारी शक्ति जैसे गले में केंद्रित हो गई हो "मुहल्ले में रहने वाले शरीफ और बदमाश! हम, जो तेरे बाप हैं, जिन के पेशाव से तू पैदा हुआ।" और फिर गालियों की बौछारें। अगल बगल के खिड़की दरवाजों में से लोगों के सिर झाँकने लगे। कोई-कोई बाहर भी निकल आया और उसके पश्चात् मर्यादा की सभी सीमाएं टूट गयीं। उस दिन जिस प्रकार का व्यवहार उन लोगों ने किया उसे याद करके राजीव का सर्वांग लज्जा से भर उठता है। आक्रोश सब के सिर पर चढ़ बैठा था। दूसरा दिन आया तो सब ने

मिलकर एक स्वर से कहा कि एक दिन भी यह और नहीं चलेगा। जहाँ जाना है जाओ, किन्तु यहाँ रहना नहीं हो सकता। और उसी दिन बाबूजी जरूरी सामान तथा अम्मा को लेकर चले गये। कहाँ गये यह पता नहीं चला। एक महीने बाद पत्र आया कि उन्होंने फिर सर्विस कर ली है। भाग-दौड़ करके रेलवे में ही उन्हें 'एक्सटैन्सन' मिल गया है, तीन सालका। उन्नाव के पास इस ब्राँच लाइन पर पोस्टिंग हुई है। बाकी जरूरी सामान भेज दिया गया। उस बात को भी छः महीने गुजर गये हैं। बीच-बीच में कभी-कभी पत्र आते जाते रहते थे। और आज राजीव आया है। क्रिसमिस की छुट्टियों का एक अंश बताने।

चटपट उसने अधजली सिगरेट दूर झाड़ी में फेंक दी। बाबूजी न जाने कब पास आकर खड़े हो गये थे।

"नींद पूरी हुई ना ? मैं सुबह आया तब तो सो रहा था तू।"

"हाँ आठ बजे उठा था सोकर।···यह क्या आज का अखबार है ? आता है अखबार यहाँ ?"

"इस गाड़ी से आता है। मैं तो उर्दू का मंगवाता हूँ। तेरे लिए अंग्रेजी का मंगवाया है।" और पायनियर' की प्रति उन्होंने राजीव की ओर बढ़ा दी।

"मेरे लिए ?"

"हां कल कह दिया था उससे। मालूम था न आज तू आयेगा।"

एकाएक राजीव को ख्याल आया कि वह बाबूजी के लिए कुछ उर्दू की किताबे लाया है। खाली वक्त में किताबें पढ़ने का शौक बाबूजी को शुरू से ही है। उठकर वह कमरे में गया और अटैची में से किताबें निकाल लाया। साथ में ऊनी मोजों तथा पूरी बाँह का नया स्वेटर भी। मां के लिए शाल भी लाया था एक खरीदकर।

उर्दू का अख़बार लेकर बाबूजी धूप में बिछी खाट पर जा बैठे थे।

"यह किताबें लाया हूँ आपके लिए। और यह·"

"अच्छा।" और उनका चेहरा खुशी से भर गया। काफी देर उलट-पुलट कर स्वेटर और मौजे देखते रहे।

"किसने बुने हैं ?"

"सभी ने मिल-जुलकर बुना है।"

अपना पुराना स्वेटर उतारकर उन्होंने बैठे-बैठे ही नया पहना। तभी माँ दरवाजे पर आ खड़ी हुई।

"क्या देखती है ? मेरे लिए बुनकर भेजे हैं बहुओं ने।" कमर के पीछे हाथ ले जाकर उन्होंने नीचे खींचकर स्वेटर ठीक किया।

"ओहो, बड़ा लाड़ आया है इस बार तो ससुरपर ! ऐसी हैं तो न वह !"

"बस, कर दी बकवास शुरू। जरा जबान पर काबू नहीं है। तुझे कभी अकल भी आयेगी या नहीं ! क्या बुराई है बहुओं में ?"

"आज तो बड़ी प्यारी हो गयीं बहुएं। रोज गालियाँ देते हुए तो जबान तुम्हारी नहीं थकती।"

"मैं गाली देता हूँ ? शर्म नहीं आती तुझे, तोहमत लगाती है। मैं कहता हूँ सब कुछ तेरी ही बदौलत है।"

"हाँ, हाँ, मेरी ही बदौलत है। मैं ही शराब पी-पीकर दुनिया सिर पर उठाती हूँगी ?"

"अरे, कुछ बात भी है..." राजीव बीच में ही बोल उठा। "देखो तो माँ यह शाल ओढ़कर कैसा लगता है तुम्हारे।"

"देख ले बेटा इनकी बात। दुनिया भर के कुबोल बोलें, सारे कुकर्म करें और बदनामी मेरे सिर पर।"

"छोड़ो भी तुम। देखो, पसन्द है यह तुम्हें।"

"हाँ, है तो अच्छा। बहुत महंगा होगा ?"

"महगे-सस्ते से तुम्हें क्या है ? अच्छा है ना ?"

"यह रंग जरा..."

"अरी, तुझे कुछ पता भी है रंग कैसा होता है ?" बाबूजी बोले, "लगी कानून छाँटने। ला, इधर ला, तुझे नहीं चाहिये तो ? मैं ओढ़ लूंगा।"

"चलो, चलो, आये बड़े ! स्वेटर आ तो गया तुम्हारा।"

"स्वेटर तो मेरी बहुओं ने भेजा है..."

"तो शाल मेरा बेटा लाया है।"

"बेटा तेरा ही है क्या ? मेरा नहीं है ?"

राजीव से इतना हर्ष सहा नहीं जाता। दिल में एक झुर-झुरी सी होती है और आँखों की कोर में नमी छलकने लगती है। दुनिया की समस्त सम्पत्ति के बदले भी यह क्षणिक सुख महंगा है। वह सोचने लगा कि जो कुछ हो गया था, क्या उसका होना बहुत जरूरी था ? हो भी चुका है तो क्या उसकी याद मनसे सदा के लिए मिटाई नहीं जा सकती ? यह जो कुछ है, कितना अच्छा है, कितना भला है, कितना निर्दोष है ! सभी कुछ क्या ऐसा ही नहीं रह सकता, सदा-सदा के लिए।

किस को दोष दे। इस शख्स को जो उनका पिता है और इतना सरल हृदय है, कि अपने प्रति बेटों के जरा से प्रेम का आभास पाकर ही विभोर हो गया है। बस, इतना ही तो। आयु के इस चरण में आकर क्या व्यक्ति इतने सुख की भी अपेक्षा न करे ? और राजीव को लगा कि जैसे वह जाने अनजाने उपेक्षा करते रहे हैं। एक शराब का ही तो व्यसन है। कमजोरी किसमें नहीं होती ? दिल्ली में उन लोगों ने यदि उतनी उपेक्षा न की होती तो वह सब क्यों होता ? लेकिन क्या सचमुच ही ऐसा था ? किसी बात की तकलीफ तो थी नहीं। अलग कमरा था। कोई काम नहीं। दो नौकर थे घर में। सुबह शाम बातें भी होती जाती थीं। इसके अतिरिक्त और वह कर भी क्या सकते थे ? यह तो हो नहीं सकता था कि हर वक्त पास बैठे रहते। उसे एक दिन की बात याद आई। शाम को बाबूजी उसके कमरे में आ बैठे थे और तेज स्वर में रेडियो 'आन' करके गाने सुनने लगे। साथ ही शराब की बोतल पास में रखकर पीना शुरू कर दिया। राजीव को अगले दिन 'सेमिनार' में एक 'पेपर' पढ़ना था। काफी काम उसमें शेष था। थोड़ी देर तो वह चुप रहा किन्तु जब बाबूजी का बहकना शुरू हो गया तो उसने कह दिया कि उसे जरूरी काम करना है, वह अपने कमरे में चले जायें। उसे याद है बाबूजी को बुरा लगा था। उसी समय कमरे में जाकर माँ को सुना-सुनाकर उन्होंने शोर भी मचाया किन्तु वह असहाय था।

और अन्त में राजीव अपनी शिक्षा के संस्कारों की शरण लेता है। मन में समझौता करता है कि दोष किसी का भी नहीं है। युग बदल रहा है। अर्थ व्यवस्था बदल रही है। मान्यताएं बदल रही हैं। वह युग तो रहा नहीं जब पीढ़ियों से परिवार का एक ही रोजगार होता था। बाप बूढ़ा हो जाता और बेटे काम संभाल लेते। उम्र बीत जाती किन्तु कभी भी अलगाव नहीं हो पाता। अपनी कमाई हुई धरती पर बूढ़ा बाप जब अपने जवान बेटों को पसीना बहाते देखता तो उसकी थके-हारे शरीर में संतोष लहरा जाता। खाली बैठता है किन्तु एक काम भी उसकी मर्जी के बिना नहीं होता। किस खेत में कौन-सा बीज डालना है, कितनी खाद डालनी है, सब वही तय करता है। भैंस बिदक गई है, सब उसकी राय ले रहे हैं। बहू को पीहर भेजना है या नहीं, इसका फैसला भी उसे ही करना है। आज यह सब कहाँ हो सकता है? अगले दिन कक्षा में क्या पढ़ाना है इसकी सलाह क्या वह बाबूजी से ले? वह तो विलायत तक हो आया है। योरोप के अनेक देशों में घूम आया है। वहाँ अब यह समस्यायें रह नहीं गयी हैं। वैयक्तिकता इतनी बढ़ गयी है कि परस्पर अपेक्षाओं के लिए स्थान नहीं बचा है। सब अपने-अपने लिये जिम्मेदार हैं, भले ही पिता-पुत्र हों, भाई-भाई या पति-पत्नी।

"मैं कहती हूँ, अब बस करो ना। एक पव्वा थोड़ी होवे है?" माँ के स्वर में झुंझलाहट भरी है।

"तुझे मतलब इस बात से! आई बड़ी पव्वे वाली! ला, किधर रक्खी है बोतल।" बाबू के स्वर में अधिकार था।

अंधेरे कमरे में लिहाफ ओढ़कर राजीव चुपचाप पलग की पीठ के सहारे बैठा है। बीच के दरवाजे से लैम्प की रोशनी तिरछी होकर उसके पलंग के नीचे एक त्रिकोण-सा बना रही है। जहाँ वह है उसके आसपास अंधेरा है किन्तु दरवाजे के उस पार का सभी कुछ वह स्पष्ट देख सकता है। चारपाई की पाटी के पास पैरों को समेट कर और पीठ को झुकाकर बाबूजी बैठे हैं। नया स्वेटर पहना हुआ है। पैरों पर कम्बल है और सिरपर मफलर बाँध रखा है। सामने छोटे-से स्टूलपर गोल चिमनी वाला लैम्प रखा है जिसकी पूरी रोशनी उनके

शरीर पर पड़ रही है। पीछे वाली दीवार पर एक बहुत बड़ा प्रतिबिम्ब बन गया है—इतना बड़ा कि उसने लगभग समूची दीवार को घेर लिया है। बाबूजी जरा भी हिलते हैं तो पीछे की दीवार पर विशाल छाया डोल जाती है। जहाँ वह बैठा है वहाँ से वह माँ को देख नहीं सकता किन्तु उसे मालूम है कि बाबूजी के ठीक सामने बरामदे में अधूरा चौका लेकर जलती हुई अंगीठी के पास वह बैठी हैं।

रात आज बहुत भारी होकर उतरी है। धरती से लेकर आकाश तक गहरी धुँध भर गयी है। समस्त वायुमण्डल बोझिल हो उठा है। राजीव को मालूम है कि खिड़की—दरवाजे के बाहर कोहरा खड़ा है, अन्दर घुस आने को आतुर। ठंड ऐसी है कि लिहाफ से निकला नहीं जाता। पिछली रात की अधूरी नींद उसकी पलकों पर आ बैठी है। खाना वह खा चुका है और शीघ्र ही सो जाना चाहता है।

"सुना नहीं तूने? कहाँ है वह बोतल?" बाबूजी का स्वर फिर गूंजा। एक पव्वा वह आधे घन्टे में पी चुके हैं और उनका स्वर गरम हो उठा है।

"अब मान जाओ न! रोटी खाकर सो जाओ। आँच कटी जा रही है, कब तक इसे लिए बैठी रहूँ।"

"कटने दे आँच को। बनाकर रख दे रोटी।"

"मैं तो रख दूँ बनाकर पर खाओगे तो उठा-उठाकर पटकोगे ठंडी रोटियों को।"

"खामख्वाह हुज्जत करती है।" बाबूजी पैर नीचे उतार कर उठ खड़े हुए।"

"अच्छा, अच्छा बैठे रहो। तुम मानोगे थोड़े ही।,'

और माँ कमरे के अन्दर आ गयीं। राजीव के पलंग के पास रखे हुए बक्सों की ओट में हाथ डालकर उन्होंने बोतल उठा ली। उसे बैठा देखा तो बोली, "तू तो सो जा बेटा। इनका क्या है, यह तो रोज ही यूं करें हैं।"

और उस कमरे में जाकर कहा, "जल्दी से खा पीकर सो तो न जाये। दुनिया भरका शोर मचा रखा है। कोई सोये भी तो कैसे?"

"मैं मना कर रहा हूँ उसे। सो क्यों नहीं जाता?" और हाथ बढ़ाकर

उन्होंने माँ से बोतल छीन ली। डाट खोलकर पव्वे में भरने लगे।

"अरे, बस करो ना···और कितनी पिओगे ?···देख ले राजी, इन्होंने तो फिर भर लिया पव्वा।"

"उससे क्या कहती है ? डरता हूँ क्या उससे ? यह दिल्ली नहीं है। अपनी कमाई की पीता हूँ। ले, लेजा यह बोतल।' और बोतल उसने माँ को थमा दी।

राजीव न जाने कैसी आँखों से देख रहा है ! जैसे यह जो कुछ हो रहा है उसका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस विशाल धरती पर जहाँ प्रत्येक क्षण बहुत-सी चीजें होती रहती हैं, जिनसे वह बिल्कुल भी सरोकार नहीं रख पाता वैसे ही मानो यह भी हो रहा है।

मुँह ऊपर उठाकर बाबूजी ने शीशी में से २-३ घूंट शराब गले में डाली और हलक भींचकर नीचे उतार ली। चेहरे की सारी नसें खिच गयीं, आँखें बन्द हो गयीं, किन्तु बस क्षण भर को। आँखें खुलीं तो उनकी चमक बढ़ गई थी। शीशी में डाट लगाकर उन्होंने सामने स्टूल पर रख दी।

"चार रुपल्ली का दुशाला क्या ले आया है, महारानी बनकर बैठी है ! तेरी भी कोई आबरू है ? टुकड़े-खोर है, टुकड़े खोर।"

माँ को जैसे आग लग गई। तुनककर बोलीं, "हाँ, मैं तो टुकड़े खोर हूँ, तुम क्यों स्वेटर अड़ाकर बैठो हो ?"

"मैं ना हूँ मोहताज स्वेटर का। तू समझती है मैं रख लूंगा इसे अपने पास। लानत भेजता हूँ इस पर। आये हैं लाट साहब दिल्ली से। ऐसी-ऐसी स्वेटर पर तो मैं पेशाब भी नहीं करता। तू समझती क्या है मुझको ?"

"अच्छा, अच्छा चुप भी रहो। क्या सोचेगा राजी मन में।'

"सोचने दे सोचता है तो। तू करे कर फिक्र इनकी। मुझे नहीं है कुछ दरखास। आयी है हिमायतन बनकर। वह दिन भूल गयी जब चुटिया पकड़ कर घर से बाहर कर दिया था तेरे बेटों ने। दोग़ली कहीं की···"

"करा था, जिसने करा था ! इस बेचारे का क्या कुसूर था···।"

"यह कम ना है। सबके सब मिले हुए हैं। तू इसे साधू समझती होगी। मैं कहता हूँ सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं !"

"अच्छा तो रहने भी दो। सोने दो उसे तो।"

राजीव स्थिर दृष्टि से देख रहा है। एक-एक शब्द अनायास उसके कानों में पड़ रहा है। कुछ भी वह सोच नहीं पा रहा है। नींद आ रही थी ? नहीं, नींद तो अब नहीं आ रही है। लैम्प के प्रकाश ने जिसकी आकृति को सुनहरी रेखाओं से बाँध रखा है, ऐसे सामने बैठे व्यक्ति को वह देख रहा है। नाक के उभरे हुए हिस्से पर रोशनी खूब चमक रही है। किन्तु उसकी परछाईं ने चेहरे के एक तिहाई हिस्से को बिल्कुल ही ढक लिया है। एक आँख तो बिल्कुल दिखायी नहीं दे रही है। पीठ के पीछे दीवार पर विशालकाय प्रतिबिम्ब है, मानो झुककर दबोच लेने के लिए तत्पर कोई दैत्य हो। बहुत पहले पढ़े किसी विदेशी उपन्यास की याद राजीव को आ रही है जिसमें ऐसे ही किसी दृश्य को चित्रित ~~किया~~ गया था।

दो-चार घूंट शराब फिर गले में डालकर बाबू जी ने शीशी स्टूल पर रख दी।

"बेग़ैरत कहीं के ! समझते हैं साले कि बड़े आदमी हो गये हैं। जिसने माँ बाप की इज्जत नहीं की, वह क्या आदमी हुआ ? जोरू के गुलाम। यह नहीं सोचा कि घर में बेचारे माँ-बाप भी रहते हैं। आये और लुगाई से बात करने लगे। एक भीष्म थे जिन्होंने अपने बाप की खुशी के लिये सारी उमर शादी नहीं की। यह औलाद है हमारी।"

किसी भी तरह यह रुकना ही चाहिये। जाने क्यों राजीव के मन में धीरे-धीरे वितृष्णा उभरने लगी थी ! जो अलगाव बनाये वह बैठा था वह स्थिर नहीं रह पा रहा था। किन्तु बाबूजी बिना किसी प्रतिवाद के बोले जा रहे थे। आवाज़ निरन्तर तेज होती जा रही थी।

"तुम समझते होगे कि तुम अपने आप धरती पर टपके हो। इस ख्याल में मत रहना। हमने पैदा किया है तुमको, हमने। जनक हैं हम तुम्हारे। परमेश्वर से भी बड़े। बालिश्त भरकी हैसियत थी तुम्हारी जब तुम जमीन पर आये थे। उस वक्त करते बढ़-बढ़ कर बातें। हमने तुमको पाला। खून पिला-पिला कर बड़ा किया। पेट काट-काटकर पढ़ाया, तब जाकर इस काबिल हुए हो।

और आज हमीं को बेइज्जत करते हो। इसीलिए तुम्हें लायक बनाया था ?" आवाज इतनी तेज हो गई थी कि आस-पास के क्वार्टरों में सभी को सुनाई दे रही होगी।

"मैं कहती हूँ, अब बस करोगे भी या नहीं यह रामायण···।"

"तू चुप रह, हरामजादी। रामायण की बच्ची। तेरी ही बदौलत सब कुछ हुआ है। दिल्ली चलेंगे, दिल्ली चलेंगे, लगा रखी थी। देख लिया दिल्ली का ढंग।"

"अच्छा बाबा, मेरी ही बदौलत सही। अब चुप तो हो जाओ। बेचारा इतनी दूर से आया है···।"

"क्यों आया है यह यहाँ ? कौन सी कसर रह गयी थी···।"

राजीव से जैसे और नहीं सहा गया। एकाएक तेज स्वर में बोला—"ज्यादा बक-बक करने की जरूरत नहीं है, मैं कल ही चला जाऊँगा।"

"चला जा, अभी निकल जा ! हरामजादा धमकी देता है। किस बूते पर चिल्लाता है बे तू ? यह दिल्ली नहीं है ! मेरा घर है। मेरी बादशाहत है यहाँ। तेरे दरवाजे पर आयें तो धमकी देना। चला जाऊँगा ! तुझे बुलाया था किसी ने यहाँ ? चला जा अभी। यहाँ जरूरत नहीं है किसी की। निकल जा अभी। समझता होगा धमकी में आ जाऊंगा। किसी की धौंस में नहीं रहता हूँ। अभी तो कमा रहा हूँ। अपनी कमाई की पीता हूँ—।"

जोश में जैसे-जैसे हाथ हिल रहा था, दीवार की पूरी छाया कांप-कांप जाती थी। राजीव के मन में घोर घृणा उपज आयी थी। काबू करना चाहता था पर दिल की तेज धड़कन बन्द हो रही थी।

नहीं, इस व्यक्ति के साथ बिलकुल भी सहानूभूति नहीं रखी जा सकती।

हरगिज-हरगिज यह शख्स इसका पिता नहीं हो सकता।

माँ उसके पास आ बैठी थी और उसे शान्त करने की कोशिश कर रही थी। राजीव को और भी बुरा लग रहा था। विचित्र-सी झुंझलाहट मन में उभरती। यह तय नहीं कर पा रहा था कि क्या सोचे, क्या फिर कोई गलती उससे हो गयी थी। वह चाहता था कि अपने पिता को श्रद्धा दे, उनके

मन को अपने प्यार का सन्तोष दे, किन्तु क्यों नहीं वह हो पाता है ? क्यों प्यार और श्रद्धा के बदले घृणा और विरोध की भावना उभरती है ? किस को दोष दे वह ?

रात को बहुत देर तक यह सिलसिला चलता रहा।

सुबह के नौ बजने वाले हैं किन्तु कोहरे की धुँध हटी नहीं है। पूरब में सूरज उगा है या नहीं, इसका सही अनुमान भी नहीं हो सकता। हवा बिल्कुल बंद है। पेड़ की शाखाओं पर ओस की इतनी बूंदे जमा हो गयी हैं कि स्वतः ही लगातार टपक रही हैं।

स्टेशन के प्लेटफार्म पर गाड़ी की प्रतीक्षा में कुछ लोग बैठे हैं। कोट-पेन्ट पहन कर राजीव जब दफ्तर में घुसा तो बाबू जी अकेले बैठे लैम्प की रोशनी में कुछ लिख रहे थे। रात को जो कुछ हुआ था उसका चिह्न मात्र भी उनके चेहरे पर दिखायी नहीं दे रहा था। निगाह उठाकर उसे देखा तो जैसे एकाएक चौंक गये हों।

"मैं इस गाड़ी से वापस जा रहा हूँ।"

"ऐं, क्यों ?"

राजीव एक पल को ठिठका। फिर बोला, 'जाना तो है ही। थोड़ी-सी छुट्टियाँ हैं। लखनऊ और इलाहाबाद भी जाना है।"

बाबूजी जैसे सचमुच ही सकपका गये थे। "दो चार दिन तो ठहरता। कल तो आया ही था।"

"मिलना था सो तो हो गया···।" सफाई में कहने को जैसे कुछ और उसे मिल नहीं रहा था। "सामान सब बाँध लिया है।"

कुछ और कहने सुनने की जरूरत नहीं रही थी। बाबूजी एकाएक चुप हो गये और सिर झुका कर रजिस्टर देखने लगे।

एक-दो क्षण यूँही बीत गये।

राजीव ने जेब से नोट निकाल कर देते हुए कहा, "लखनऊ का एक टिकट मुझे भी दे दो।"

बाबू जी ने तुरन्त सिर उठा कर उसकी ओर देखा। पलभर को दृष्टि

मिली तो राजीव को लगा मानो उनकी आँखों में कातरता तैर रही हो। जैसे कुछ याचना कर रहे हों। उससे उन आँखों में देखा नहीं गया।

"रात की बात का बुरा मान गया बेटा ?"

"नहीं, नहीं, जाना तो था ही···।" यह और भी कितना बोझ बाबू जी के सीने पर अप्रयास ही रखा जा रहा है !

"मेरी तो आदत है बेटा ! पीकर उल्टा सीधा बक देता हूँ, उसका ख्याल नहीं करना चाहिए।"

लेकिन वही तो आपका सही चित्र है। असल स्वरूप। दिन में तो एक झूठा आवरण ढक लेता है। जो कुछ आप सोचते हैं और कहना चाहते हैं वह तो रात को ही चरितार्थ हो पाता है—राजीव मन में सोच रहा था। लेकिन वह यह सब कह नहीं सकेगा। वह जो सुसंस्कृत हैं, और जिसकी नकल का पर्दा मुश्किल से ही कभी उलट पाता है।

"आप बेफिक्र रहिये, मैंने कुछ भी ख्याल नहीं किया है।"

गाडी आ गयी थी। सामान अन्दर रखा जा चुका था। डिब्बे में चढ़ने से पहले उसने पैरों में झुक कर बाबू जी को प्रणाम किया तो उन्होंने भींच कर उसे सीने से लगा लिया। अवरुद्ध बाँध जैसे खुल कर बह निकला।

"मेरी बात का बुरा मत मानियो बेटा। मैं बहुत अभागा हूँ। तुम लोगों को कुछ भी सुख नहीं दे सकता।"··· और आगे के शब्द जैसे फँस गये हों।

बिल्कुल यही कुछ तो राजीव कहना चाहता था किन्तु वह कुछ भी कह नहीं सका। गाड़ी चली और वह जल्दी से ऊपर चढ़ गया।

धीरे-धीरे बढ़ती हुई गाड़ी के पीछे बाबू जी छूटते जा रहे थे। स्थिर खड़े सिर से घुटनों तक कम्बल में लिपटा शरीर। नीचे तक लटकता हुआ तहमद। पैर में ऊनी मोजे और बिना अंगूठे वाली चप्पलें।

आगे बढ़ कर गाड़ी क्वार्टर के सामने आयी तो राजीव ने द्वार पर माँ को खड़े हुए देखा। धोती के आँचल को मुँह में भींचे हुए। उस ने दोनों हाथ उठा कर प्रणाम किया तो लगा जैसे माँ का सारा शरीर हिल गया हो।

गाड़ी की रफ्तार बढ़ती गयी और दोनों आकृतियाँ पीछे छूटती गयीं।

थोड़ी ही देर में सब कुछ छिप गया। एकाएक राजीव को लगा जैसे इस प्रकार वापस आकर उसने फिर कोई भारी भूल कर दी है।

●●

चिम्मो

●

सुदर्शन चोपड़ा

सुदर्शन चोपड़ा ने जिंदगी के अनेक रंग देखे हैं। यही वजह है कि उनकी रचनाओं में आपको विविधता मिलेगी। इनका जन्म १९२४ को पंजाब में हुआ। एम० ए० हिन्दी में करने के बाद सरकारी मुलाजमत में चले गये। वहीं काम करते हुए 'हिंदी उपन्यास में नैतिक चेतना का विकास" विषय पर शोध ग्रंथ लिखा जो शीघ्र ही आने वाला है। इनका पहला कहानी संग्रह "हल्दी के दाग" के नाम से छपा है—कहानी पर चोपड़ा की पकड़ बड़ी गहरी है। "चिम्मो" में उसने दिल्ली में निचली सतह पर बसने वाली इन्सानियत का ही एक रूप पेश नहीं किया, बल्कि यहाँ की 'करखनदारी जबान' का रसास्वादन भी कराया है।

शकल-सूरत से वह कहानीकार नहीं बल्कि रिवायती आशिक नजर आता है। हर वक्त खोया-खोया, गुमसुम ! एक बार किसी ने उसके पिता जी का नाम पूछा तो चोपड़ा ने कुछ चौंक कर कहा—"यार, मैं तो नाम ही भूल गया, ठहरो, अभी सोच कर बताता हूँ।" डर है कि किसी दिन वह अपना नाम न भूल जायें। यदि कभी ऐसा हुआ तो वह अपनी कहानी पर कार्लमार्क्स का नाम अंकित कर देगा।

"हैंगे कैसे नईं "हराम की तुखुम ? इबी कल तो पांच का पत्ता था नईं तेरे पास ? कहे है हैंगे नईं ! ला, लिकाड़ फटा फट्ट, नसा टूट्टा जारिया ए !" और फिर बिरजू ने अपनी मुट्ठी में कसी बीड़ी का कश खींचकर चिम्मो के मुँह-पर कसैला धुआँ छोड़ दिया। चिम्मो बोली, "पर इबजा मेरे कन्नी एक्को रुपैया नईं। सब खरच हो गये।"

"कहां खरच हो गये ?"

"थारे घर में ई। और नईं तो क्या मैं पीहर दे आई हूँ ?" चिम्मो ने तुनककर कहा।

यह सुनकर बिरजू की आँखें तमतमा आयीं। उसने चुटकी मार कर बीड़ी का गुल झाड़ते हुए कहा, "कमबखत, अपने ई मरद के संग बेइमान्ना करे है ? छिनाल !" इतना कहते ही बिरजू ने बीड़ी फेंक दी और एक जोरदार घूँसा चिम्मो की कमर में दे मारा। चिम्मो दीवार के साथ जा टकरायी। बिरजू तड़ातड़ लात-घूंसे चलाने लगा। चिम्मो दुहाई देती रही, "हाय रे-ए-ए, मार गेरा पाप्पी ने···बचाइयो रे-ए-ए !"

मगर पास-पड़ोस की कोठरियों और आँगन में सब कुछ पूर्ववत् रहा। न कोई आया, न किसी ने अपने काम में कोई विघ्न महसूस किया। चिम्मो ने अपनी अंगीठी पर जो दाल चढ़ा रखी थी, वह उफन-उफ़न कर अंगीठी में गिरने लगी। अजीब सड़न भरी बू फैलती जा रही थी।

पास वाली कोठरी में बैठे लाजपत ने उठकर अपने खुले किवाड़ उढ़का दिये, वह सड़ी हुई बू उससे सही नहीं जा रही थी, उसे लगा जैसे उसके भीतर कहीं कुछ ठीक उसी दाल की तरह उबल उठा था और अब वह उफान उसके दिमाग का ढक्कन उछालकर अंगीठी में जा गिरा है। किवाड़ तो उसने उढ़का दिये थे, मगर दरवाजे की दरीचों की राह रिस-रिस कर बू बराबर आती रही।

लाजपत की आँखों के सामने बिरजू का मोटा, बेडौल चेहरा घूम गया। बेरहमी से अपनी पत्नी को पीटते हुए बिरजू का ध्यान आते ही लाजपत को ख्याल आया कि बकरे झटकने वाले कसाई भी ठीक इतने ही हट्टे-कट्टे, बेडौल और बे-एहसास होते होंगे।

लाजपत के ठीक सामने की कोठरी वाली बुँद्दू की माँ अपनी कोठरी के बाहर अंगीठी सिलगाती हुई अपनी बहू को पुकार रही थी। दो-चार बार नाम पुकारने के बाद बड़बड़ाने लगी, "जाने कुतिया कहाँ-कहाँ फिरे जावे है सारे बखत !" और फिर अपने छोटे बेटे को, जो आँगन के नल के पास अहाते के अन्य बच्चों के साथ कंचे खेलने में तल्लीन था, डाँट कर कहने लगी, "ओ रे, मुए बिसना ! हराम खोर, जिब्ब देखो खेल्लै ई खेल्ले। चल उठ, जरी भगोन्ने में पानी भर ला। दाल चढ़ा दूँ। बुँद्दू की माँ अपनी पड़ोसिन हरदोई से मुखातिब हो गयी। स्वर में एकैक ढीलापन आ गया। पूछने लगी, "रोट्टी पो ली बोब्बो ?"

"नई री, इबी कहाँ ! राम्मी का बाप्पू आज सिकार लाया था, कमबखत गल के ई नई दे रिया। जाने बुड्ढे-ठौड्ढे का ठा लाया के···"

"अरी ओ मौसी, जरी सोरबा हम बी चखेंगे।" आँगन में हुक्का पीते हुए फगवा ने अपनी निकोटिन से पीलाई मूँछों पर अँगूठे का पिछला भाग फिराते हुए कहा, और फिर तुरन्त ही पास वाली खाट पर अधलेटे जम्मन को सम्बोधित कर कहने लगा, "अबे, तू आज दारू का कोई जुगाड़ भिड़ा साले। इंगे तो कैंड़ी कड़की आ रई ए।"

जम्मन बोला, "अरे चाच्चा, दारू को तो मैंई तरस रिया ऊँ। नामा ई नई आत्ता कईं से सुसरा।"

इतने में दायें कोने वाली कोठरी का दरवाजा खुलने की आवाज हुई, फगवा ने जम्मन को ठहोका लगाकर कहा, "देख, साले !"

जम्मन ने देखा और छाती पर हाथ रखकर लटकते स्वर में आवाज कसी, "अये-हये !"

उनका इशारा नेतू और उसकी बहू की ओर था, जो कहीं से घूमकर लौटे थे। उनकी नयी-नयी शादी हुई थी। नेतू की बहू का साँवला चमकदार चेहरा

गहरे लाल रंग की सिल्क की साड़ी में और भी चमक फेंक रहा था, होंठों पर बेतहाशा पुती हुई लिपस्टिक और आँखों में भरपूर काजल। गालों पर थोपा पाउडर हल्के पसीने में बह जाने से गरदन की शिकनों में जमा हो गया था। नेतू की बहू तो जम्मन की फबती सुनकर पहले से भी अधिक ऐंठती-इतराती हुई अपनी कोठरी में चली गयी, मगर नेतू लड़खड़ाता हुआ जम्मन की ओर बढ़ा और पास आकर खाट पर बैठता हुआ बोला, "क्यूँ, ऐड़ी, जवान्नी कुछ जियादा ई जोर मार रई दिक्खे ?"

जम्मन ने नेतू की पीठ पर हाथ रख कर कहा, "अरे नेतू, तू तो बड़ा बखत वाला है रे ! जालिम, टोंटा तो एक लम्बर लाया है !"

"अवे, तो रकम बी तकड़ी चुकाई है साले। तेरी तरह फोकट में आहें भरने वाले होते तो इब लौं तरसते ई रैत्ते।" नेतू की आवाज के साथ ठर्रे की बू का एक तेज भभका हवा में तैर गया।

लाजपत की कोठरी का किवाड़ इस बीच हवा से अपने आप थोड़ा खुल गया था। उसने उठकर उसे फिर से उढ़का लिया। अपनी कोठरी में लेटे-लेटे ही लाजपत को बिरजू की कर्कश आवाज फिर सुनायी दी, "जियादा फैल किया तो ठौड़ मार दूँगा, सूअर की बच्ची !"

और फिर थोड़ी देर के बाद बिरजू लपकता हुआ लाजपत के दरवाजे के सामने से गुजरा और एक मनहूस ख्वाब की तरह ओझल हो गया। आँगन में बैठे-बैठे नेतू ने जाते हुए बिरजू को आवाज दी, बिरजू रुका नहीं। फगवा ने नेतू की ओर हुक्केकी नड़ी घुमाते हुए कहा, 'अरे,मरन दे सुसरे कू। ले, तू हुक्का पी।'

मगर नेतू ने मना करके जेब में से कैंची का पैकट निकाला और फगवा की ओर बढ़ाते हुए कहा, "रैन दे चाच्चा, आज सिरगट पी।"

फगवा पैकट में से सिगरेट निकालता हुआ बोला, "वाह बेट्टे, यो ठाठ !" फिर तुरन्त ही उसे लाजपत का ध्यान आ गया। उसकी कोठरी की ओर इशारा करके कहने लगा, "अरे यार नेतू, असाम्मी तो यो बी चोक्खी दिक्खे। कैंची के सिरगट फूँक्के है।"

"कौन ?"

"अरे योई, रेलवाई का लाजपत बाबू। बिरजू हर के बगड़वाली कोठरी में है नई ?"

"हाँ, लगे तो आसिक मिजाज-सा ई। रेलवाई वालों को तो आमदनी बी घनी होवे है।"

" पर यो समझ में नई आत्ता, अब इस सुसरे कू कहीं ढंग की जगा नहीं मिली, हियाँ अपनी ऐसी-तैसी कराने क्यूँ आ मरा ?"

"तम बी बस बौड़म हो।"

"क्यूँ बई ?"

"अरे, दिल्ली में ढंग की जगा में नाँवाँ बी तो ढंग का ई खुले है कि नई ? और फेर इसे करना-धरना बी क्या ! रात को आके पड़ ई तो रहना ? न लुगाई, न पूत, छड़म-छड़क्क। दस रुपल्ली की कोठरी क्या बुरी ?"

नेतू को इस बीच अपने सिर में नशे की एक तेज घुमेरी-सी महसूस हुई। उठता हुआ बोला, "अरे, मार झाड़ू सुसरे कू। अपना तो मामला इस बखत फिट हो रिया ए। इब तो सोवेंगे चलके।" और वह लरजते कदमों अपनी कोठरी की ओर चला गया।

इस बीच अहाते के दो-एक और भी मर्द आकर थोड़ी-थोड़ी देर को बैठ गये थे। हुक्के में अब दम नहीं रहा था। नल के पास खेलते बच्चे भी अपना खेल बंद कर चुके थे। चिम्मो अभी तक अपनी कोठरी में पड़ी सुबक रही थी।

गरमी की रातें तो उस अहाते की कोठरियों में जहन्नुम से कम न होतीं। दिन को तपतीं और रात को भभकारें छोड़तीं। दिन ढलते ही लोग कीड़ों की तरह बाहर रेंगना शुरू कर देते और आँगन में जहाँ-तहाँ पसर जाते। मगर अब अक्तूबर का मध्य था। दिन में तो कुछ गरमी रहती थी, पर रात को ठण्ड हो जाती इसलिए खाटें कोठरियों में सरक गयी थीं।

मुहल्ला बानकपुरा का यह घेर 'चमारों का अहाता' के नाम से जाना जाता है। आयताकार घेर में बीस-पचीस छोटी-बड़ी कोठरियाँ; पश्चिम की ओर मेन रोड को जाने का एक सुरंगभुमा मेहराबदार रास्ता; बीच म एक साँझा आँगन

श्रौर श्राँगन में कमेटी का एक बड़ा नल—यही इस श्रहाते का संक्षिप्त हुलिया था। यहाँ के श्रधिकतर निवासी चमार ही थे। दो-तीन घर धींवरों के भी थे, एक कोठरी में बैंक का एक राजपूत चपरासी रहता था। श्रौर बिरजू के साथ वाली में कुछ दिनों से रेलवे का एक बाबू लाजपतराय श्रा टिका था।

श्राने के तीसरे दिन लाजपत को मलेरिया ने धर-दबोचा। तीन-चार दिन तक वह खाट से उठ नहीं सका था, श्राज उसे महसूस हो रहा था कि चिम्मो श्रगर उसकी तीमारदारी न करती तो वह दम तोड़ गया होता। वह उसे कमेटी के श्रस्पताल से दवा ला-लाकर देती, तीन-तीन घंटे बाद श्राकर एक-एक खुराक पिला जाती, दिन में चार-पाँच बार चाय बनाकर देती, लाजपत को जिस दिन थोड़ा-सा होश श्राया, उसने चिम्मो के कंधे पर श्रपना श्रशक्त हाथ रखकर बड़ी पिघलती निगाहों से उसकी श्रोर देखा श्रौर फिर भावना-पगे स्वर में पूछा था, "चिम्मो तुम मेरे लिए इतनी तकलीफ क्यों उठाती हो ?" चिम्मो ने तब सहज भाव से कहा था, "श्ररे बाबू, इसमें तकलीफ काहे की ?" श्रौर उस समय लाजपत को लगा था कि इन शब्दों ने उसका सारा रोग चूस लिया है।

फिर जिस दिन बुखार उतरा उस दिन चिम्मो लाजपत के लिए मूंग की दाल की खिचड़ी पकाकर ले श्रायी थी। जिस समय वह लाजपत की कोठरी में दाखिल हुई, उस वक्त वह श्रधलेटी हालत में बैठा हुश्रा कुछ लिख रहा था। चिम्मो ने खिचड़ी का कटोरा खाट की पाटी पर टिकाते हुए पूछा, "बहू को खत लिख रहे दिक्खो !"

लाजपत ने गरदन उठाकर उस समय चिम्मो को कुछ ऐसी घुलती निगाहों से देखा, गोया श्रपने को उसकी श्राँखों में उड़ेल देना चाह रहा हो। कुछ देर रुक कर शब्द चबाता-सा कहने लगा, "नहीं चिम्मो, बहू-वहू श्रभी कहाँ ! माँ को इत्तला दे रहा हूँ कि श्रब ठीक हूँ", श्रौर फिर चिम्मो की श्रोर गड़ी दृष्टि में कृतज्ञता भर कर बोला, "श्रौर चिम्मो ने मुझे बचा लिया।"

चिम्मो तब मुस्करा दी थी। खुले-खिले स्वर में पूछा था, "घर कहाँ थारे ?"

"मुजफ्फरनगर।"

"अच्छा, तब तो फेर अपनी ओर केई हो! मैं तो समझी पिंजाबी हो।"

लाजपत तब लहमे भर के लिए सोच गया: "क्यों न अपनी ओर का ही बना रहूँ?" मगर फिर अनचाहे ही उसके होठों से सरक गया, "हाँ, था तो पंजाबी ही, पर अब यू. पी. में ही आ बसे हैं।" इतना कहते ही लाजपत चिम्मो के चेहरे पर से 'अपनी ओर' वाले एहसास को धुँधलाता हुआ देखने की आशंका से सिहर उठा था। मगर चिम्मो के मुँह पर बेगानगी की कोई झलक नहीं दिखी। वह उसी अपनापे-पगी आवाज में बोली, "अरे बाबू, पिंजाबनें तो बड़ी खूबसूरत होवे हैं। कर क्यूँ नई लेत्ते कोई उठती-सी? बगड़वाले महल्ले में ढेर सारी हैं। ससुरी इंगे-तिंगे झख मारो फिरे हैं। किसी कू हियाँ ठौर से बिठा लो, थारा घर बी बसेगा।"

लाजपत ने चिम्मो की बात के कुछ गहरे अर्थ निकालने की कोशिश की थी। अपने प्रति इस विषयक सहानुभूति प्रदर्शन में लाजपत को एक खास किस्म की गंध आती हुई लगी। मन हुआ कि कह दे: 'बहू ही लाके क्या करूँगा चिम्मो, तुम ही...।' मगर वह पूरी तरह सोचने से भी पहले अपने को सम्भाल गया। सिर्फ इतना ही कह पाया, "नहीं चिम्मो, अभी मुझे जरूरत नहीं है।"

और फिर उस दिन कुछ देर बैठकर चिम्मो चली गयी थी। लाजपत उस जाती हुई को पकड़ती-निगाहों से देखता रहा। जब वह आँखों से ओझल हो गयी तब लाजपत को एकैक बड़े जोरों से 'जरूरत' महसूस हो आयी थी।

एक दिन चिम्मो आँगन के नल से नहाकर अपनी कोठरी की ओर आ रही थी। लाजपत अपनी कोठरी में बैठा-बैठा ही उसे चिपकती-निगाहों से देखता रहा। चिम्मो की रेखाएँ उभारते गीले शरीर पर चिपकी, पर कहीं-कहीं से-लहरों की शक्ल में उभरी महीन-सी वायल की साड़ी लाजपत के रुएँ-रुएँ में माँस की मादकता पिरो गयी।

माँस की महक के उस तेज झोंके ने लाजपत के उढ़के किवाड़ भड़ाक से खोल दिये थे। अब वह हवा की हर हिलोर के साथ चिम्मो के आने की अन-

ऊबी इंतजार में डूबा रहने लगा।

उस रात बिरजू देर से घर लौटा। नशे में धुत् वह अपनी कोठरी में दाखिल हुआ। चिम्मो को जगाया। खाना खाया। दालान में खाट डाली और पसर गया। आधी रात के बाद ठंड से नींद उचटी तो फिर कोठरी में चला गया। चिम्मो बेसुध पड़ी सो रही थी। बिरजू ने उसे झिंझोड़कर जगाया तो उसने मना करते हुए कह दिया, "मेरा जी ठीक नईं।"

बिरजू पर अभी तक नशा सवार था। मना किये जाने पर गरमा गया। चिम्मो भी कुछ तुर्श हो आयी। बात बढ़ गयी। बिरजू ने चिम्मो की कनपटी पर एक मुक्का जमा दिया। चिम्मो चिल्लाती हुई उठकर बाहर की ओर लपकी तो बिरजू ने पीछे से उसकी कमर पर एक लात मार दी। चिम्मो दालान में औंधी जा गिरी।

थोड़ी देर के बाद वह रोती-रोती उठ पड़ी और अपनी चौखट के साथ दीवार के सहारे बैठ गयी। लाजपत के खुले किवाड़ों की राह चिम्मो की सिसकियाँ भीतर तक पहुँच रही थीं।

लाजपत शाम की ड्यूटी करके ग्यारह बजे ही लौट आया था। अपनी कोठरी के किवाड़ खोले पड़ा लेटा-लेटा ही वह सारा काँड देख चुका था। अब उसे लग रहा था, गोया उसी की पीठ पर लात पड़ी हो और वह मुंह के बल आ गिरा हो। अपनी खाट पर ही औंधा-सीधा होता रहा। नींद नहीं आ रही थी।

चिम्मो के प्रति उसके भीतर कहीं कुछ पिघल-पिघल उठ-उफन पड़ रहा था। पड़े-पड़े ही यादों की कई कतरनें उसकी अंधेरी कोठरी में उसके इर्द-गिर्द आ बिखरीं। जब वह बीमार पड़ा था और चिम्मो तन-मन से उसकी तीमारदारी में तल्लीन थी; जब उसने चिम्मो की आँखों में कुछ उभकता-झाँकता महसूस किया था; जब मांस की क्षुधा से लाजपत की भावना की आंतों में तनाव आया था—वह सारे-से-सारे पल एक स्थान पर बटुर आये।

वह आवेश के अँधड़ से धकियाया-सा उठ खड़ा हुआ और अपनी चौखट पर खड़ा होकर दीवार के सहारे सिमटी बैठी चिम्मो को देखने लगा। वहीं

खड़े-खड़े उसे ख्याल आया कि वह इस अँधेरे में हाथ बढ़ाकर चिम्मो को चुपके से उठा ले और फिर दुलार-पुचकार कर पूछे : 'चिम्मो, कहीं चोट तो नहीं आयी ?' मगर लाजपत फौरन ही दरवाजे के दोनों पल्ले मूँद कर भीतर हो गया।

चिम्मो का सिसकारता-स्वर मूँदे द्वार की दरीचों की राह रिस-रिसकर लाजपत के कानों में पड़ता रहा। उसे लगा गोया चिम्मो कह रही हो : 'मैंने तो तुम्हें अपना समझा था बाबू, तुम ऐसी हालत में मेरी बात नहीं पूछते।'

अगले दिन दोपहर के करीब लाजपत अपनी कोठरी में बैठा कोई किताब पढ़ रहा था। पीछे से उढ़के किवाड़ खुलने की आहट हुई। उसने घूमकर देखा। चिम्मो मुस्कराती हुई भीतर आ रही थी, उसके हाथ में फेनियों की खीर से भरा कटोरा था। उसने लाजपत की ओर बढ़ाते हुए कहा, "तुम्हारे लिए खीर लायी हूँ बाबू, खाओगे ?"

लाजपत ने हाथ बढ़ाकर कटोरा थाम लिया। मगर कृतज्ञ, झेंपते हुए और सशंक स्वर में पूछ बैठा, "चिम्मो, तुम इतनी तकलीफ क्यों करती हो ?"

चिम्मो हैरानी की मुद्रा में कहने लगी, "अरे, बाबू, इसमें काहे की तकलीफ ! आखिर तुम अपने पड़ौसी ठहरे !"

लाजपत ने चिम्मो को ऊपर से नीचे तक बड़े गौर से देखा। चिम्मो सहज भाव से मुस्करा पड़ी। लाजपत को उस मुस्कराहट में पड़ौसी-धर्म का निबाह नहीं, कुछ और ही लगा। उसने बार-बार अपने सामने खड़ी चिम्मो के जिस्म पर निगाह फिसलानी शुरू की। लाजपत ने देखा : वह साफ-सुथरे कपड़ों में लिपटी हुई है। होठों पर लिपस्टिक की मोटी परत और मांसल गालों पर लगा पावडर बालों में से किसी सस्ते तेल की तेज खुश्बू आ रही है। मांग में सिंदूर की मोटी-लम्बी लकीर खिंची हुई है।

"रात क्या बात हुई थी, चिम्मो ?" लाजपत ने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में पूछा।

चिम्मो पहले तो समझ नहीं सकी कि वह कौन-सी बात के बारे में पूछ रहा है। मगर फिर तुरन्त ही उसे याद आ गया और वह बड़ी लापरवाही से खुल कर हँस दी, "अरे कुछ नहीं बाबू, जरि जियादा पी आया था रात. और क्या !"

लाजपत झेंप गया। और फिर अपने हाथों में पकड़ा हुआ खीर का कटोरा उसे एकदम गरम लग उठा। व्यंग्य के अन्दाज में पूछने लगा, "यह खीर आज किस खुशी में बनी है चिम्मो?" उसने कहना तो यह भी चाहा कि 'रात की मार की खुशी में?' मगर यह शब्द उस के दाँतों में ही कहीं कटकर रह गये।

"आज करवा चौथ नईं ए बाबू?"

"करवा चौथ!" लाजपत चौंक पड़ा।

"हां बाबू करवा चौथ, बरत में हूँ।"

"तो फिर यह···"

"यो 'उस' के लिए बनाई थी। सोच्चा तम्हें बी जरि चखा दूँ।" फिर कटोरे की तरफ देख कर कहने लगी, "अरे, खाओ न! तम तो इब लौं लिये बैठ्ठे हो।"

"नहीं चिम्मो, तुम खा लो, मुझे स्वाद नहीं लगती।" लाजपत ने कटोरा चिम्मो की ओर बढ़ा दिया।

"मैं तो दिन भर पानी बी नईं पी सकूँ। बस संझा कू करवा पूज-पाज के चाँद देखूँगी, तब कहीं जाके मुँह जुठा सकूँ हूँ।"

"करवा चौथ तो पति की कल्याण कामना का व्रत होता है न, चिम्मो?"

"और नईं तो क्या!"

"तो तुमने बिरजू के लिए रखा है, है न!"

"अरे, तो और किस के लिए रक्खूँ हूँ, बाबू तम बी कैसी बातें करो हो?"

चिम्मो की मुद्रा से कुछ ऐसा लगा, गोया वह लाजपत के सामान्य ज्ञान की कमी पर तरस खा रही हो।

मगर लाजपत को करवा चौथ की उस खीर के कटोरे में से सड़े-पनीर की सड़ांध आने लगी।

और फिर स्मृतियों के घूर में से उड़-उड़कर एक गंदी भभक लाजपत के मस्तिष्क की नासिकाओं में घुस आयी। उसके पिता का व्यवहार भी उसकी माँ के प्रति लगभग वैसा ही था, जैसा कि बिरजू का चिम्मो के साथ। पर माँ भी करवा चौथ का व्रत रखती थी, चिम्मो भी रखती है, मगर···

इस 'मगर' के बाद सोचना भी लाजपत को तकलीफ देने लगा। मगर सोच के सूत्र हाथ से खिसक ही गये। माँ की कुंठा ने जो गुल खिलाया था, उसकी पत्ती-पत्ती लाजपत की यादों के घूर पर बिखरी दीख पड़ी। वह यह सब सोचने में भी कुछ इस किस्म की सतर्कता बरत रहा था, जैसे डर हो कि सोचते-सोचते ही उसकी माँ का वह रहस्य बाहर फिसल पड़ेगा, जिसे वह लड़कपन से ही अपने भीतर दफनाये हुए है।

लाजपत को अपनी माँ की कुंठा का अक्स आज चिम्मो की आँखों में उतरा हुआ जान पड़ा। और उसे चिम्मो के जिस्म से एक अजीब तरह की बू आनी शुरू हो गयी।

एक बार तो उसे लगा कि उसने कहने कह दिया है,'यह कैसी बू है चिम्मो ?' और फिर लगा यह भी कि चिम्मो से उत्तर भी मिल गया है: 'कहीं बी तो नईं।'

लाजपत ने एक बड़ी ही दयार्द्र दृष्टि चिम्मो के चेहरे पर डाली और बड़े जोरों से चाह उठा कि कह ही डाले : 'तुम्हारी नारी की बू, चिम्मो'।

मगर वह कह नहीं सका। थोड़ी देर के बाद वह गीली आवाज में बोला, "चिम्मो !"

"क्या बात ए बाबू ?"

"बिरजू तुम्हें इतना मारता है चिम्मो, तुम्हें बुरा नहीं लगता ?"

इतना कहते ही लाजपत चिम्मो की आँखों में झाँकने लगा। वह उम्मीद करने लगा कि अभी इन आँखों की राह वह कुंठा रेंग आयेगी।

मगर चिम्मो ने लाजपत की बात को कुछ इस तरह सुना, गोया बहुत ही अजीब और समझ में न आने वाली गूढ़ ज्ञान की कोई ऐसी बात हो, जो उसके काम की न हो।

फिर फौरन ही बाद उसने लाजपत को एक ऐसी निगाह से देखा गोया उस की ज्ञान हीनता पर तरस खा रही हो।

कुछ पल तक इस तरह लाजपत को देखने-परखने के बाद चिम्मो ने सहसा एक जोरदार ठहाका लगा दिया और दोहरी-सी होती हुई कहने लगी, "हो-हो-हो···अरे बाबू, तम बी बिल्कुल अनाड़ी ओ !"

"क्यों ?"

लाजपत एक साकार प्रश्न चिह्न बन गया।

चिम्मो फिर बोली, "वै बी कोई मरद होवे जौन अपनी बीरबानी कू बस में नईं रख सकै ? औ' फेर नस्सो की चोट तौ सक्कर की पोट होवे हे बाबू ।"

इतना सुनते ही लाजपत की ठगी हुई दृष्टि चिम्मो के चेहरे पर टंगकर रह गयी, और फिर कोई बोल उसके मुँह से नहीं सरका।